ROYAL ARTS—

YANTRAS & CITRAS

D. N SHUKLA

समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रीय

राज-निवेश

एवं

राजसी कलायें

डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल

एम० ए० पी-एच० डी०, डी० लिट्०

साहित्याचार्य, साहित्य-रत्न, काव्य-तीर्थ, शिल्प-कला-आकल्प

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग

पंजाब-विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

प्रथम भाग

अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

समर्पण

महाकवि कालिदास, बाण-भट्ट तथा श्रीहर्ष की स्मृति में

लक्षण एवं लक्ष्य दोनों का जब तक एक समन्वयात्मक प्रतिबिम्बन न प्राप्त हो तो शास्त्रीय सिद्धान्तों (लक्षणों) का क्या मूल्यांकन ? अतएव जहां अभी तक भारतीय स्थापत्य (विशेषकर चित्र-कला) पर केवल पुरातत्वीय विवेचन हो सका, वहां साहित्य-निबन्धनीय इस विवेचन (दे० पृ० ११२-१२४) ने तो चित्र-कला को कितना भारतीय जीवन का अभिन्न अंग सिद्ध कर दिया है—यह सब इन तीन प्रमुख महाकवियों के काव्यों की देन है ।

—शुक्ल (द्विजेन्द्र नाथ)

निवेदन

हमारा समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र—प्रथम भाग—भवन-निवेश—अध्ययन, हिन्दी अनुवाद, मूल-पाठ तथा वास्तु-पदावली निकल ही चुका है। उसके परिशीलन से विद्वान् पाठक तथा प्राचीन भारतीय स्थापत्य में रुचि रखने वाले आधुनिक इन्जीनियर तथा आर्किटेक्टस एवं कला-कोविद इन सभी ने अपनी प्राचीन देन का अवश्य मूल्यांकन किया होगा। भारत का यह स्थापत्य Hindu Science of Architecture कितना वैज्ञानिक और प्रवृद्ध था—इसमें अब किसी को असमंजस में पड़ने की आवश्यकता नहीं रही है। हमारे देश के बहुत से भारत-भारती के विशेषज्ञ अभी तक इन वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथों को न वैज्ञानिक मानते रहे, न उनको समझने में सफलता मिल सकी, अतः वे यही आकूत करते आये हैं कि ये ग्रंथ पौराणिक हैं, कपोल-कल्पित हैं अथवा अतिरंजित हैं।

भवन-निवेश—यह ग्रन्थ एक प्रकार से भारतवर्ष के स्थापत्य में पुनरुत्थान कर सकता है। यह पुनरुत्थान भारत के आधुनिक स्थापत्य में स्वर्ण-युग Renaissance का प्रादुर्भाव प्रकट कर सकता है, यदि लोग इसको ठीक तरह से पढ़ें और इन्जीनियरिंग (Civil Engineering) और आर्किटेक्चर के कोर्स में इसे सम्मिलित करें। अनुसन्धान-कर्ताओं का काम अन्वेषण करना है, उसका रूप प्रकट करना है। जहां तक उसका उपयोग और उसकी उपादेयता का प्रश्न है, वह तो शासकों और संचालकों के हाथ में है। हमारे देश की जल-वायु के अनुकूल, संस्कृति तथा सभ्यता के अनुकूल, रहन-सहन-आचार-विचार-निवास-परिधान के अनुरूप जैसा भवन-निवेश हमारे पूर्वजों ने परिकल्पित किया था, वही हमारे देश के लिए अनुकूल है तथा कल्याणकारी है।

वैदेशिकानुकरण से एवं पश्चिम के अन्धानुकरण से इस दिशा में महान् अनर्थ तथा क्षति की पूर्ण सम्भावना है। इस उष्ण-प्रधान देश में सीमेंट (पत्थर) के खम्भे तथा छतें और दीवालें महान् हानिकारक हैं। इसी लिए हमारे पूर्वजों ने जहां बड़े-बड़े उत्तुंग शिखरावलियों से विभूषित, नाना विमानों से अलङ्कृत मन्दिर, प्रासाद, धाम, राज-वेश्म बनवाये वहां अपने निवास के

लिए शाल-भवन ही अनुकूल समझते रहे, जिन मे छप्परो (छावो) तथा मात्तिक भित्तियो तथा काष्ठ-विनिर्मित, खचित, सज्जित स्तम्भो का ही प्रयोग किया जाता रहा है। इसका आधार निम्नलिखित पौराणिक तथा आगमिक आदेश था—"शिलाकुड्म शिलास्तम्भं नरावासे न योजयेत्"।

राज-निवेश एवं राजसी कलायें—प्रस्तु, इस दिग्दर्शन के उपरान्त अब हम अपने इस प्रकाशन—राज-निवेश एवं राजसी-कलायें—यन्त्र एवं चित्र के साथ राज-निवेश (Palace Architecture) की ओर आते हैं। इस ग्रन्थ में चित्र-कला विशेष व्याख्यात है। राज-निवेश पर इस निवेदन मे विशेष निवेदन की आवश्यकता नही, वह अध्ययन मे पढें। जहा तक यन्त्र एवं चित्र का साहचर्य हैं, वह सब राज-संरक्षण ही आधार था।

आज तक भारतीय यान्त्रिक विज्ञान पर कहीं भी किसी ने भी खोज नही की। बात यह है कि यद्यपि यन्त्रों के, विमानो (जैसे पुष्पक-विमान आदि) के नाना सन्दर्भ प्राचीन साहित्य मे प्राप्त होते हैं, परन्तु इस विज्ञान पर समरागंग-सूत्रधार को छोड़कर कहीं पर किसी भी ग्रन्थ में आज तक यह विज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है। मैं अपने अंग्रेजी ग्रन्थ—Vastusastra Volume I—Hindu Science of Architecture मे इस यन्त्र-विज्ञान पर पहिले ही व्याख्या कर चुका हूँ। अब हिन्दी मे यह प्रथम प्रयास है और पाठक तथा विद्वान् इस ग्रन्थ के परिशीलन से अपने मत का मूल्यांकन अवश्य कर सकेंगे।

अब आइये चित्रकला की ओर। यद्यपि भारत के चित्र-कला-निदर्शन जैसे अजन्ता, बाघ सिगिरिया आदि प्रख्यात चित्र-पीठो पर जो उपलब्ध हो रहे हैं, उन पर बहुत से विद्वानों ने कलम चलाई है और ऐतिहासिक समीक्षा भी की है, परन्तु शास्त्र (Canons) और कला इन दोनो का समन्वयात्मक अथवा आधाराधेय-भावात्मक (Synthetic) समीक्षण किसी ने नही किया है। सर्वप्रथम श्रेय डा० स्टैला क्रैमरिश को है, जिन्होने चित्र-शास्त्र के प्रथित-कीर्ति पुराण-ग्रन्थ विष्णु-धर्मोत्तर का अंग्रेजी मे अनुवाद किया तथा एक भूमिका भी लिखी। उन के बाद यह मेरा परम सौभाग्य था कि मैंने अपने डी० लिट्० के अनुसन्धान के लिए Foundations and Canons of Hindu Iconography and Painting जो विषय चुना था, उसी ने मुझे यह अवसर दिया कि समस्त चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों जैसे भरत का नाट्य-शास्त्र, [illegible] शिल्प, मारस्वत-चित्र-कर्म, विष्णु-धर्मोत्तर, समरागण-सूत्रधार, अपराजित [illegible], मानसोल्लास

प्रादि सभी प्राप्त चित्र-ग्रन्थों का परिशीलन, ग्रालोडन, अनुसन्धान, गवेषण और मनन के उपरान्त हमने एक ग्रति वैज्ञानिक तथा पाद्धतिक चित्र-लक्षण बनाया और उसको पुनः व्याख्यात्मक तथा ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दोनो परिपाटियों मे एक प्रबन्ध प्रस्तुत किया।

इस प्रबन्धाश (Hindu Canons of Painting) को देखकर भारत के प्रख्यात तथा धुरन्धर विद्वानो ने जैसे महामहोपाध्याय मिराशी, डा० जितेन्द्र नाथ बैनर्जी, प्रो० सी० डी० चैटर्जी ग्रादि ने बडी ही प्रशंसा की और यहा तक लिख मारा—This is a land-mark in Contemporary Indology both in India and Furope

मेरे पी-एच०डी० अनुसन्धान (A Study of Bhoja's Samarangna Sutradhara—a treatise on the science of Art and Architecture) पर प्रख्यात कला-समीक्षक एव प्रथितकीर्ति डा० जितेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा स्व० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अभूतपूर्व प्रशंसा ही नही की वरन् लखनऊ विश्व-विद्यालय को बधाई भी दी। मेरे लिए उनका यह वाक्य(The award of Ph.D. Degree is the least credit for such a scientific and conscientious labour) बड़ा प्रेरणा-प्रदायक सिद्ध हुग्रा, जिस से मैंने इस विषय को ग्राजीवन निष्ठा के रूप मे ग्रंगीकृत कर लिया है। इन दोनो प्रबन्धों की वरेण्य प्रशंसा एवं कीर्ति के कारण संस्कृत के महान् सरक्षक एवं शुभ-चिन्तक डा० देशमुख (भूतपूर्व यू०जी०सी०, चेयरमैन) ने इनके विस्तृत अध्ययन-पुरस्सर दो बृहदाकार ग्रन्थों के रूप मे परिणत करने के लिए दस हज़ार रुपये का अनुदान दिया। उसी के कारण मेरे ये दो ग्रंग्रेजी ग्रन्थ भी प्रकाशित हो सके—

1—Vastu-Sastra Volume I—Hindu Science of Architecture with esp. reference to Bhoja's Samarangna-Sutradhara

2—Vastusatra Volume II—Hindu Canons of Iconography and Painting.

अपने अंग्रेजी ग्रन्थो मे इनका पूर्ण विस्तार एवं कला और शास्त्र दोनों दृष्टियों से इनका प्रतिपादन किया। हिन्दी के पारिभाषिक साहित्य का श्री-गणेश करने का जो मैंने बीड़ा उठाया था, अपनी कृतियों से भारतीय वास्तु-शास्त्र-सामान्य-शीर्षक के छै ग्रन्थो को तो प्रकाशित कर ही चुका हूँ। अब मै यन्त्र-विज्ञान तथा चित्र-विज्ञान को लेकर इस ग्रन्थ की रचना और प्रकाशन कर रहा हूँ। जहां तक इन दोनों विषयों की महिमा, गरिमा और

पृथिमा का सम्बन्ध है वह अध्ययन मे देखिए। अब अन्त में हमें यह भी सूचित करना है कि भारत-सरकार शिक्षा-सचिवालय मे जो अनुदान इन ग्रन्थो के प्रकाशन के लिए १६५६ मे मिला था, उसके सम्बन्ध में हम पहले ही सूचना दे चुके हैं और अध्ययन मे भी इसका कुछ संकेत है, तथापि मैं अपना परम-कर्तव्य समझता हू कि अब लगभग १० वर्ष पुराना यह अनुदान कैसे उपयोग किया जा रहा है। पहला कारण तो यह था कि अनुदान की निधि स्वल्प थी, पत्र-व्यवहार से भी कोई लाभ नही हुआ। तो हमारे सामने समस्या उठ खडी हुई कि इसको तिलाञ्जलि दे दूं कि पुरानी प्रेरणा (लखनऊ वाली जिसके द्वार उत्तर-प्रदेश सरकार से प्राप्त अनुदान से जो चार प्रकाशन किये थे) से उसी तरह से कुछ कि न करू। यद्यपि न इस मे अर्थ-लाभ, न कीर्ति, न इनाम, क्योकि जब तक कोई वैयक्तिक सिफारिश न हो तब तक इन अभूत-पूर्व अनुसन्धानो को साहित्य-ऐकेडेमी, ललित-कला-ऐकेडेमी क्यो पूछेगी। उनके अपने-अपने सलाहकार होते हैं, वे जैसी सम्मति देते हैं, वैसे ही व्यक्ति पुरस्कृत होते हैं। हमारे देश मे कोई National Screening Committee तो है नही जो इन निर्णयो की स्क्रीनिंग कर तथा अपुरस्कृत व्यक्तियो को सामने लाये। झटिति मुझे यह वाक्य स्मरण आया :—

"अंगीकृत सुकृतिनः परिपालयन्ति"

तो फिर इन वैयक्तिक लाभों को चन्द्र-हस्त देकर अपनी अंगीकृत निष्ठा को निभाने का बीड़ा उठाया। १६६७ फरवरी की बात सुनें। मैं अपने बहुत पुराने सतीथ (लखनऊ विश्वविद्यालय मे जर्मन कक्षा के) डा० परमेश्वरीदीन शुक्ल से मिला, तो मित्र न पाकर कठोर शासक के रूप मे पाया। यमवत् क्रुद्ध होकर कहने लगे—"शुक्ल जी महाराज, आपकी सारी ग्राट खत्म कर दूंगा। लगभग १० साल होने आये और अब तक आप ने उसे पूरा यूटीलाइज नही किया।" "धन्य हो यमराज! आपका चैलेंज स्वीकार है। जाता हूँ, दिन-रात जुटकर काम करूगा—देखें जैसी भगवदिच्छा"। अगर डाक्टर शुक्ल का यह रवैया न होता तो यह काम न हो पाता। आशा है इस रवैये से राष्ट्र के कार्यों मे एक नवीन स्फूर्ति हो सकेगी। डा० शुक्ल वास्तव मे एक सच्चे सलाहकार हैं।

इस स्तम्भ में मैं अपने वर्तमान उप-कुलपति श्रीमान् लाला सूरजभान को विस्मृत नही कर सकता। इन के आगमन से मुझे स्वस्थता (स्वस्मिन् तिष्ठति

सः स्वस्थः) मिली, अतः अपने अनुसन्धान आदि कार्य मे जो अनुद्विग्न होकर प्रवृत्त हो सका, यही स्वस्थता है। मेरी सबसे बडी विजय लाला जी के आगमन से सत्य का प्रकाश हुआ। ऐसे स्थिर-प्रज्ञ तथा धीर, गम्भीर एव अप्रभावित व्यक्ति ही इतने बड़े विश्वविद्यालय का सचालन कर सकते हैं। कामना है कि यदि तीन टर्म्स तक उप-कुलपति पद को शोभित करते रहें तो संस्कृत का यह दूसरा अनुसन्धान दश-ग्रन्थ-शिल्प-शास्त्र-अनुसंधान-आयोजन जिसे इस पंजाब विश्वविद्यालय ने स्वीकृत कर ही लिया, यू० जी० सी० को First Priority Proposals For Fourth Five Yea Plan मे भेजा है और यू० जी० सी० ने भी समझदारी से इसको यदि मान लिया, अनुदान स्वीकृत किया तो देश-देशान्तर, द्वीप-द्वीपान्तर मे इस अनुसन्धान से एक नया युग एवं नयी अभिरुचि का प्रादुर्भाव होगा। देखें क्या होता है। यह विधि-विधान है। मानव न रोक सकेगा न बना सकेगा।

अंत मे यह भी सूचित करना परमावश्यक है कि बड़े सौभाग्य की बात है कि पंजाबियों मे एक सस्कृतज्ञ सिक्ख श्री त्रिलोचन सिंह से साक्षात्कार हो गया जो यूनिवर्सिटी कैम्पस के समीप प्रेस चला रहे हैं। इस सरदार ने कमाल कर दिया और बड़े उत्साह और लगन से कार्य किया है। सरदार त्रिलोचनसिंह अपनी वचन-बद्धता के लिए पूर्ण प्रयास कर रहे हैं।

जहां तक कुछ अशुद्धियों का प्रश्न है वह स्वाभाविक ही है। जब ग्रन्थकार प्रूफ को पढ़ता है तो अशुद्ध को भी शुद्ध पढ़ जाता है। साथ-ही-साथ हमारे देश मे जो छापेखाने हैं उनमे बड़े ही विरले कुशल प्रूफ-रीडर मिलते हैं। अतः आशा है कि पाठक कुछ यत्र-तत्र-सर्वत्र जहा पर छापे की अशुद्धियां हैं, उनको अपने आप ठीक कर लेंगे। जहा तक पारिभाषिक शब्दो का प्रश्न है, उसकी तालिका—शुद्ध तालिका (दे० शब्दानुक्रमणी) से प्रत्यक्ष हैं।

अस्तु अन्त मे यह ही कहना है—

गच्छत: स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः॥

आषाढ़ी सम्वत् १९२४ — द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल

प्रकाशन-विवरण

उत्तर-प्रदेश-राज्य तथा केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय से प्राप्त अनुदान एवं निजी व्यय से प्रकाशित एवं प्रकाश्य—

समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रीय—भारतीय-वास्तु-शास्त्र-सामान्य-शीर्षक निम्न दश-ग्रन्थ-प्रकाशन-आयोजन :—

उत्तर-प्रदेश-राज्य की सहायता से

१. वास्तु-विद्या-एवं पुर-निवेश
२. प्रतिमा-विज्ञान
३. प्रतिमा-लक्षण
४. चित्र-लक्षण तथा हिन्दू-प्रासाद—चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि

केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय से

भवन-निवेश—(Civil Architecture)

प्रथम-भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय-भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु-पदावली

राज-निवेश एवं राजसी कलायें—यन्त्र एवं चित्र (Royal Arts Yantras and Citras)

प्रथम-भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय-भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली

प्रासाद-निवेश (Temple Art and Architecture)

प्रथम भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु-शिल्प-पदावली

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—अध्ययन

उपोद्घात—ललित-कलाओं का जन्म एवं विकास—वेद एवं उपवेद—स्थापत्य-वेद—समरांगण-सूत्रधार एक-मात्र वास्तु-ग्रंथ, जिसमे भवन-कला, नगर-कला, प्रासाद-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, यन्त्र-कला सब व्याख्यात हैं;

समरांगण-सूत्रधार का अध्ययन—एवं उसके विभिन्न भागों के अध्ययन की योजना तथा ग्रन्थ मे उसका नवीनीकरण; राज-संरक्षण मे प्रोल्लसित स्थापत्य—चतुर्धा स्थापत्य अर्थात् स्थपति-योग्यताएं एवं स्थपति-कोटि-चतुष्टय; अष्टांग-स्थापत्य; शिल्पियों की चार कोटियां—स्थपति, सूत्रग्राही, वर्धकि तथा तक्षक;चित्र-पद का अर्थ—चित्र, चित्रार्ध,चित्राभास; पुनः परिमार्जन अर्थात् भवन-निवेश-सम्बन्धी समरांगणीय प्रथम-भाग के बाद द्वितीय भाग का परिमार्जित एवं वैज्ञानिक संस्करण-पद्धति से अध्यायों की तालिका का नवीनीकरण;

अध्ययन के प्रमुख स्तम्भ—राज-निवेश एवं राज-निवेशोचित भवन, उपभवन एवं उपकरण, यन्त्र-विधान तथा चित्र-विधान;

राज-निवेश—राज-निवेशांग—कक्ष्या-निवेश—अलिन्द-निवेश,राज-भवन-तत्व; राज-निवेश-उपकरण—सभा, अश्वशाला, गज-शाला, शयनासन आदि;

राज-विलास (नाना-यन्त्र)—यन्त्र-घटना, मान-मातृका अर्थात् यन्त्र-मातृका का अर्थ (Interpretation), प्राचीन यान्त्रिक विज्ञान, यन्त्र-गुण, यन्त्र-विधा—आमोद-यन्त्र, सेवा-यन्त्र एवं रक्षा-यन्त्र, दोला-यन्त्र, विमान-यन्त्र;

राजसी कलायें—चित्र कला:—

चित्र-शास्त्रीय-ग्रन्थ; चित्र-कला का उद्देश्य, उद्भव तथा विषय—

षडंग तथा अष्टांग; चित्र-विधा—सत्य, वैणिक, नागर, मिश्र, विद्ध, अविद्ध, धूली, रस, भाव; वर्तिका; भूमि-बन्धन—कुड्य-भूमि-बन्धन, पट्ट-भूमि-बन्धन, पट-भूमि-बन्धन; चित्राधार एवं चित्रमान—अण्डक-प्रमाण, रूप-मान, मानोत्पत्ति, चित्र-प्रमाण-प्रक्रिया (Iconometry), समलम्बित मान (Vertical measurements)—मस्तक-सूत्र, केशान्त-सूत्र-आदि गुल्फान्त-सूत्र, भूमि-सूत्रान्त; लेप्य-कर्म—मातिक लेपन, स्निग्धानुलेपन; आलेख्य-कर्म — वर्ण एवं कूर्चक; कान्ति एवं विच्छित्ति (छाया, कान्ति, क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त); शुद्ध-वर्ण (मूल-रंग), मिश्र-वर्ण (अन्तरित-रंग), रंग-द्रव्य—स्वर्ण-प्रयोग—पत्र-विन्यास तथा रस-क्रिया; पञ्च-विध कूर्चक; त्रिविधा लेखनी—तूलिका, लेखनी, विलेखा; वर्तना—क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त; वर्तना-प्रभेद; त्रिविध—पत्रजा, ऐरिक तथा बिन्दुज; चित्र एवं रस—एकादश चित्र-रस, अष्टादश रस-दृष्टियां; चित्र-कला तथा काव्य-कला, नाट्य-कला, नृत्य-कला तथा भावाभिव्यक्ति—ध्वनि; चित्र-शैलियां (पत्र एवं कण्टक के आधार पर)—चित्र-पत्र—षड्-विध—नागारादि-यामुनांत; चित्र-पत्र-कण्टक—अष्ट-विध—कलि-प्रभृति भंग-चित्रकान्त; चित्र-शैलियां—देव-शैली, यक्ष-शैली, नागर-शैली, चित्रकार एवं उसकी कला, चित्र-गुण, चित्र-दोष;

चित्रकला के पुरातत्वीय एवं साहित्यिक निदर्शनों एवं संदर्भों पर एक विहंगावलोकन

पुरातत्वीय उपोद्घात—पुरातत्वीय निदर्शन—पूर्व-ईसवीय तथा उत्तर-ईसवीय; पूर्व-ईसवीय—प्राग्-ऐतिहासिक तथा ऐतिहासिक; प्राग्-ऐतिहासिक—कामूर-पर्वत श्रेणी, विन्ध्य-पर्वत-श्रेणी, अन्य पर्वत श्रेणियां—मध्य-प्रदेश, मिर्जापुर—उत्तर-प्रदेश के समीपीय कन्दरायें, ऐतिहासिक—पूर्व-ईसवीय—सिर-गुजा क्षेत्रीय—जोगी मारा कन्दरा; ईसवीयोत्तर—बौद्ध-काल, हिन्दू-काल, मुसलिम-काल, बौद्ध-काल—अजन्ता—नाना गुफाओं मे प्राप्त चित्र तथा काल-निर्धारण एवं विषय-वर्गीकरण, संरक्षण, चित्र-द्रव्य एवं चित्र-प्रक्रिया—वर्ण-विन्यास एवं तूलिका, चित्र-शास्त्र एवं चित्र-कला, सिंघल-द्वीप-सिगरिया; बाघ; हिन्दू काल—जैन-ग्रन्थ-चित्रण, जैन-चित्र, राजपूत-चित्र-कला, पंजाब (कांगरा की राजपूती कला); मुगल चित्र कला।

साहित्यिक उपोद्घात—वैदिक वाङ्मय, पालि वाङ्मय, रामायण एवं महाभारत, पुराण, शिल्प-शास्त्र, काव्य तथा नाटक—कालिदास, बाण-भट्ट, दण्डी, भवभूति, माघ, हर्ष-देव, राजशेखर, श्रीहर्ष, धनपाल, सोमेश्वर सूरि।

ग्रन्थ-चित्रण

द्वितीय खण्ड—अनुवाद

प्रथम-पटल—प्रारम्भिका

द्वितीय-पटल

राज-निवेश एवं राज-निवेशोचित-भवन-उपभवन तथा उपकरण

तृतीय-पटल—शयनासन-विधान—वर्धकि-कौशल

चतुर्थ-पटल—यन्त्र-विधान

यन्त्र-लक्षण, यन्त्र-शब्द-निर्वचन, यन्त्र-बीज, यन्त्र-प्रकार, यन्त्र-गुण, यन्त्र-विधा, यन्त्र-घटना, यान्त्रिक-विज्ञान की परम्परा-पारम्पर्य कौशल, गुरूप-देश, वास्तु-कर्म, उद्यम तथा धी; यन्त्र-विज्ञान-गुप्ति।

पंचम-पटल—चित्र-लक्षण

चित्र-प्रशंसा, चित्रोद्देश, चित्रांग, भूमि-बन्धन, लेप्य-कर्मादिक, अण्डक-प्रमाण आदि एवं चित्र-रसादि।

षष्ठ-पटल—चित्र एवं प्रतिमा के सामान्य लक्षण

चित्र एवं प्रतिमा द्रव्य, निर्माण-विधि, प्रतिमा-मानादि—अंगोपांग-प्रत्यंग, प्रतिमा-विशेष—ब्रह्मादि, लोकपालादि, पिशाचादि, यक्षादि—सामान्य लक्षण एवं

प्रथम खण्ड

अध्ययन

राज-निवेश एवं राजसी कलायें

यन्त्र एवं चित्र

उपोद्घात :—ललित कलाओं का जन्म एवं विकास एक-मात्र केवल पूर्व-मध्य-कालीन अथवा उत्तर-मध्य-कालीन नही समझना चाहिए। यद्यपि ललित कलाओं मे विशेषकर चित्र-कला, प्रस्तर-कला आदि के स्मारक-निदर्शन इसी काल मे विशेष रूप से पाए जाते हैं; परतु पुरातत्त्वीय अन्वेषणों तथा प्राचीन साहित्य से ये कलायें ईसा से बहुत पूर्व विकसित हो चुकी थी। भारतीय संस्कृति मे भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों उत्कर्षों के पक्षो पर हमारे पूर्वजो ने पूर्णरूप से अभिनिवेश प्रदान किया था। वैदिक काल मे नाट्य, संगीत, नृत्य तथा आलेख्य पूर्ण-रूप से प्रचलित थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है भरत का नाट्य-शास्त्र है। जनानुरंजन एवं जनता मे उपदेशात्मक, मनोरञ्जनात्मक, ज्ञानात्मक गाथाओं के द्वारा प्रचार करने के लिए ब्रह्मा ने नाट्य-वेद की रचना की जो पाचवे वेद के नाम से प्रकीर्तित किया गया।

वात्स्यायन का काम-सूत्र भौतिक विकास का एक महान दर्पण है, जिसमे नागरिकों के लिए चतुष्षष्टि-कला-सेवन एक प्रकार से इनके जीवन और सामाजिक सभ्यता का अभिन्न एवं अनिवार्य अंग था। 'स्टेला क्रैमरिश' ने विष्णुधर्मोत्तर के अनुवाद की भूमिका में जो लिखा है—'Every citizen had a bowl and brush'—वह वास्तव मे बड़ा ही सार्थक एवं सत्य है। इन चौसठ कलाओं में नृत्य, वाद्य, गीत, आलेख्य के साथ साथ नाना अन्य शिल्प-कलाओं का भी संकीर्तन है, जिसमे प्रतिमाला, यंत्र-मात्रिका आदि भी परिगणित हैं। इससे इन कलाओं को यदि हम भिन्न भिन्न वर्गों मे वर्गीकृत करें, तो न केवल तथाकथित ललित-कलाओं, जैसे प्रमुख छः कलाएं—काव्य, नाट्य, नृत्य, संगीत, चित्र (आलेख्य), शिल्प एवं वास्तु ही उस समय ललित कलाओं के रूप मे नहीं सेव्य थीं, वरन् व्यावसायिक एवं औपजीविक कलाओं (Commercial and Professional Arts) को भी पूर्ण संरक्षण तथा प्रोत्साहन प्राप्त था। पुष्पास्तरण, पुष्प-विकल्पन, नेपथ्य-विकल्प, दारु-कर्म, तक्षक-कर्म धातु-वाद प्रतिमाला, यान-मात्रिका आदि सभी इन्ही दो कोटियों मे आती हैं।

राजाओं के दरबार को ही सर्व-प्रमुख श्रेय है, जिसने इन सभी कलाओं की उन्नति में महान् योगदान दिया।

हम यह भी नही विस्मृत कर सकते कि हमारा देश केवल धर्म और दर्शन की ओर ही सदा जागरुक रहा। वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शास्त्रों को भी

इस देश मे पूरे रूप से प्रोत्साहन और संरक्षण प्रदान किया गया। कोई भी सस्कृति और सभ्यता आध्यात्मिक और भौतिक दोनों उन्नतियों के बिना जीवित नही रह सकती। इसी लिए धर्म की परिभाषा मे बड़े सूझ-बूझ के महर्षि कणाद ने जो निम्न प्रवचन दिया वह कितना सार्थक है :—

"यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः."

दुर्भाग्य का विलास है कि आधुनिक संस्कृत-समाज वैदिक, पौराणिक, धर्म-शास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण, दर्शन आदि शास्त्रों के अतिरिक्त अपने अत्यन्त प्रोन्नत एवं प्रवृद्ध वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शास्त्रों से अपरिचित है। वेदों का तो अब भी प्रचार है, किन्तु उपवेद भी थे कि नही —इसका बड़ा ही न्यून ज्ञान एवं प्रचार है। उपवेदो मे आयुर्वेद और अर्थवेद के अतिरिक्त अन्य शेष उपवेदों का शायद ही किसी को ज्ञान हो। हमारे ऋषि-महर्षि और पूर्वज बड़े ही परिवर्तन-शील तथा काल-दर्शक थे। परन्तु हम इतने महान् परिवर्तन-शील समय मे यदि अब भी रूढ़ि-वादी एवं काल-प्रतिक्रिया-शून्य-वादी रहे तो हम अपनी संस्कृति के प्रति कितना धोखा दे रहे हैं कि हम प्रत्येक दिशा में योरूप का अंधानुकरण कर रहे हैं और अपनी सारी थातो को विस्मृत कर चुके हैं।

जहां चार वेद थे वहा चार उपवेद भी थे। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद था; यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद था, सामवेद का उपवेद गान्धर्व-वेद था, जिसमे नृत्य, नाट्य, संगीत आदि सभी प्रौढि को प्राप्त कर चुके थे; अथर्ववेद का उपवेद-स्थापत्य वेद था; इसी उपवेद मे पारिभाषिक विज्ञान जैसे Engineering, Architecture आदि तथा यन्त्र-विज्ञान भी काफी प्रकर्ष को प्राप्त कर चुके थे। इस प्रकार एक शब्द मे यह कहा जा सकता है शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, व्याकरण, इन छै वेदागों के साथ उपर्युक्त चार उपवेदों के द्वारा प्रायः सभी विज्ञानो (Pure, Positive and Technical) का जन्म एवं विकास हुआ।

धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव-विरचित समरांगण-सूत्रधार ही एक-मात्र पूर्व-मध्यकालीन, अधिकृत उपलब्ध शिल्प-ग्रन्थ है, जिस मे स्थापत्य की प्रायः सभी प्रमुख कलाओं का प्रतिपादन है। अन्य प्राप्य वास्तु-शिल्प-ग्रन्थो मे केवल भवन-कला, नगर-कला, मूर्ति-कला के अतिरिक्त अन्य कलाओं की व्याख्या नही प्राप्त होती है। शिल्प-रत्न एक प्रकार से अर्वाचीन ग्रन्थ है, जो उत्तर-मध्यकाल के बाद लिखा गया था, उसमे भी इन तीनों कलाओं के साथ चित्र-कला का भी वर्णन है। इसी तरह अपराजित-पृच्छा मे भी इन चार प्रधान स्थापत्य-कलाओं का प्रतिपादन है।

समरांगण-सूत्रधार ही एकमात्र ग्रन्थ है जिसमें निम्न छहों कलाओं का प्रविकृत विवेचन है :—

१ भवन-कला	२ नगर-कला
३ प्रासाद-कला	४ मूर्ति-कला
५ चित्र-कला	६ यन्त्र-कला

अपराजित-पृच्छा को छोडकर अन्य ग्रन्थो में जैसे मानसार एवं मयमत आदि मे भवन-कला में भवन केवल विमान अथवा प्रासाद हैं। इस प्रकार से ये ग्रन्थ (Civil Architecture) मे सर्वथा शून्य हैं। समरांगण-सूत्रधार ही हमारे देश मे (Civil Architecture) का स्थापक ग्रन्थ है। चूंकि यह स्तम्भ पालेख्य एवं यन्त्र से सम्बद्ध है, अतः इस विषयान्तर पर पाठक हमारे भवन-निवेश को देखें।

समराङ्गण-सूत्रधार का अध्ययन :—अस्तु इस उपोद्‌घात् के उपरान्त हमे समरांगण-सूत्रधार के अध्ययन की ओर विद्वानो को आकर्षित करना है। भारत सरकार ने भारतीय-वास्तु-शास्त्र दश ग्रन्थ-प्रकाशन-आयोजन मे अवशष जिन छ: ग्रन्थों के लिए अनुदान स्वीकृत किया था उसके अनुसार अपनी पुनः परिष्कृत योजना में निम्न प्रकाशन व्यवस्था की है :—

१—भवन-निवेश	भाग प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद
	भाग द्वितीय—मूल एवं वास्तु-पदावली
२—प्रासाद-निवेश	भाग प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद
	भाग द्वितीय मूल एवं शिल्प-पदावली
३ - यन्त्र एव चित्र	भाग प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद
	भाग द्वितीय—मूल एव चित्र-पदावली।

टि० :—प्रथम प्रकाशन (भवन-निवेश) के अनुसार ग्रन्थ-कलेवरानुरूप कुछ परिवर्तन भी अपेक्षित हो सकता है।

भवन-निवेश के दोनों भाग प्रकाशित हो चुके हैं। अब इन चारो भागों के प्रकाशन की व्यवस्था की जा रही है तो उपर्युक्त व्यवस्था मे थोड़ा सा परिवर्तन अनिवार्य हो गया है। इन अवशेष चारों भागों को निम्न रूप प्रदान किया है जिसमें *महती निष्ठा के साथ तथा सतत प्रयत्न एवं अध्यवसाय* के साथ इन चारों ग्रन्थों को प्रकाश्य बना सका हूं, वे अवश्य ही विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे तथा हमारे पूर्वजों की पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक देन का मूल्याङ्कन भी हो सकेगा।

सर्व-प्रमुख सिद्धान्त यह है कि हम राज-भवन को प्रासाद-निवेश में शिल्प-शास्त्रीय दृष्टि से सम्मिलित नहीं कर सकते। इस पर प्रासाद-निवेश में जो हमने परिपुष्ट प्रमाणों से इस सिद्धान्त को दृढ़ किया है वह वहीं पठनीय है। पुनश्च चित्र और यन्त्र ये सब ललित कलाएं राज-भवन के अभिन्न अंग थे। अतएव चित्र एवं यन्त्र को हमने, राज-निवेश, राज-भवन-उपकरण, राज-भोगोचित विलास-क्रीडाओं में सम्मिलित किया है। आलेख्य अर्थात् चित्र-कला एवं यन्त्र जैसे आमोद, सेवक, द्वारपाल, योध, विमान, धारा एवं दोला आदि यन्त्रों का एकत्र व्यवस्थापन कर इस तृतीय खण्ड को द्वितीय खण्ड के रूप में प्रकल्पित कर दिया है। भारतीय स्थापत्य का सबसे प्रमुख शास्त्रीय एवं स्मारक प्रोल्लास प्रासाद-शिल्प (Temple Architecture) है। वह एक प्रकार से धर्मोन्नति तथा विलास है अतः उसको अन्तिम अर्थात् तृतीय खण्ड में व्यवस्थापित किया है। अतः जैसा ऊपर संकेत किया है कि प्रथम विभागी-करण से थोड़ा अन्तर होगा—अर्थात् तृतीय अध्ययन द्वितीय अध्ययन के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। अतएव निम्न अवशेष चारों भागों की तालिका उद्धृत की जाती है:—

१	यन्त्र एवं चित्र	भाग-प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद।
२	यन्त्र एवं चित्र	भाग-द्वितीय—मूल एवं वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली
३	प्रासाद-निवेश	प्रथम भाग अध्ययन एवं अनुवाद।
४	प्रासाद निवेश	मूल एवं शिल्प-पदावली।

राज-सरक्षण में प्रोल्लसित स्थापत्य —इस उपोद्घात के अनन्तर अब हम इस भूमिका में यन्त्र एवं चित्र पर शास्त्रीय दृष्टि से थोड़ा सा विचार अवश्य प्रस्तुत करना चाहते है। *स्थापत्य को हम तीन तरह से समझने की* कोशिश करें: —

अ चतुर्धा स्थापत्य अर्थात् स्थपति-योग्यताएं

ब *स्थपति-कोटि-चतुष्टय*

स अष्टाङ्ग स्थापत्य

जहा तक 'अ' और 'स' का प्रश्न है वह हम अपने भवन-निवेश में पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं। अत. यहा पर इन दोनों की अवतरणा आवश्यक नहीं। यहा पर स्थपति-कोटि-चतुष्टय की अवतारणा अनिवार्य है। मानसार, मयमत आदि तथा समराङ्गण-सूत्रधार आदि शिल्प एवं वास्तु ग्रन्थों से निम्न लिखित शिल्पियों की चार कोटियां प्राप्त होती हैं:—

१ स्थपति (Architect-in-Chief)
२ सूत्र-ग्राही (Engineer)
३ वर्धकि (Carpenter)
४ तक्षक (Sculptor)

जहां तक इस ग्रन्थ का सम्बन्ध है उसमें स्थपति, वर्धकि और तक्षक की कलाओं का विशेष साहचर्य है। राज-निवेशोचित एवं राज-भोगोचित केवल चित्र-कलाएं (आलेख्य एवं पाषाणजा तथा धातुजा) ही अनिवार्य अग नही थी वरन् राज-भवनों मे शयन अर्थात् शय्या, आसन अर्थात् -सिंहासन आदि, पादुका, कंघे आदि फर्नीचरो का भी इन कलाओ में वर्धकि का कौशल माना गया है। अतः हम इस ग्रन्थ में शयनासन-सम्बन्धी अध्यायो को भी लाकर इस परिमार्जित संस्करण से वैज्ञानिक व्यवस्था प्रदान की है।

समरांगण-सूत्रधार के परिमार्जित संस्करण का जहा तक भवन-निवेश का सम्बन्ध था वह हम भवन-निवेश के अध्ययन में पहले ही कर चुके हैं। अब यहां पर इस भाग मे आगे के ग्रन्थ-अध्यायों के परिमार्जित संस्करण-तालिका उपस्थित करेंगे, परन्तु इससे पूर्व हमें एक मौलिक आधार पर विद्वानो और पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है।

'चित्र' पद का अर्थ एकमात्र आलेख्य नही है। स्थापत्य-कौशल की दृष्टि से चित्र का पारिभाषिक एवं शास्त्रीय अर्थ प्रतिमा है। इसीलिए पुराणों में (देखिए विष्णुधर्मोत्तर), आगमो मे (देखिए कामिकागम) तथा अन्य दाक्षिणात्य शिल्प-ग्रन्थो (जैसे मानसार, मयमत आदि) मे सभी मे चित्र अर्थात प्रतिमा के निर्माण मे तीन आधार-भौतिक (Fundamental) आकारानुरूप प्रकार बताए गए हैं :—

१ चित्र (Fully Sculptured)
२ अर्ध-चित्र (Half Sculptured)
३ चित्राभास (Painting)

पुनः परिमार्जनः—अतएव हमने चित्र के विवेचन मे समरांगण का प्रतिमा-ग्रन्थ-कलेवर भी चित्र-निवेश के साथ व्यवस्थापित किया है। अतः अब हम समरांगण के इस अध्ययन में अध्यायों के परिमार्जित संस्करण की दृष्टि से जो व्यवस्था की है, उसकी यह तालिका अब उद्धृत की जाती है।

भवन-निवेश में हमने समरांगण के ८३ अध्यायों में से ३९ अध्यायों की वैज्ञानिक पद्धति से जो परिमार्जित एवं संस्कृत अध्याय-तालिका प्रस्तुत की है- वह

वही द्रष्टव्य है। यहां पर चालीसवें अध्याय से यह तालिका प्रस्तुत की जाती है। इसकी अवतारणा के पूर्व प्रमुख विषयों पर भी प्रकाश डालना उचित है, जो तीन खण्डों में प्रविभाज्य हैं।

अ राज-निवेश
१. प्रारम्भिका;
२. राज-निवेश एवं राज-भवन;
३. राज-भवन-उपकरण—सभा, अश्व-शालादि;
४. राजभवनोचित फर्नीचर—शयनासनादि,
५. राज-विलासोचित—यन्त्रादि।

ब. राज-संरक्षण में प्रवृद्ध कलाएं—चित्र-कला (Painting)

स. राज-पूजोपयोगी-प्रतिमा-शिल्प—प्रतिमा कला (Sculpture)

अ. राज-निवेश

राज-संरक्षण मे पल्लवित एवं विकसित इन ललित कलाओ की ओर थोडा सा उपोद्घात एवं इस ग्रन्थ की परिमार्जित संस्करण की ओर पाठको एव विद्वानों का ध्यान दिलाकर अब हम इस अध्ययन की ओर आ रहे हैं। इस अध्ययन में हमे निम्नलिखित तीन स्तम्भों पर प्रकाश डालना है :—

१ राज-निवेश एवं राज-निवेशोचित भवन, उप-भवन एवं उपकरण ;

२ यन्त्र-विधान ;

३ चित्र-विधान ।

वैसे तो हमने अपने इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड (अनुवाद) में इन विषयों को निम्नलिखित षट् पटलों मे विभाजित किया है, जो शास्त्रीय विषय-वैशिष्ट्य की ओर संकेत करता है :—

प्रथम पटल—प्रारम्भिका—वेदी एवं पीठ ।

द्वितीय पटल—राज-निवेश एवं राज-निवेशोपकरण ।

तृतीय पटल—शयनासन-विधान ;

चतुर्थ पटल—यन्त्र-विधान ;

पंचम पटल—चित्र-कर्म ;

षष्ठ पटल—चित्र एवं प्रतिमा के सामान्य अंग ।

परन्तु अध्ययन की दृष्टि से यथा-सूचित स्थपति-कोटि-चतुष्टय के अनुसार राज-निवेश स्थपति का कौशल है, शयनासन वर्धकि का कौशल है, यन्त्र तो वर्धकि एवं स्थपति दोनो के कौशल, हैं, ये स्वतः सिद्ध होते हैं। चित्र-कर्म तक्षक (Sculptor) और चित्र-कार (Painter), दोनों में विभाजित हो सकता है। इस दृष्टि से हमने न अध्ययन को केवल तीन ही स्तम्भों में परिशीलन समीचीन समझा। पहले हम राज-निवेश ले रहे हैं, जिसमें राज-निवेश, राज-भवन, राज-निवेश-उपकरण तथा राजोचित शयनासन तथा राज-विलासोचित यन्त्र भी गतार्थ हैं। अत. इस प्रमुख स्तम्भ मे, इन सभी सहायक स्तम्भों पर अलग अलग कुछ विचार करेंगे।

यतः राज-निवेश एवं ललित कलायें एक प्रकार से आश्रय-आश्रयि-भाव-निबन्धन हैं, अतः ललित-कलाओं जैसे चित्र एवं प्रतिमा का पूर्ण समन्वय असंभाव्य है, जब तक इस राजाश्रय की देन को हम स्मरण न करें।

राज-निवेश

राज-प्रासाद के निवेश मे सर्व-प्रमुख अंग कक्ष्यायें (Courts) थी। रामायण (देखिए दशरथ और राम के राज-प्रासाद-वर्णन) और महाभारत मे भी वैसी ही परम्परा पाई जाती है। राज-प्रासादों मे कक्ष्याओं का सन्निवेश मध्य-कालीन एवं उत्तर-मध्य-कालीन किसी भी राज-प्रासाद को देखें तो उनमे कक्ष्याओं का सर्व-प्रमुख अंग दिखाई पड़ेगा। राज-निवेश में राज-निवेश-वास्तु का दूसरा प्रमुख अंग स्तम्भ-बहुल सभायें, शालायें, सभा-मंडप सभा-प्रकोष्ठ थे। जहा तक भूमिकाओं (Storeys) का प्रश्न है वह समरांगण-सूत्रधार की दृष्टि से राज-भवन मे कोई वैशिष्ट्य नही रखती। समरांगण-सूत्रधार मे राज-निवेश त्रिविध परिकल्पित किया गया है—शासनोपयिक अर्थात् राजधानी और राज्य-संचालन की दृष्टि से किस प्रकार से राज-निवेश परिकल्पित करना चाहिए; आवासोपयिक अर्थात् आवास की दृष्टि से राजा-रानियां विशेषकर महिषी, राजकुमार, राज-माता, अमात्य, सेनापति, पुरोहित आदि के वेश्मो के संस्थान आदि; पुनश्च राज-निवेश की तीसरी आवश्यकता विलास-भवन हैं। समरांगण-सूत्रधार में राज-भवनों को दो वर्गों मे वर्णित किया गया है—निवास-भवन तथा विलास-भवन।

जहां तक निवास-भवनों का प्रश्न है उनमें कक्ष्याएं अर्थात् शालाएं अलिन्द आदि विशेष महत्व रखते हैं। उनमे भौमिक भवनों (Storeyed Mansions) का कोई स्थान नहीं। परन्तु विलास-भवनों मे भूमियों को अवश्य निवेश प्रदान

किया गया है। आवास की दृष्टि से वास्तु-शास्त्र-दिशा भूमिकाओं का प्रयोग इस उष्ण-प्रधान देश में उचित नहीं माना गया। हां विलास-भवनों में भूमियों का न्यास शोभा-मात्र तथा वास्तु-विच्छित्ति-वैभव की दृष्टि से उत्तुङ्ग विमानकारों के कलेवर की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण माना गया है। चित्र-शालाएं, नृत्य-शालाएं, संगीत-शालाएं आदि भी भौमिक विमानों के सदृश परिकल्पित की गई थीं। ये सब विलास-भवन हैं।

मयमत और मानसार में जो विमान-वास्तु अथवा शाला-वास्तु का प्रतिपादन है, वह एक प्रकार से दाक्षिणात्य परम्परा का उद्बोधक है। हमारे देश में दो प्रमुख स्थापत्य-शैलियां विकसित हुई एक नागर, दूसरी द्राविड। द्राविड-कला नागों और असुरों की अति-प्राचीन कला से प्रभावित हुई। उत्तुङ्ग विमान शैलोपम, प्रसाद-शिखिरावलि-आभा से द्योतित इन भवनों का विकास विशेषकर दक्षिण भारत की महती देन है। नाग और असुर महान् कुशल तक्षक थे। डा० जायसवाल ने अपने ग्रन्थ में इस ऐतिहासिक तथ्य पर विशेष कर भारशिव नागों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। ये शुंग एवं वाकाटक वंश से बहुत पूर्व माने जाते हैं। पुरातत्वीय अन्वेषणों (मोहेनजोदाड़ो, हड़प्पा आदि) के निदर्शनों से भी यह परम्परा पुष्ट होती है। नागर वास्तु-विद्या के विकास पर वैदिक संस्कृति का विशेष प्रभाव है। शालाएं ही उत्तरापथ की किसी भी भवन की अग्रजा थी। शालाओं एवं शाल-भवनों के जन्म एवं विकास के सम्बन्ध में हमने इस ग्रन्थ के प्रथम अध्ययन (देखिए भवन-निवेश) में बड़ी ही मनोरंक कहानी तथा ऐतिहासिक तथ्यों का विश्लेषण किया है। मयमत और मानसार को देखें तो उत्तरापथीय यह शाला-वास्तु इन दाक्षिणात्य ग्रन्थों में विमान-वास्तु की गोद में खेलने लगा। विमानों के सदृश शालाएं भी भौमिक कल्पित की गई। शिखर तथा अन्य विमान भूषाएं भी उनके अंग बन गई।

अस्तु समरांगण-सूत्रधार की दृष्टि से राज-प्रासाद के निवेश में शालाओं के साथ अलिन्द (कक्ष्याएं) तथा स्तम्भ विशेष महत्व रखते हैं। इस अध्ययन के द्वितीय खण्ड (अनुवाद) में जो राज-निवेश एवं राज-गृह इन दो अध्यायों में जो विवरण प्राप्य हैं, उनसे यह औपोद्घातिक सिद्धान्त पूर्ण पुष्टि को प्राप्त होता है।

कोई भी भवन वास्तु-कला की दृष्टि से पूर्ण नहीं माना जा सकता, जब तक भव्य आकृति के लिए कुछ न कुछ विच्छित्तियों का अनिवार्य रूप से विन्यास

न बताया जाय। नागर-शैली के अनुसार राज-प्रासाद-स्थापत्य में महाद्वार, प्रतोली, अट्टालक, प्राकार, वप्र और परिखा इन साधारण निवेश-क्रमों के साथ जहां तक विच्छित्तियों का प्रश्न है, उनमें तोरण, सिंह-कर्ण, निर्यूह, गवाक्ष, वितान और लुमाओं की भूषा एक प्रकार से अनिवार्य मानी गई है।

आधुनिक विद्वानों ने वितान-वास्तु (Dome-Architecture)को फारस की देन (Persian Contribution) मानी है। इसी प्रकार से स्थापत्य पर कलम चलाने वाले लेखक धारागृहों, लाजवर्दी जैसे रंगों को भी फारस की देन मानते हैं। यह सब धारणाएं भ्रान्त हैं। लाजवर्दी का हमने अपने चित्र-लक्षण (Hindu Conons of Painting) में विष्णु-धर्मोत्तर के 'राजावर्त्त' से, तथा उत्तर-प्रदेश के पूर्वीय इलाकों में लजावर शब्द के प्रचार से, जो समीक्षा दी है, उससे इस भ्रान्ति को दूर कर दिया है। अब आइए वितान की ओर। वितान का अर्थ Canopy है और लुमाओं का अर्थ एक प्रकार से पुष्प-विच्छित्तियां हैं। वितानों के प्रकार पचीस माने गये हैं और लुमाएं सप्तधा परिकीर्तित की गई हैं। समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र ११वीं शताब्दी का एक *अधिकृत वास्तु-ग्रन्थ है। उससे पहले इस देश में फारस का प्रभाव नगण्य था।* उत्तर-मध्यकाल (विशेष कर मुगलकाल) में फारस की बहुत सी परम्पराओं ने यहां पर अपने पैर जमाए, परन्तु इन वास्तु-वैभवों का पूर्ण परिपाक हो चुका था। मानकद ने भी अपराजित-पृच्छा की भूमिका में इस तथ्य का परिपोषण किया है। धारा-गृह तो हमारे देश में प्राचीन काल से राज-प्रासादों के प्रमुख अंग थे; अतः उन्हें फारस की देन मानना भ्रामक है। अस्तु, इस उपोद्घात के बाद राज-प्रासाद के नाना निवेशों पर दृष्टि डालना उचित है।

राज-निवेशांग

१. निवास
२. धर्माधिकरण-स्थान
३. कोष्ठागार
४. पक्षि-भवन, पशु-भवन
५. महानस
६. *आस्थान-मण्डप*
७. भोजन-स्थान
८. वाद्य-शाला
९. वन्दि-मागध-वेश्म
१०. चर्मायुध-शाला
११. स्वर्ण-कर्मान्त-भवन
१२. गुप्ति
१३. *प्रेक्षा-गृह*
१४. रस-शाला

१५. गज-शाला
१६. वापी
१७. अन्तः पुर
१८. क्रीडा-दोला-आलय
१९. महिषी-भवन
२० राज-पत्नी-भवन
२१. राजकुमार-गृह-भवन
२२. राजकुमारी-भवन
२३. अरिष्टा-गृह
२४. अशोक-वनिका
२५. स्नान-गृह
२६. धारा-गृह
२७. लता-गृह
२८. दारू-शैल, दारू-गिरि
२९. पुष्प-वीथी—पुष्प-वेश्म
३०. यन्त्र-कर्मान्त-भवन
३१. पान-गृह
३२. कोष्ठागार (२)
३३. आयुध-मन्दिर
३४. कोष्ठागार (३)
३५. उदूखल-भवन तथा शिला-यन्त्र
३६. दारू-कर्मान्त-भवन
३७. व्यायाम-शाला
३८. नाट्य-शाला
३९. चित्र-शाला
४० भेषज-मन्दिर
४१. हस्ति-शाला (२)
४१ क्षीर-गृह—गोशाला
४३ पुरोहित-सदन
४४. अभिषेचनक-स्थान
४५. अश्व-शाला—मन्दुरा
४६ राज-पुत्र-वेश्म
४७. राज-पुत्र-विद्यागम-शाला
४८. राज-मातृ-भवन
४९ शिविका-गृह
५०. शय्या-गृह
५१. आसन-गृह—सिंहासन-भवन
५२. कासार तथा तडाग आदि
५३. नलिनी-दीर्घिका
५४. राज-मातुल-निकेतन
५५. राज-पितृव्य-भवन
५६. सामन्त-वेश्म
५७. देव-कुल
५८. होराज्योतिषी-भवन
५९. सेनापति-प्रासाद
६०. सभा

समरांगण-सूत्रधार के मूलाध्याय (राज-निवेश) में वर्णित इन निवेशांगों की इतनी सुदीर्घ तालिका देखकर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंच सकते है, कि इस राज-निवेश मे आवास-निवेशो (Domestic Establishments) तथा शासन-निवेशो (Administrative Establishments)मे पार्थक्य तथा इन दोनों का भिन्न भिन्न निवेश-क्रम अर्थात् इन दोनों की भिन्नता नहीं प्रतीत होती है। बात यह है कि हम किसी भी स्मारक-निबन्धनीय राज-भवन या राज-प्रासाद को देखें तो हमें ये राज-पीठ शासनोपयिक एवं निवासोपयिक दोनों

संस्थानों के मिश्रण दिखाई देते हैं। राज-स्थान के नाना राज-भवन यही परम्परा पुष्ट करते हैं। मुगलों के राज-भवन भी यही पोषण करते हैं। हम सस्कृत कवियों के काव्यों (कादम्बरी, हर्ष-चरित आदि आदि) का परिशीलन करें, तो उनमे भी राज-भवनो की द्विविधा निवेश-प्रक्रिया का अवलम्बन किया गया है, जिस को हम वास्तु-शास्त्रीय दृष्टि से अन्तः शाला और बहिः शाला के रूप मे परिकल्पित कर सकते हैं। मुगलों के राज-पीठों को देखिए, उनमें भी दीवाने आम तथा दीवाने-खास भी इसी अन्तः शाला और बहिः शाला के अनुगामी थे।

यहां पर एक और भी ऐतिहासिक तथ्य की ओर संकेत करना है। पुरा राज-भवन का श्रीगणेश दुर्गों (Fortresses) से प्रारम्भ हुआ था। इन दुर्गों मे सब से प्रमुख अंग रक्षा-व्यवस्था-निवेश थे—जैसे महा-द्वार, गोपुर-द्वार, पक्ष-द्वार, अट्टालक, प्राकार, परिखा, वप्र, कपिशीर्षक, काण्डवारिणी आदि आदि जो समरागण-सूत्रधार के इस राज-निवेश-शीर्षक अध्याय में भी इसी प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। पुनः कालान्तर पाकर जो राज-ऐश्वर्य तथा राज-भोग राज-शासन तथा राज-संभार विकसित हुए तो स्वतः निवेशांगो की संख्या भी बढती बढती इतनी बडी निवेश-संख्या हो गई।

शास्त्रीय दृष्टि से अब हम राज-निवेश के यथानिर्दिष्ट प्रमुख अंगो पर प्रकाश डालेंगे, जिसमे राज निवेश मे प्रथम स्थान आवास-भवन है, पुनः विलास-भवन आते हैं। उस के बाद अनिवार्य उपकरण-भवन यथा सभा, गज-शाला, अश्व-शाला तथा राजानुजीवियों के आयतन-विशेष भी निर्देश्य हैं। इन सब पर हमें यहां विशेष प्रस्तार की आवश्यकता नही है, जो राज-निवेश-उपकरण-शीर्षक—अनुवाद पटल मे द्रष्टव्य हैं।

यहां पर सबसे बड़ी शिल्पदिशा से जो वास्तु-महिमा विवेच्य है, उसकी ओर अब हम कदम उठाते हैं।

कक्ष्या-निवेश—अलिन्द-निवेश :—शास्त्र एवं कला दोनो दृष्टियो मे राज-भवनों की प्रमुख विशेषता कक्ष्या-निवेश है। मानसार आदि दाक्षिणात्य ग्रन्थो मे तो अन्तः शाला और बहिःशाला के विवरण प्राप्त होते हैं, परन्तु समरागण-सूत्रधार मे शालाओ एवं अलिन्दो के ही विशेष विवरण राज-भवन-विन्यास मे प्राप्त होते हैं। सौभाग्य से हम ने जब यह देखा कि प्रायः प्रत्येक राज-भवन-प्रभेद के प्रत्येक मे कम से कम चार अलिन्द अनिवार्य हैं तो जहा अलिन्द होंगे वहा खुले आगन अवश्य होंगे। बृहत्संहिता मे जो मुझे अलिन्द शब्द की निम्न

टीका :—

"अलिन्दशब्देन शालाभित्तेर्बहिर्च गमनिका जालकावृतांगणमम्मुखा" मिली है, इसने पूरा का पूरा संदेह निराकरण कर दिया। अतः समरांगण-दिशा मे भी जो निदर्शन प्राप्त होते हैं उसका भी परिपोषण इस ग्रन्थ से प्राप्त होता है।

राज-भवन-वास्तु-तत्व :—राज-प्रासाद व राज-भवन मेरी दृष्टि में चारों भवन-शैलियों (प्रासाद-वास्तु, सभा-वास्तु (मण्डप—वास्तु), शाला-वास्तु तथा दुर्ग-वास्तु) के मिश्रण हैं। प्रासाद-वास्तु का अनुगमन इसमें विशेषकर शृंगों में ही आभास प्राप्त होता है। समरांगण की दिशा मे आवास-भवन यतः अट्टालकादि, प्राकारादि विशेषों से ही विशिष्ट हैं, परन्तु विलास-भवन यतः भौमिक भी हैं अतः उनमें शिखरावलिया एवं श्रृंग-भूषायें विशेष विभाव्य हैं। अब आइये सभा-वास्तु की ओर। सभा-वास्तु की सर्व-प्रमुख विशेषता स्तम्भ-बहुलता है। विश्वकर्म-वास्तुशास्त्र में नाना सभाओं का जो वर्णन प्राप्त होता है, उन में विशेष महत्व स्तम्भ-संख्या का है। दक्षिण की ओर मुडिये वहा जो मण्डप-वास्तु महान् प्रकर्ष को पहुचा था, उसमें भी यही स्तम्भ-बाहुल्य-विशेषता है। वहां के मण्डपों की शत-मण्डप, सहस्र-मण्डप, इन संज्ञाओं का अर्थ स्तम्भ-संख्या का द्योतक है अर्थात् सौ खम्भों वाले मण्डप या हजार खम्भो वाले मण्डप। किसी भी प्राचीन राज-प्रासाद-निदर्शन को देखे—मुगलों के अथवा राजस्थानियों के, सभी में सभा-मण्डप, आस्थान-मण्डप आदि जितने भी वहा दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उन सभी मे स्तम्भ-बाहुल्य भी साक्षात् प्रतीत होता है। तीसरा वास्तु-तत्व अर्थात् शाला-वास्तु, वह भी राज-भवन के मूल न्यास के प्रतिष्ठापक है। शाल-भवनों की कहानी, शाला का अर्थ (अर्थात् कक्ष्या, कमरा, चैम्बर), शाल-भवन-विन्यास-प्रक्रिया, द्रव्याद्रिव्य-योजना, योग्यायोग्य-व्यवस्था आदि आदि पर हम अपने भवन-निवेश में इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कह चुके हैं, उसकी पुनरावृत्ति यहां आवश्यक नही। यहा तो केवल इतना ही सूच्य है कि इन राज-भवनों मे भी शालाएं ही सर्वाधिक विन्यास के अंग है। अब आइये चौथे तत्व पर जिस पर हम पहले ही कुछ निर्देश कर चुके हैं अर्थात् महाद्वार, गोपुरद्वार, पक्षद्वार, अट्टालक, प्राकार, परिखा, वप्र आदि।

इन वस्तु-तत्वों की इस अत्यन्त स्थूल समीक्षा के उपरान्त अब हमे दो महत्वपूर्ण वास्तु-तत्वों पर भी प्रकाश डालना है। पहला प्रश्न यह है अथवा पहली समस्या यह कि राज-भवन, देव-भवन के अग्रज है या अनुज हैं? इस

प्रश्न को हम यहा नही लेना चाहते; इसका उत्तर हम अन्तिम अध्ययन (प्रासाद-निवेश) मे देंगे। जब तक हम प्रासाद-वास्तु की उत्पत्ति, प्रसृति, शैली, निवेश, अंगोपांग, भूषा तथा अन्य निवेश—इन सब का जब तक शास्त्रीय एवं कलात्मक विवरण न प्रस्तुत किया जाय तो इस वैमत्य अथवा ऐकमत्य का समर्थन या खण्डन कैसे किया जा सकता है। अतः यह प्रश्न यहीं पर विश्लेषणीय है।

अब आइये दूसरे प्रश्न पर, प्राचीन राज-भवनो मे जो वितान-वास्तु (Dome architecture) के तत्व एवं निदर्शन मिलते हैं, वे हमारे शास्त्र और कला के निदर्शन हैं अथवा ये फारस की देन हैं? आधुनिक वास्तु-कला-विशारदो ने भारत के वितान-वास्तु को फारस का श्रेय माना है। यह धारणा मेरी दृष्टि मे भ्रामक है। समरागण-सूत्रधार के राज-गृह-शीर्षक अध्याय मे राज-गृह की नाना विच्छित्तियों पर जो प्रवचन प्रदान किये गये हैं उनमे निर्यूह, कपोत-पाली, सिंह-कर्ण, तोरण, जालक आदि के साथ साथ वितान और लुमाओ पर भी बडे पृथुल प्रतिपादन प्राप्त होते है। वितानो की संख्या पचीस है (दे० अनु०) और लुमाओ की विधा है सात (दे० अनु०)। अब वितान का क्या अर्थ है एवं लुमा का क्या अर्थ है—यह समझने का प्रयास करें। लुमा पौष्पिक विच्छित्ति (Flower-like decorative motif) है, जो वितान (Canopy) का अभिन्न अंग है। लुमा और लुपा शिल्प-दृष्टि से एक ही हैं। दाक्षिणात्य ग्रन्थों (दे० मानसार) मे लुमा के स्थान पर लुपा का प्रयोग है। रामराज ने जो लुपा की व्याख्या दी है, वह हमारे इस तथ्य का पोषण करती है। यह व्याख्या उद्धरणीय है :—

'A sloping and projecting member of the entablature etc. representing a continued pent-roof. It is made below the cupola and its ends are placed as it were, suspended from the architrave and reaching the slab of the lotus below'

इस दृष्टि से ये लुमाएं (पौष्पिक विच्छित्तियां) वितान (dome) की अभिन्न अंग हैं। रामराज की परिभाषा ने लुमाओं को वितान (dome) के गोद मे क्रीडा करवा दी है। अतः वितान-वास्तु (Dome Architecture) हमारे देश की ही विभूति है। अपराजित-पृच्छा में भी जो लुमाओं और वितानों के विवरण प्राप्त होते हैं, वे भी इस सिद्धान्त को दृढ करते हैं। मानकंद ऐसे आधुनिक प्रथित-कीर्ति इंजीनियर, जिन्होंने अपराजित-पृच्छा की भूमिका लिखी है, उस मे जो उन्होने अपना मत दिया है वह भी हमारी धारणा का समर्थन करती

यद्यपि वे कुछ विशेष इस सम्बन्ध मे मुखर नही हैं।

अब अन्त में जहां तक स्मारक-निदर्शनों का प्रश्न है, उनको अब हम यहा पर विशेष-विस्तार से नही छेड़ना चाहते हैं, यतः यह शास्त्रीय अध्ययन है। सुदूर अतीत मे निर्मित अशोक का राज-प्रासाद, जो काष्ठमय था, वह भी सभा-वास्तु का प्रथम निदर्शन है। साथ ही साथ इन्ही स्तम्भों की विच्छित्तिया आगे चलकर प्रासाद-स्थापत्य जैसे आमलक एव गुप्त-कालीन-विच्छितियो यथा घट-पल्लव आदि सभी के प्रारम्भक हैं। सर्कप-नामक प्राचीन नगरी के भग्नावशेषों मे, अमरावती तथा अजन्ता के स्मारको मे, गुप्तकालीन राज-भवनों के निदर्शनो मे—ये सब वास्तु-तत्व प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं।

आगे चलकर मध्यकालीन राज-भवनो की अभिख्या देखें एव सुषमा निहारें तो इन राज-गृहों में बड़े विस्तार-संभार प्राप्त होते है। विशेषकर उत्तर-मध्यकाल में राजपूताना, बुन्देलखण्ड तथा मध्यप्रदेश मे जो राज-भवन बनें जैसे–धारा और ग्वालियर एव दतिया और ओरछा, अम्बर तथा उदयपुर एवं जोधपुर और जयपुर आदि इन नगरो में जो राज-भवन-निदर्शन प्राप्त होते हैं, वे सब राज-भवनों की एक परम्परागत अटूट शैली एव श्रेणी के उद्बोधक हैं। जहां तक राज-भवन-वर्गों की बात है वह अनुवाद मे द्रष्टव्य है। राज-भवन प्रधानतया द्विविध हैं निवास-भवन तथा विलास-भवन। दोनो के नाना पारिभाषिक भेद हैं जैसे पृथ्वीजय आदि वे सब वहीं पठनीय हैं। इस थोड़ी सी समीक्षा के उपरान्त समरागण के शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से थोड़ा सा राज-निवेश-उपकरणो पर भी संकेत आवश्यक है।

राज-निवेश-उपकरण :—इस ग्रन्थ में सभा, गज-शाला, अश्व-शाला तथा आयतन (अर्थात राजानुजीवियों के घर जो राज-भवन से न्यून प्रमाण मे विनिर्मेय हैं,) ही विशेष उल्लेख्य हैं। जहा तक सभा, गजशाला का प्रश्न है उनके विवरण अनुवाद में ही द्रष्टव्य हैं, परन्तु अश्व-शाला के सम्बन्ध मे सबसे महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य यह है कि किसी भी वास्तु या शिल्प ग्रन्थ मे इतना वैज्ञानिक, पारिभाषिक एवं पृथुल प्रतिपादन नहीं प्राप्त होता। इस अध्याय में कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द भी हैं, जिनका अर्थ बड़े ऊहापोह के बाद लग सका। उदाहरण के लिए लीजिए 'स्थानानि' इसका अर्थ स्थान है। परन्तु उत्तर प्रदेश के किसी पुर, पत्तन, ग्राम में जाइये तो वहां पर जहां घोड़े बांधे जाते हैं, उनको थाना कहते हैं और वे थाने बड़े विशाल एवं विस्तृत बनाए जाते थे। अत. वास्तु-दृष्टि से यह पद (स्थान) थाना का पूर्ण परिचायक है। जिस

प्रकार अभी तक वेसर अथवा मण्डक अथवा अन्य अनेक वास्तु-पदों के जो अर्थ अज्ञेय थे, उनको मैंने महामाया की कृपा से ज्ञेय बना दिया। भवन-निवेश के 'चय' शीर्षक अध्याय को देखें, वहाँ पर 'चय', 'हस्तक' आदि नाना पदों की जो व्याख्या दी है, उससे हमारा यह वास्तु-शास्त्र कैसा पारिभाषिक शास्त्र में परिणत हो गया है। अभी तक आधुनिक विद्वानों ने इन वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों को पौराणिक अथवा कपोल-कल्पित अथवा मनघड़न्त के रूप में मूल्यांकन करते आए हैं। अस्तु, अश्वशाला के भी विवरण वहीं अनुवाद में अवलोक्य हैं। हाँ यहाँ पर थोड़ा सा सभा तथा अश्वशाला के प्रमुख निवेशांगों पर थोड़ा सा प्रकाश आवश्यक है।

सभा :—सभा भवन-वास्तु की सर्व प्राचीन कृति है। वैदिक-वाङ्मय तथा विशेष कर महाभारत एवं रामायण में सभाओं के अनेक उल्लेख एवं विवरण मिलते हैं। महाभारत में तो एक पर्व सभा-पर्व के नाम से ग्रथित है। जिसमें यम-सभा, इन्द्र-सभा, वरुण-सभा, कुबेर-सभा, ब्रह्म-सभा आदि प्रकीर्तित हैं। इन सभा-भवनों की विशेषता वैदिक काल से लेकर आज तक स्तम्भ-बाहुल्य वास्तु वैशिष्ट्य है। राज-भवनों में जो अन्तःशाला एवं बहिःशाला हैं वे भी सभा-भवन पर बनी हैं तथा वेही विच्छित्तिया दर्शनीय हैं। अनुवाद भी यही समर्थन करता है।

अश्वशाला :— अब आइये अश्व-शाला की ओर, जिसमें निम्नलिखित निवेशों का प्रतिपादन आवश्यक है :—

१. अश्वशाला-निवेश अंगोपांग-सहित ;
२. अश्वशालीय संभार ;
३. घोड़ों के बांधने की प्रक्रिया एवं पद्धति ;
४. अश्वशाला के उप-भवन (Accessory Chambers)

अश्व-शाला-निवेश अनुवाद में दृष्टव्य है; परन्तु इसके प्रमुख निवेशांग निम्न हैं :

१. यवस-स्थान (Granary) जहां पर घास जमा की जाती है ;
२. खादन-कोष्ठक (Manager) अर्थात् नादें ;
३. कीलक अर्थात् खूंटे जिनके द्वारा उनका पञ्चांगी-निग्रह अनिवार्य है।

इन सब निवेशों के विवरण-प्रमाण, आयाम, उचित-स्थान सब अनुवाद में द्रष्टव्य हैं।

४. अश्वशालीय संभार—अग्नि-स्थान, जल-स्थान, ऊखल-निवेश-स्थान आदि के अतिरिक्त जो सम्भार अनिवार्य है उनमें निःश्रेणी (Stai-case), कुश,

फलक, उद्दालक, गुडक, शुक्त-योग, खुर, कैंची, मीग, कुल्हाडी, नाद, प्रदीप, हस्तवासी, शिला, दर्वी, थाल, उपानह, भिटक तथा नाना वस्तियां—ये सब अनिवार्य संभार हैं।

घोडों के बाधने की प्रक्रिया एवं पद्धति याने (स्थानानि) इस पद पर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं। रघुवंश (पाचवां सर्ग) देखिए "दीर्घेष्वमी नियमिता पटमण्डपेषु" इन स्थानों—थानों का समर्थन करता है। इन थानों का सामुख्य, स्थापन, दिङ्-सामुख्य, निवेश्य पद, आदि पर जो विवरण आवश्यक हैं वे सब वहीं अनुवाद मे द्रष्टव्य हैं।

अश्वशाला के उप-भवन—भेषजागार या औषधि-स्थान (Medical Home)—इसके लिए निम्नलिखित चार उप-भवन (Accessory Chambers) अनिवार्य विवेश्य हैं :–

१ भेषजागार (Dispensary)

२ अरिष्ट-मन्दिर (The lying-in-Chamber)

३ व्याधित-भवन (The hospital and sick-ward)

४ सर्वसम्भार-वेश्म (Medical Stores)

यहां पर सब प्रकार की औषधियां, तैल, नमक, वर्तियां आदि आदि संग्रहणीय हैं।

इन अश्व-शालाओं के निर्माण में वास्तु-शास्त्र की दृष्टि से इन्हें विशाल बनाना चाहिए तथा इनकी दीवालों को सुधा-बन्ध से दृढ करना चाहिए और इनमे ग्रावीवो की अलंकृति भी आवश्यक है। इससे इन अश्व शालाओं के द्वार उत्तुंग एवं अलंकृत दिखाई पडते हैं।

शयनासन

वास्तु की व्युत्पत्ति वस्तु पर निर्धारित है। वस्तु है भूमि वास्तु हुआ भौम या भौमिक। जो भी पार्थिव पदार्थ या द्रव्य है उसको जब किसी भी क्रिया से किसी भी कृति मे हम परिणत कर देते हैं तो वह वास्तु बन जाता है। समरांगण-सूत्रधार का यह निम्न प्रवचन इसी तथ्य एवं सिद्धान्त को दृढ करता है :-

'यच्च येन भवेद् द्रव्यं मेयं तदपि कथ्यते'—'मेय' मे वास्तु के मान का महत्व-पूर्ण स्थान विहित है। बिना प्रमाण कोई भी वास्तु निश्चित कृति मे नहीं परिणत हो पाता। अतएव भारतीय वास्तु-शास्त्र का क्षेत्र बडा ही व्यापक है। वह सार्वभौमिक तो है ही, साथ ही साथ आधिदैविक एवं

आधिभौतिक भी है । वास्तु से तात्पर्य केवल पुर, नगर, भवन, मन्दिर या प्रतिमा मात्र से नहीं । जो भी निवेशित है, जो भी मानित है वह सब वास्तु है। इस व्यापक दिशा मे तक्षण, दारुकर्म, आलेख्य-कर्म आदि भी गतार्थ हैं।

स० सू० का यह शयनासन-शीर्षक अध्याय बड़ा ही वैज्ञानिक, पारिभाषिक एवं अनुपम है । अन्य किसी ग्रन्थ में ऐसा पृथुल एवं प्रवृद्ध शयनासन-विषयक प्रतिपादन नहीं मिलता । मानसार, मयमत आदि शिल्प ग्रन्थों मे वास्तु-क्षेत्र में धरा, यान, स्यन्दन (अथवा पर्यंक) तथा आसन ये जो चतुर्था क्षेत्र हैं तथापि इन ग्रन्थो मे यहां सिंहासनादि एवं अन्य पञ्जर तथा नीडादि, दोलादि दीप-दण्डादि नाना फर्नीचर के भी विवरण हैं तथापि वहां शय्या पर इतने वैज्ञानिक एवं परिमार्जित विवरण नहीं मिलते।

शय्या अथवा आसन आदि इन विधानों के लिये सर्व-प्रथम शुभ लग्न, शुभ मुहूर्त आवश्यक है । इन शय्याओं एवं आसनों के निर्माण मे किस किस वृक्ष की लकड़ी लानी चाहिए—ये विस्तार बड़े पृथुल हैं (दे० अनुवाद) । राजों, महाराजों के लिए जो शय्या विहित है उसमें स्वर्ण, रजत हस्तिदन्त आदि की जड़ावट आवश्यक है । शय्या की लम्बाई और चौड़ाई भी व्यक्ति-विशेष के अनुरूप विहित है । राजाओं की शय्या १०८ अंगुल के प्रमाण में बनायी गयी है चौड़ाई से दुगुनी सदैव लम्बाई होनी चाहिए।

एक-दारु-घटिता शय्या प्रशस्त मानी गयी है। द्वि-दारु-घटिता शय्या अनिष्ट बतायी गयी है । तथा त्रिदारु-घटिता शय्या तो शयालु की तात्कालिक मरण बताती है :—

"त्रिदारुघटितायां तु शय्यायां नियतो वध."

शय्याओं मे जो पारिभाषिक वास्तु-पद दिये गये हैं, वे हैं—उत्पल, ईशा-दण्ड, कुप्य तथा पाद । सबसे बड़ी विशेषता यह है कि घटिता शय्या मे ग्रन्थियां कभी नहीं होनी चाहियें । ग्रन्थियां अथवा छिद्र दोनों ही वर्ज्य हैं । ग्रन्थियों की निम्न षड्विधा द्रष्टव्य है :—

निष्कुट	क्रोडनयन	कालक
कालदृक्	वत्सनाभक	बन्धक

इन सबके विवरण अनुवाद में अवलोकनीय है । अतः यहां पर इतना सूच्य है कि शय्या कैसी वैज्ञानिक प्रक्रिया से बनती थी । इसी प्रकार आसन, पादुका, कघे आदि भी इस शयनासन-विधान मे वर्णित किये गये हैं। अब आइये यन्त्र-विधान (यन्त्र-कला अर्थात् Mechanics) की ओर।

राज-विलास
(नाना यन्त्र)

यन्त्र-घटना—महाकवि कालिदास के महाकाव्य (देखिए रघुवंश) में पुष्पक-विमान का जो उल्लेख है, उसी प्रकार से पुराणों में बहुत से संकेत प्राप्त होते हैं उनमें जो यह परम्परा विमानों की ओर संकेत करती है, वह अभी तक कपोल-कल्पना के रूप में कवलित की गई है। यन्त्र शब्द तंत्र के समान ही बड़ा ही प्राचीन है। मेरी दृष्टि में तन्त्र वास्तव में शास्त्र अर्थात् पारिभाषिक शास्त्र की संज्ञा थी और यन्त्र एक प्रकार से पारिभाषिक कला थी। जो यन्त्र वही मशीन। मानव सब कुछ अपने हाथों से नहीं कर सकता था, अतएव प्रत्येक जाति एवं देश की सभ्यता में यन्त्रों का जन्म एवं विकास प्रादुर्भूत हुआ। वात्स्यायन के काम-सूत्र में जिन ६४ कलाओं का विलास वर्णित किया गया है, उनमें यन्त्र-मातृका भी तो थी। आज तक कोई भी विद्वान् इस कला की परिभाषा न दे सका, न समझ ही सका। डा० आचार्य ने अपने ग्रन्थ में (H. A. I. A.) जिन्होंने इस कला की निम्न व्याख्या की है :—

"the art of making monographs, logographs and diagrams. Yasodhara attributes this to Visvakarma and calls Chalana sastra (Science of accidents)".

अर्थात् जिस दृष्टि से अर्थात् यशोधर की व्याख्या से आदरणीय डा० आचार्य जिस निष्कर्ष को पहुँचे हैं वह सर्वथा भ्रान्त है। इस काम-सूत्र के लब्ध-प्रतिष्ठ व्याख्याकार यशोधर की इसी व्याख्या से ही मैंने इस कला को वास्तविक रूप में ला दिया है। यशोधर ने इस कला की व्याख्या में लिखा है :—

"सजीवानां निर्जीवानां यानोदकसंग्रमार्थघटनाशास्त्रं विश्वकर्मप्रोक्तम्"

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि यान से तात्पर्य विमानादि (Conveyance and aeroplanes) यन्त्रों से है, उदक से तात्पर्य धारा तथा अन्य जलीय यन्त्रों से है तथा संग्राम से अर्थ संग्रामार्थ यन्त्रों से है, जिनकी परम्परा वैदिक, ऐतिहासिक एवं पौराणिक सभी युगों में पूर्ण रूप से प्रवृत्त थी—जैसे आग्नेयास्त्र (Fire Omitter), इन्द्रास्त्र (Anti-Agneya Rain-producer), वारुणास्त्र (Producing terrible end violent storms)। इसी प्रकार महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में भुशुंडी, शतघ्नी तथा सहस्रघ्नी जो आजकल आधुनिक मशीनगन, स्टेनगन और टैंकों के साथ प्रकल्पित किये

जा सकते हैं । परन्तु यह निस्सन्देह है, जैसा हमने ऊपर संकेत किया है, इस दृष्टि से यह निष्कर्ष कि हम लोग यान्त्रिक-कला एवं यन्त्र-विज्ञान से सर्वथा शून्य थे, अपरिचित थे—यह धारणा निराधार है । अब देखें कि समरांगण-सूत्रधार का यह यंत्राध्याय किस प्रकार से इस भ्रान्त धारणा को उन्मूलन कर देता है । इस के प्रथम थोड़ा सा और उपोद्घात् आवश्यक है ।

हम बहुत बार पाठकों का ध्यान आकर्षित कर चुके हैं कि जहाँ वेद थे वहाँ उपवेद भी थे । उपवेद ही वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शास्त्रों के जन्मदाता एवं प्रतिष्ठापक थे । यन्त्र-विद्या, धनुर्विद्या की अभिन्न अंग थी । धनुर्विद्या, धनुर्वेद के नाम से हम कीर्तित कर सकते हैं, क्योंकि जिस प्रकार ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, उसी प्रकार से यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद (Military Science) था । 'धनु' शस्त्रों एवं अस्त्रों का प्रतीक था । शस्त्र हमारे वाङ्मय में चतुर्विध वर्गीकृत किये गये हैं —

१ मुक्त ३ मुक्तामुक्त तथा
२ अमुक्त ४ यन्त्र-मुक्त

उपर्युक्त शतघ्नी, सहस्रघ्नी, चाप आदि सब यन्त्र-मुक्त शस्त्रास्त्र बोधव्य हैं । डा० राघवन ने अपने Yantras or Mechanical Contrivances in Ancient India नामक पुस्तक में संस्कृत-वाङ्मय में आपतित यन्त्र सन्दर्भों पर पूरा प्रकाश डाला है । परन्तु उनकी दृष्टि में यन्त्र की व्याख्या उन्हों ने यन्त्र-विज्ञान न मान कर यन्त्र-घटना अथवा गढन के रूप में परिकल्पित किया है । परन्तु समरांगण-सूत्रधार के यन्त्राध्याय के नाना प्रवचनों से यन्त्र-विज्ञान की ओर पूर्ण प्रकाश पड़ता है । अतः बिना dogmatic approach के हम आगे वैज्ञानिक ढंग से कुछ न कुछ इस तथ्य का पोषण अवश्य कर सकेंगे कि हमारे देश में यन्त्र-विद्या (यन्त्र-विज्ञान) भी काफी प्रवृद्ध थी, जो महाभारत के समय की बात थी, परन्तु पूर्व एवं उत्तर मध्य काल में इसका ह्रास हो गया । अतएव समरांगण-सूत्रधार के अतिरिक्त इसी के लेखक धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव के द्वारा ही विरचित कोदण्ड-मण्डन इन दो ग्रन्थों को छोड़कर अन्य ग्रन्थ एतद्विषयक प्राप्त नहीं हैं । अतएव यन्त्र विद्या तथा यन्त्र-विज्ञान को आधुनिक दृष्टि से हम पूरी तरह नहीं ला सकते यही कारण है कि डा० राघवन ने Mechanical Contrivances इस शीर्षक से यन्त्रों की ओर गये । अन्यथा Science जिसका विशेष उपयुक्त था समझने की बात है, विचारने की भी बात है कि ध्रुव-मीनार के निकटस्थ

अशोक का लौह-स्तम्भ किस यन्त्र के द्वारा आरोपित किया गया था और कैसे बना था—केवल यही ऐतिहासिक निदर्शन हमारे लिये पर्याप्त है कि हमारे देश में यान्त्रिक एवं इन्जीनियरिंग कौशल किसी देश से पीछे नहीं था। समरांगण-सूत्रधार (मूल ३१.८७, परिमार्जित संस्करण ४९.८७) का निम्न प्रवचन पढ़ें :—

> पारम्पर्यं कौशलं सोपदेशं शास्त्राभ्यासो वास्तुकर्मोद्यमो धीः।
> सामग्रीयं निर्मला यस्य सोऽस्मिश्चित्राण्येव वेत्ति यन्त्राणि कर्तुम् ॥
> यन्त्रणा घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात्
> तत्र हेतुरयं ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदाः ॥

अस्तु, इस उपोद्घात के बाद हम इस स्तम्भ में यन्त्र-विज्ञान, उसके गुण, प्रकार एवं विधा को एक एक करके विचार करेंगे, जिससे पाठक इस उपोद्घात का मूल्यांकन कर सकने में समर्थ हो सकेंगे। अनुवाद भी पढ़कर कुछ विशेष आश्चर्य का अनुभव कर सकेंगे कि हमारे देश में यह विज्ञान सर्वथा अवश्य था।

यन्त्र-परिभाषा	देखिए अनुवाद
यन्त्र-बीज	देखिए अनुवाद
यन्त्र-प्रकार	देखिए अनुवाद
यन्त्र-गुण	देखिए अनुवाद

यहां पर अनुवाद-स्तम्भ की ओर तो ध्यान आकर्षित कर ही दिया, परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि यन्त्र-परिभाषा एवं यन्त्र-बीज पर जो लिखा गया है वह कितना वैज्ञानिक है इस से अधिक और क्या वैज्ञानिक परिभाषा एवं वैज्ञानिक बीज (Elements) निर्धारित किये जा सकते हैं। प्रकारों पर जो प्रकाश डाला गया है—जैसे स्वयवाहक (automatic), सकृत्प्रेर्य (Requiring propelling only once), अन्तरित-बाह्य (operation of which is concealed, i. e. the principle of its action and its motor mechanism are hidden from public view) तथा अदूर-बाह्य (the apparatus of which is placed quite distant)—यह सब कितना वैज्ञानिक एवं विकसित सा प्रतीत होता है। साथ ही साथ शायद ही आज के युग में भी यन्त्र-गुणों की बीस प्रकर्षताओं पर जो प्रकाश इस ग्रन्थ में डाला गया है, वह सम्भवतः कहीं पर भी प्राप्य नहीं है। यन्त्र-गुणों की तालिका सुसम्बद्धा यहां पर अतएव अवतरणीय है :—

१ यथावद्बीज-संयोग (Proper combination of bijas in proportion),

२ सौश्लिष्ट्य Attribute of being well-knit construction.
३ श्लक्ष्णता Smoothness and fineness of appearance.
४ अलक्ष्यता Invisibleness or inscrutability.
५ निर्वहण Functional Efficiency.
६ लघुत्व Lightness.
७ शब्द हीनता Absence of noise where not so desired.
८ शब्दाधिक्य Loud noise, if the production aimed at, is soun.
९ अशैथिल्य Absence of Looseness.
१० अगाढता Absence of stiffness.
११ सम्यक्-सञ्चरण Smooth and unhampered motion in all conveyances
१२ यथाभीष्टार्थकारित्व Fulfilling the desired end i. e. production of the intended effects (in cases where the ware is of the category of curos)
१३ लयताल-अनुगामित्व Following the beating of time, the rhythmic attributes in motion (particularly in entertainment wares).
१४ इष्टकाल-अर्थदर्शित्व Going into action when required.
१५ पुनः सम्यक्त्व-संवृति Resumption on the still state when so *required*.
१६ अनुल्वणत्व Beauty i. e. absence of an uncouth appearance.
१७ ताद्रूप्य Versimilitude (in the case of bodies intended to represent birds and animals)
१८ दार्ढ्य Firmness.
१९ मसृणता Softness.
२० चिर-काल-सहत्व Endurance.

यन्त्र-कार्य :—देखिए अनुवाद ।

यन्त्र-कर्म मे जो गमन, सरण, पात, पतन, काल, शब्द, वादित्र आदि जो इस ग्रन्थ मे निविष्ट किये गये हैं, उनमे आधुनिक नाना मशीनो जैसे घड़िया, रेल, मोटर, रेडियो, वारि तथा विमान (aeroplane) सभी अकल्प्य प्रतीत होते हैं ।

आधार-भौतिक क्रिया-कौशल की दृष्टि से प्रथम तो क्रिया ही मौलिमा-लायमान एवं मूर्धन्य है जिस से गमन, पतन, पात, सरण आदि विभाज्य है।

जहां तक काल का प्रश्न है, उससे आधुनिक घड़ियों की ओर संकेत है—यह तो हम ऐतिहासिक दृष्टि से पुष्ट कर सकते है कि उस प्राचीन एवं मध्यकालीन युग मे जल-घड़िया तथा काष्ठ-घड़िया तो विद्यमान थी ही।

जहां तक शब्द-विद्या का प्रश्न है वह आधुनिक वाद्य-यन्त्र की ओर संकेत कर रही है, क्योंकि वादित्र—गीत, वाद्य एवं नृत्य के साथ जो अन्य नाना बाजों जैसे पटह, मुरज, वंश, वीणा, कास्यताल, तुमिला, करताल और नाटक, ताण्डव, लास्य, राजमार्ग देशी आदि, नृत्यो एवं नाट्यो की ओर जो संकेत हैं, वे क्या तत्कालीन आधुनिक रेडियो की ओर संकेत अथवा मूल भित्ति (Foundation) की ओर हमे नही ले जा सकते अन्यथा यन्त्रों के द्वारा इनकी निष्पत्ति, प्रादुर्भाव या आविर्भाव की ओर व्याख्यान करने का क्या *अभिप्राय है?*

यन्त्र-कर्मों मे उच्छ्राय-पात, सम-पात, समोच्छ्राय एव अनेक उच्छ्राय-प्रकारों पर, जो प्रकाश इस ग्रन्थ-रत्न मे प्राप्त होता है, उससे महावैज्ञानिक वारि-यन्त्रो तथा धारा-यन्त्रों की पूरी पूरी पुष्टि प्राप्त होती है।

इसी प्रकार नाना-विध यन्त्रो के कर्मों पर भी प्रकाश डाला गया है—जैसे रूप, स्पर्श तथा दोला एव क्रीडाये एव कौतुक एवं आमोद। सेवा (Service) रक्षा (defence) आदि कार्य भी इन्हीं यन्त्रों के द्वारा उल्लेख किये गये है। यह आगे के स्तम्भ यन्त्र-प्रकार से स्वतः परिपुष्ट हो जाता है।

यान-मातृका की परिभाषा की हमने जो वैज्ञानिक व्याख्या सर्व-प्रथम इस भारत-भारती (Indology) मे पाठकों के सामने रक्खी है उसी के अनुसार *यह समरांगण-सूत्रधार भी उसी ओर हमे ले जा रहा है। समरांगण-सूत्रधार के* इस यन्त्राध्याय मे जो नाना यन्त्र वर्णित किये गये हैं उनको हमने निम्न षड्-विधा मे वर्गीकृत किया है:—

१ **आमोद-यन्त्र**.—इस वर्ग मे

(i) भूमिका-शय्या-प्रसर्पण

(ii) क्षीराब्धि-शय्या

(iii) पुत्रिका-नाडी-प्रबोधन

(iv) नालिका-प्रबोधन-यन्त्र

(v) गोल-भ्रमण-यन्त्र Chronometre-like-object
(vi) नर्तकी-पुत्रिका Dancing Doll
(vii) हस्ति-यन्त्र
(viii) शुक-यन्त्र

२ सेवा एवं रक्षा-यन्त्र :—

(i) सेवक-यन्त्र
(ii) सेविका-यन्त्र
(iii) द्वार-पाल-यन्त्र
(iv) योध-यन्त्र
(v) सिंहनाद-यन्त्र

३ संग्राम के यन्त्र:—इन के केवल संकेत हैं, परन्तु घटना पर प्रकाश नहीं डाला गया है। इनमे चाप, शतघ्नी, उष्ट्र-ग्रीवा आदि संग्राम-यन्त्र ही सूचित हैं।

४ यान-यन्त्र :—अम्बरचारि-विमान-यन्त्र को हम अन्त में परिपुष्ट करेंगे।

५ वारि-यन्त्र :—इसमे जैसा पीछे संकेत किया जा चुका है इसकी चतुर्धा कोटि है :—

(i) पात-यन्त्र
(ii) उच्छ्राय-यन्त्र
(iii) पात-समोच्छ्राय-यन्त्र
(vi) उच्छ्राय-यन्त्र

इन चारों का मौलिक उद्देश्य द्विविध है :-

एक तो क्रीडार्थ दूसरा कार्य-सिद्ध्यर्थ। दूसरी कोटि पात-यन्त्र की प्रतीक है और पहली कोटि दूसरी, तीसरी, चौथी से उदाहृत एवं समन्वित है। इन चारों विधाओं की विशेषता यह है कि पहले से अर्थात् पात-यन्त्र से ऊपर एकत्रित किए गए जलाशय से नीचे की ओर पानी छोड़ा जाता है। दूसरा यथानाम (उच्छ्राय-समपातयन्त्र) जहां पर जल और जलाशय दोनों एक ही स्तर पर रखकर जल छोड़े जाते हैं। तीसरी विधा पात-समोच्छ्राय-यन्त्र का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें एक बड़ी मनोरञ्जक तथा उपादेय प्रक्रिया तथा पद्धति का आलम्बन किया जाता है जो गड़े हुए खम्भों (Bored Columns) के द्वारा ऊँचे स्तर से नीचे की ओर पानी इन्हीं खम्भों के द्वारा लाया जाता है जो हम आधुनिक टंकियों में भी वैसा ही देखते हैं। चौथी विधा को हम आधुनिक Boring के रूप में विभाजित कर सकते हैं।

समरांगणके इस यन्त्राध्याय में इन चारों वारि-यन्त्रों के अतिरिक्त और भी वारि-यन्त्र संकेतित किए गए हैं जैसे दारुमय-हस्ति-यन्त्र जिसमें कितना वह पानी पी रहा है, कितना छोड़ रहा है—यह दिखाई नही पड़ता। उसी प्रकार फोहारों underground conduit) का भी इन विवरणों से ऐसे निदर्शन प्राप्त होते हैं। भारत की विख्यात नगरी चंडीगढ़ के समीप एक अति प्रख्यात तथा अत्यन्त अनुपम जो मुगल-कालीन विलास-भवन पिञ्जौर उद्यान के नाम से यहा पर पर्यटको का आकर्षक केन्द्र है, वहां पर इस प्रकार के वारि एवं धारा यन्त्रो की सुषमा देखें तो हमारे प्राचीन स्थापत्य-कौशल का पूर्ण परिपाक इन निदर्शनो से भी पूर्ण प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है।

६ धारा-यन्त्र—हम वारि-यन्त्रों के साथ इन धारा-यन्त्रो को नहीं लाएं। धारा-गृह स० सू० के इस यंत्राध्याय मे बड़े ही विवरणों एवं प्रकारों मे प्रतिपादित हैं। वे विवरण इतने मनोरंजक, पारिभाषिक तथा पृथुल हैं जिनको हम पूर्ण स्थापत्य का विलास मानते हैं। स्थपति की चार श्रेणीयां हैं:-

१ स्थपति	२ सूत्रग्राही
३ वर्द्धकि तथा	४ तक्षक

धारा-यन्त्रों के निर्माण में इन चारों का कौशल एवं विलास दिखाई पड़ता है। धारा-गृहों के निम्न पांच वर्ग प्रतिपादित किए गए हैं:—

१ धारा-गृह
२ प्रवर्षण
३ प्रणाल
४ जलमग्न
५ नन्द्यावर्त।
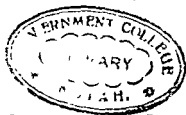
धारा-गृह—एक प्रकार से उद्यान क Shower Bower के रूप में विभावित कर सकते हैं। इस प्रकार का धारा-गृह मध्यकालीन युग में सभी राज-भवनों—प्रावास-भवनों एवं विलास-भवनों के अनिवार्य अंग थे। यह धारा-गृह पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दोनों संस्कृतियों के प्रोल्लास माने गए हैं। जिस प्रकार वितान-वास्तु (Dome Architecture) को जो नवीन दृष्टि से समीक्षा की है और यह धारणा कि यह वास्तु-तत्व फारस की देन है, वह कितनी भ्रामक धारणा है उसको स० सू० के वितान और लुमा वास्तु-शिल्प के द्वारा जो निराकरण किया वह पीछे द्रष्टव्य है; उसी प्रकार जिन विद्वानों की यह धारणा है कि ऐसे धारा-गृहो का मुगलों ने यहां पर श्रीगणेश किया था, वह भी अत्यन्त-

भान है। यह ग्रन्थ ग्यारहवी शताब्दी का प्रधिकृत ग्रन्थ है, जिसमे धारा-गृहो के नाना प्रकार एवं स्थापत्य-कौशल के जो प्रचुर प्रमाण मिलते हैं उससे यह धारणा अपने आप निराकृत हो सकती है। मध्यकालीन स्मारको मे कोई भी ऐसा धारा-यन्त्र इस देश मे नही प्राप्त होता है जो मुगलों से पूर्व बना हो। अस्तु तथापि संस्कृत के विभिन्न प्राचीन काव्यो को देखें—कालिदास, भारवि, माघ सोमदेव-सूरि, जिनके काव्यों मे इन धारा-यन्त्रो के बड़े आकर्षक और महत्वपूर्ण संदर्भ प्राप्त होते है। कालिदास के मेघदूत की निम्न पंक्ति पढ़ें :-

"नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम्"

सोमदेव-सूरि के टीकाकार इन धारा-गृहो में जो हमने एक प्रवर्षण की विधा दी है, इसको "कृत्रिम-मेघमन्दिरम्" नाम से प्रकीर्तित किया है। इस ग्रन्थ मे भी इस विधा को "प्रनुरक्णमेकं जलमुचाम्" के नाम से स्वयं प्रतिपादित किया है। धारा-गृह को हम उद्यान की शोभा के रूप मे पहले ही कीर्तित कर चुके हैं। प्रवर्षण पर भी थोड़ा सा संकेत ऊपर कर चुके हैं। तीसरा प्रकार प्रणाल के नाम से विश्रुत है जो एक दुतल्ला धारा-गृह बनाया जाता है, जिसमे एक अथवा चार अथवा आठ अथवा सोलह खम्भे बनाए जाते हैं, तो पुष्पक-विमान के रूप मे निर्मित होता है। इस धारा-गृह के केन्द्र मे जलाशय का निर्माण होता है, जिसमे एक पद्माकृति पीठ बनाया जाता है। वहीं पर राजा के बैठने की जगह बनाई जाती है और चारो ओर सुन्दर युवतियो की प्रतिमाएं बनाई जाती हैं, जिनकी आँखें इस पद्म को देखती हुई दिखाई जाती हैं। ज्यों ही ऊपर का जलाशय पानी से भर दिया जाता है और बन्द कर दिया जाता है त्यों ही इन प्रतिमा-चित्रों से पानी निकलने लगता है और एक महान् मनमोहक वातावरण उत्पन्न होता है और इस प्रकार से वहाँ पर राजा बैठा हुआ जल से भीगता हुआ आनन्द लेता है।

जलमग्न यथानाम जलाशय के भीतर वरुण अथवा नागराज के प्रासाद के समान यह प्रासाद विभाव्य है। यह एक प्रकार का अन्तःपुर है। यहां पर केवल थोड़े से ही प्रधान पुरुष जैसे राजकुमार, राजदूत यहां पर आ सकते हैं। पाचवीं कोटि नन्द्यावर्त की है, जिसके निर्माण मे स्थापत्य एवं चित्र-कौशल भी अनिवार्य है, क्योंकि यह धारा-गृह नन्द्यावर्त, स्वस्तिक आदि विच्छित्तियों से अलंकृत होना आवश्यक है। यह आँख-मिचौनी के लिए बड़ा उपादेय माना

क्षय-वृद्धि है। बिना इस क्षय-वृद्धि-प्रक्रिया के वर्ण-विन्यास, वर्णोज्ज्वलता एव वार्णिक वैशिष्ट्य सम्पन्न नहीं होता। चित्र-कौशल मे शास्त्र ने जो प्रतीकात्मक रूढ़ियां (Conventions) प्रदान की हैं, उनके बिना चित्र दर्शन-मात्र से उसकी पूर्ण पहिचान और उसकी व्याख्या तथा पूरी समझ असम्भव है। अपराजित-पृच्छा मे चित्र के सद्भाव का इतना व्यापक दृष्टिकोण प्रकट किया गया है जिसमें स्थावर और जगम सभी पदार्थ सम्मिलित हैं, तो इनके रूप, उनके कार्य, उनकी चेष्टाएं तथा उनकी क्रियाएं अथवा उनका प्राकृतिक सौन्दर्य एव याथातथ्य चित्रण कैसे सम्भव हो सकता है, जब तक हम इन रूढ़ियो (Conventions) का सहारा न लें। चित्र-कौशल का अन्तिम प्रकर्ष भावाभिव्यक्ति एवं रसानुभूति है। चित्र-शास्त्र के जितने भी ग्रन्थ प्राप्य हैं उनमे एकमात्र समरागण-सूत्रधार ही है, जिसमे चित्र के रसो एव चित्र की दृष्टियो का वर्णन किया गया है। धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव से बढ़कर हमारे देश मे इतना उद्भट और प्रसिद्ध-कीर्ति, शृगारिक अर्थात् काव्य-तत्व-वेत्ता (Aesthetician) नही हुआ है। जहा उसने शृगार-प्रकाश की रचना की वहा, उसने वास्तु के ऐसे अप्रतिम ग्रन्थ समरागण-सूत्रधार की भी रचना की। इस महायशस्वी लेखक ने चित्र को भी काव्य की गोद मे खेलता हुआ प्रदर्शित कर दिया। इस प्रकार मेरी दृष्टि में यह ग्रन्थ विष्णु-धर्मोत्तर से भी आगे बढ गया और बाजी मार ले गया। विष्णु-महापुराण के परिशिष्टाग विष्णुधर्मोत्तर के चित्र-सूत्र को देखे तथा परिशीलन करें तो वहां पर यह पूर्ण रूप से प्रकट है कि बिना नृत्य के चित्र दुर्लभ है :—

> बिना तु नृत्य-शास्त्रेण चित्रसूत्र सुदुर्विदम् ।
> यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता ।।
> दृष्टयश्च तथा भावा अङ्गोपाङ्गानि सर्वशः ।
> कराश्च ये महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम ।।
> त एव चित्रे विज्ञेया नृत्त चित्र परं मतम् ।।

यद्यपि इस अवतरण मे नाट्य-हस्त, नृत्य-हस्तों के साथ दृष्टियो का भी संकेत अवश्य है, परन्तु उसमे प्रतिपादन नही। अतः इस कमी को समरागण-सूत्रधार ने पूर्ण कर दी। इस ग्रन्थ मे चित्र के ग्यारह रस और अठारह रस-दृष्टियां प्रतिपादित की गयी हैं, जिनकी हम आगे व्याख्या करेंगे। हमने अपने चित्र-लक्षण मे चित्रकला को नाट्य और काव्य से और ऊपर उठाकर रस-सिद्धान्त एवं ध्वनि-सिद्धान्त में लाकर परिणत कर दिया है। मम्मट ने अपने

काव्य-प्रकाश में काव्य की त्रिविधा से जो चित्र-काव्य को तीसरी कोटि दी गयी है, उसका आशय एक-मात्र व्यंग्याभाव एवं शब्द-चित्रता तथा अर्थ-चित्रता से ही तात्पर्य नहीं है, उसमें इस इस शब्द के प्रयोग में एक बड़ा मर्म भी छिपा है। मेरी दृष्टि में जिस प्रकार काव्य में शब्दों एवं अर्थों के द्वारा व्यंग्य की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि व्यंजना के लिए व्यंजकों की आवश्यकता है, तो क्या व्यंजक व्यंग्य की ओर सहृदयों को नहीं ले जा सकते। जिस प्रकार कोई युवती अतिरमणीय होते हुए यदि वह नाना शृंगारों से सुसज्जित, नाना विलासों से मंडित, अनेक नेपथ्यों से विलसित क्या वह कई व्यंग्यों की ओर इशारा नहीं कर सकती? किसी कुशल चित्रकार के चित्र को देखें, उसमें कितने व्यंग्य छिपे हैं जो एक-मात्र वर्णों एवं आकारों तथा कुछ बन्धनों (Back-grounds) के साथ साथ अन्य नाना किसने आकूत अपने आप आपतित हो जाते हैं।

अस्तु, अब इस उपोद्घात के अनन्तर हमें अपने इस अध्ययन में अध्ययन की रूपरेखा की कुछ अवतारणा अवश्य करनी है जो निम्न तालिका में द्रष्टव्य है :—

१. चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थ,
२. चित्र-कला का ललित कलाओं में स्थान, उद्देश्य, जन्म और विस्तार,
३. चित्रांग (Elements-Constituents and Types),
४ वर्तिका तथा भूमि-बन्धन,
५. अंडक-प्रमाण,
६. लेप्य-कर्म,
७. आलेख्य—कर्म-वर्ण एवं कूर्चक, कान्ति एवं विच्छित्ति तथा क्षय-वृद्धि सिद्धान्त,
८. आलेख्य-रूढ़ियां (Conventions),
९. चित्र-कला तथा काव्य-कला, नाट्य-कला, नृत्य-कला तथा भावाभिव्यक्ति—ध्वनि एवं रसास्वाद,
१०. चित्र-शैलियां-पन एवं कण्टक,
११. चित्रकार,
१२. चित्रकला पर ऐतिहासिक विहगम दृष्टि :—
    (अ) पुरातत्त्वीय,
    (ब) साहित्य-निबन्धनीय।

चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थ :—संस्कृत में केवल चित्र पर निम्नलिखित पाच ग्रन्थ ही प्राप्य हैं :—

१. विष्णुधर्मोत्तर—तृतीय भाग-चित्रसूत्र ;
२. समरागण-सूत्रधार—देखिए इस अध्ययन में चित्र-शास्त्रीय अध्याय-तालिका ;
३. अपराजित-पृच्छा ;
४. अभिलषितार्थ-चिन्तामणि (मानसोल्लास) ;
५. शिल्प-रत्न ।

इन ग्रन्थो (पूर्व एव उत्तर मध्यकालीन कृतियों) के अतिरिक्त सर्वप्राचीन-कृति नग्नजित् का चित्र-लक्षण है । नग्न-जित् के सम्बन्ध मे ब्राह्मणों (ब्राह्मण-ग्रन्थो)मे भी सकेत मिलते है । यह मौलिक कृति अप्राप्य है । सौभाग्य से तिब्बती भाषा में इसका अनुवाद हुआ था, जिसका रूपान्तर अब भी प्राप्य है। डा० राघवन ने (देखिए Some Sanskrit texts on Painting I.H.Q Vol. X 1933) जिन दो अन्य चित्र-सम्बन्धी शिल्प-ग्रन्थों की सूचना दी है, वे हैं

१. सारस्वत-चित्र-कर्म-शास्त्र,
२. नारद-शिल्प ।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त वासवराज-कृत शिवतत्व-रत्नाकर नामक ग्रन्थ सत्रहवी शताब्दी के उत्तर अथवा अठारहवी शताब्दी के पूर्व भाग मे कन्नड भाषा मे संस्कृत मे रूपान्तरित किया गया था । शिवराम मूर्ति ने भी चित्र-शास्त्रीय कृतियो के सम्बन्ध मे खोज की है । परन्तु मेरी दृष्टि में ये ही सात ग्रन्थ अधिकृत माने जा सकते हैं ।

जहा तक चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो के अध्ययन का प्रश्न है उनका सर्वप्रथम श्रेय डा० कुमारी स्टेला क्रैमरिश को है, जिन्होंने विष्णु-धर्मोत्तर के इस चित्र-सूत्र का अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा एक भूमिका भी लिखी। उसके बाद आधुनिक भारतीय विद्या (Indology) मे सर्व प्रथम सारे ग्रन्थों को लेकर अनुसधानात्मक एवं शास्त्रीय अध्ययन जो मैंने अपने Hindu Canons of Painting or चित्रलक्षणम् १९५८ मे प्रस्तुत किया था उसकी विद्वानों ने बड़ी प्रशंसा की। यह प्रबन्ध मेरी डी० लिट० थीसिस—Foundations and Canons of Hindu Iconography and Painting का अंग था। महामहोपाध्याय डा० वासुदेव विष्णु मिराशी, डा० जितेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा स्वर्गीय वासुदेव शरण अग्रवाल,

इन विद्वानों की भूरि प्रशंसा से मुझे बड़ा प्रोत्साहन मिला। यह ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखा गया था। वैसे तो हिन्दी में मैंने प्रतिमा-विज्ञान Iconography पर एक बृहद् ग्रन्थ लिख ही चुका हूं, जो मेरे इस दश-ग्रन्थ-आयोजन का वह प्रमुख अंग था। चित्र पर अभी तक हिन्दी में शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ। अतः अब मैं अपने इस ग्रन्थ में प्रतिपादित शास्त्रीय विवेचन का जहां तक समरांगण-सूत्रधार के चित्र-सम्बन्धी विषयों से मेल खाता है, उसी को लेकर मैं अब इस अध्ययन में अशेष रूप से नवीन दृष्टिकोण से रखने का प्रयास करूंगा।

हमने चित्र-शास्त्रीय प्राप्य ग्रन्थों पर पहले ही संकेत कर दिया है। उनके विषय-विवेचन अथवा उनके अध्यायों की अवतारणा की यहां पर संगति सार्थक नहीं। अतः समरांगण के चित्र-सम्बन्धी अध्यायों के सम्बन्ध में थोड़ा सा विवेचन आवश्यक है।

इसमें सन्देह नहीं कि समरांगण-सूत्रधार का भवन-खंड, प्रासाद-खंड, राज-भवन-खंड ये सभी खंड सम्बद्ध एवं परिपुष्ट हैं, परन्तु चित्र-खंड गलित तथा भ्रष्ट भी है। चूंकि चित्र का अर्थ हमने प्रतिमा माना है और प्रतिमाएं जो पाषाणी हैं अथवा धातुल्या हैं, वे इस सन्दर्भ में अविवेच्य नहीं हैं। चित्र पर (मृन्मयी, काष्ठमयी पाषाणी, धातुजा, रत्नजा तथा आलेख्य) केवल १४ अध्याय हैं, जिसमें केवल एक ही अध्याय आलेख्य-चित्र में परिगणनीय नहीं है वह है:—

लिंग-पीठ-प्रतिमा-लक्षण

अतः इसको हम प्रासाद-शिल्प में प्रासाद-प्रतिमा के रूप में व्यवस्थापित करेंगे। इन अध्यायों की तालिका की ओर संकेत करने के पूर्व हमें यह भी बताना है कि लगभग निम्नलिखित सात अध्याय, आलेख्य-चित्र तथा पाषाणादि-द्रव्यजा चित्र इन दोनों के सर्व-सामान्य (Common and Complimentary) अङ्ग हैं:—

१ देवादि-रूप-प्रहरण-संयोग-लक्षण ;
१ दोष-गुण-निरूपण ;
३ ऋज्वागतादि-स्थान-लक्षण ;
४ वैष्णवादि-स्थानक-लक्षण,

गया है। इस स्थूल समीक्षा के उपरान्त हमारा यह संकेत है कि पाठक इस ग्रन्थ में अनुवाद-स्तम्भ को ध्यान से पढ़ें तो इस कारीगरी और स्थापत्य-कौशल का कितना महत्वपूर्ण मूल्यांकन प्राप्त हो सकेगा।

*७. दोला-यन्त्र—इसको रथ-दोला भी कहते हैं। धारा-गृह के समान इसके भी पांच निम्न प्रकार वर्णित किये गए हैं:—

१. वसन्त २. मदनोत्सव ३ वसन्त-तिलक ४ विभ्रमक तथा ५. त्रिपुर।

जहां कहीं भी हमारे देश मे मेले होते हैं वहां पर झूले अवश्य गाड़े जाते है और बच्चे उन पर चढ़कर प्रसन्न होते हैं, घूमते हैं और घुमाये जाते हैं। लेकिन ये झूले स्थापत्य-कौशल की दृष्टि से कोई अर्थ नहीं रखते। स० सू० के इस यंत्राध्याय में दोला-यन्त्रों के जो विवरण प्राप्त होते हैं, वे इतने प्रकृष्ट हैं कि वे साक्षात् यन्त्र हैं, जिन में यन्त्र ही उनको चलाते हैं। जो रूप झूलों के हम आज देखते हैं, वे अति सामान्य हैं। अनुवाद को यदि आप देखें तो कोई दोला जैसे वसन्त-तिलक, वह द्विभौमिक है और त्रिपुर तो ऐसा आभास प्रदान करेगा मानों तीन नगरियां दिखाई पड़ रही हैं। इन सब के विवरण अनुवाद में ही द्रष्टव्य हैं। हमने अपने Vastusastra—Vol. I Hindu Science of Architecture with special reference to Bhoja's Samrangana-Sutradhara मे इस की जो विशेष समीक्षा की है और वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन किया है, वह इस ग्रन्थ में विशेष द्रष्टव्य है।

विमान-यन्त्र:—अब आइये यान-यन्त्र पर। हमें उस पर विशेष रूप से कीर्तन करना है। यान-यन्त्र की जो श्रेणी हमने चौथी दी थी, उसको यहां पर अन्तिम विधा में विवेच्य माना है। इस यंत्राध्याय में यान यन्त्र अर्थात् विमान-यन्त्र पर जो प्रतिपादन है, वह इस यन्त्र की सब से बड़ी विभूति है, जिसका अन्य शिल्प-ग्रन्थ में कोई भी विवरण नहीं है। कालिदास से लगाकर आगे के नाना ग्रन्थों—काव्यों, नाटकों आदि में यद्यपि सर्वत्र ही संकेत प्राप्त हैं, परन्तु रचना-विधि अन्यत्र अप्राप्य है। साहित्यिक सन्दर्भों की जितनी महत्ता है, उतनी महत्ता जन-श्रुतियों की भी मानी जा सकती है। बहुत दिनों तक मध्य भारत के गांव-गांव में यह जन-श्रुति थी कि महाराजाधिराज धाराधिप भोजदेव के दरबार में अश्वमुखी नाम का एक विमान था, तो विमान-रचना भी इस काल में अवश्य थी। परन्तु तो फिर विमान-यन्त्र की रचना में जो पूरे के पूरे विवरण हैं उनमें

*टि० यद्यपि हमने यन्त्रों की षड्-विधा ही दी है परन्तु रथ्या और संग्राम (जो एक ही विधा हैं) इन दो विधाओं के विवरण की दृष्टि से सप्तधा कर दी है।

केवल दो ही तत्व प्राप्त होते हैं अर्थात् अग्नि और पारा तथा आकार और संभार भी। निम्नलिखित उद्धरण पढ़िए :—

> लघुदारुमय महाविहंगं दृढसुश्लिष्टतनुं विधाय तस्य ।
> उदरे रसयन्त्रमादधीत ज्वलनाधारमधोऽस्य चाग्निपूर्णम् ॥
> तत्रारूढः पूरुषस्तस्य पक्षद्वन्द्वोच्चालितप्रोज्झितेनानिलेन ।
> सुप्तस्वान्तः पारदस्यास्य शक्त्या चित्रं कुर्वन्नम्बरे याति दूरम् ॥
> इत्थमेव सुरमन्दिरतुल्यं सञ्चलत्यलघु दारुविमानम् ।
> आदधीत विधिना चतुरोऽन्तस्तस्य पारदभृतान् दृढकुम्भान् ॥
> अयः कपालाहितमन्दवह्निप्रतप्ततत्कुम्भभुवा गुणेन ।
> व्योम्नो झटित्याभरणत्वमेति सन्तप्तगर्जद्रसराजशक्त्या ॥

जैसा हमने ऊपर सकेत किया कि इस विमान-यन्त्र-वर्णन में सारे विवरण प्राप्त नही होते, तथापि रचना-प्रक्रिया अज्ञात नही थी, चूंकि यह काल सामन्त-वादी (Aristocratic Age) था, अतः प्राकृत जनों के लिए यह भोग और विलास नही प्रदान किए गए। अतएव इनका एक-मात्र राज-भोग मे ही गतार्थ किया गया। अतः इन विद्याओं एवं कलाओं का संरक्षण एक-मात्र राजाश्रय ही था। अतः शास्त्रीय ढंग से जब इनकी व्याख्या अथवा प्रतिपादन आवश्यक था तो ग्रन्थ-कार ने इसी मूलभूत प्रेरणा के कारण बहाना दिया जो निम्न श्लोक को पढ़ने से प्राप्त होता है :—

> "यन्त्राणां घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात् ।
> तत्र हेतुरयं ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदाः ॥

यह हम अवश्य स्वीकार करते हैं कि पारम्पर्य कौशल, सोपदेश शास्त्राभ्यास वास्तुकर्मोद्यमा बुद्धि—यह सभी इस प्रकार की यान्त्रिक घटना और पारिभाषिक ज्ञान के लिए अनिवार्य अंग हैं, तथापि यह बहाना भी तार्किक नहीं है। तथ्य यह है कि प्राचीन वाङ्मय के रहस्य की कुंजी रहस्य-गोपन है। अन्त मे इस यंत्राध्याय की समीक्षा मे यह अवश्य हमे स्वीकार करना है कि हमारे देश मे यन्त्र-विद्या की कमी नहीं थी।

भारत की प्राचीन संस्कृति मे मन्त्र, तन्त्र और यन्त्र तीनों ही अपनी अपनी दिशा में विकास एवं प्रोल्लास की ओर जाते रहे, परन्तु जिस प्रकार वैदिक युग मे मंत्रों का प्राबल्य था, फिर कालान्तर मे विशेष कर मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल मे तन्त्रों का इतना प्राबल्य हुआ कि यन्त्रों के भौतिक विकास को

प्रश्रय न देकर एक-मात्र इनको चित्र में चित्रित कर दिया। अतएव तान्त्रिक लोगों ने मन्त्र-बीज, तंत्र-बीज, यन्त्र-बीज—इन्हीं उपकरणों से एवं उपलक्षणों से भौतिक यन्त्रों को एक-मात्र नाम-मात्र की अभिधा में गतार्थ कर दिया।

बात यह है कि समरागण-सूत्रधार के यंत्राध्याय के प्रथम श्लोक (मंगला-चरण) को पढ़ें, साथ ही साथ गीता के श्लोक को भी पढ़ें जो नीचे उद्धृत किए जाते हैं, तो हमारे इस उपर्युक्त मत का अपने आप पोषण हो जाता है। अर्थात् यन्त्रों को अध्यात्म-विभूति में पर्यवसित कर दिया अन्यथा हमारा देश इस यान्त्रिक विज्ञान से पीछे न रहता :—

जडानां स्पन्दने हेतुं तेषा चेतनमेककम् ।
इन्द्रियाणामिवात्मानमधिष्ठातृतया स्थितम् ॥
भ्राम्यद्दिनेशशशिमण्डलचक्रशस्तमेतज्जगत्त्रितययन्त्रमलक्ष्यमध्यम् ।
भूतानि बीजमखिलान्यपि संप्रकल्प्य यः सन्ततं भ्रमयति स्मरजित्सवोऽव्यात् ॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

राजसी कलायें

चित्र-कला

हमने अपने उपोद्‌घात में पहले ही यह संकेत कर दिया है कि चित्र का अर्थ एकमात्र आलेख्य नहीं, चित्र का अर्थ वास्तव में प्रतिमा है; अतएव इस अध्ययन में चित्र को हम निम्न दो दृष्टि-कोणों से देखेंगे और साथ ही साथ दो वर्गों में विभाजित करेंगे। लौकिक दृष्टि से आलेख्य चित्र का प्रथम उपन्यास करेंगे। पूर्वोक्त चित्र की विधा—कोटि को अब हम दो में कवलित कर सकते हैं १. चित्राभास अर्थात् आलेख्य, २. चित्रार्ध एवं चित्र अर्थात् प्रतिमा आंशिक अथवा पूर्ण।

सर्व-प्रथम आलेख्य चित्र पर कितने ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, थोड़ा सा संकेत करना आवश्यक होगा, पुनः आलेख्य-कला का ललित कलाओं में क्या स्थान है यह भी प्रतिपाद्य होगा। पुनः चित्र-कला का जन्म कैसे हुआ और उसका विस्तार (क्षेत्र अथवा विषय, कैसा है—इस पर भी समीक्षण आवश्यक है। पुनः चित्रकला के अंगों (चित्रांग) तथा विधाओं (Types) का सविस्तार वर्णन करना होगा। शिल्प-ग्रन्थों की दृष्टि से वर्तिका-निर्माण, वर्तिका-वर्तन एवं वर्ण-संयोग (colouring) तो चित्र-विद्या के सबसे प्रमुख कौशल हैं। परन्तु इस कौशल को प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार शास्त्र भी चित्र-विद्या का प्रमुख अंग है। वास्तु, शिल्प, एवं चित्र की दृष्टि से नाप तीसरी प्रमुख विशेषता है। कोई भी शिल्प बिना नाप के कला के रूप में नहीं परिणत की जा सकती। इस लिए चित्र के विभिन्न साधनों में प्रमाण भी उतने ही प्रशस्त प्रकल्पित किए गए हैं। Pictorial Pottery और Pictorial Iconometry दोनों ही एक स्तर पर अपनी महत्ता रखते हैं। मध्यकालीन चित्रकार विशेषकर मुगलों के दरबार में जो चित्रकार अपनी ख्याति से इतिहास में आज भी विद्यमान हैं, वे बिना अंडक-वर्तना (बादाम') के कोई चित्र नहीं बनाते थे। इस प्रकार विष्णुधर्मोत्तर, समरांगण-सूत्रधार तथा मानसोल्लास इन तीनों ग्रन्थों की दृष्टि से अंडक-वर्तना चित्र-कौशल में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतीय चित्र-शास्त्र की दृष्टि से सबसे बड़ा भूलभेद्विका-कौशल

५ पंच-पुरुष-स्त्री-लक्षण,

६ रस-दृष्टि-लक्षण,

७ पताकादि-चतुष्षष्टि-हस्त-लक्षण,

जहां तक इन अध्यायों की विवेचना है, वह अनुवाद से स्वतः प्रकट है, अतः वही द्रष्टव्य हैं और यहां पर उनका विस्तार अनावश्यक है।

अस्तु, जो आलेख्य (Painting) से ही एक-मात्र सम्बन्धित हैं, उन अध्यायों की तालिका निम्न है :—

चित्रोद्देश,
भूमि-बन्धन,
लेप्य-कर्म,*
अण्डक-प्रमाण,
मानोत्पत्ति तथा
रस-दृष्टि

चित्रकला का उद्देश्य, उद्भव तथा विषय (Scope)

चित्र-कला के उद्भव में हमारे देश में दो दृष्टि-कोणों ने इस ललित-कला को जन्म दिया। वैसे तो कला, संस्कृति एवं सभ्यता का अभिन्न अंग माना गया है। जिस देश की जैसी सभ्यता एवं संस्कृति होगी वैसी ही उस देश की कलाएं होंगी। भारतीय संस्कृति और सभ्यता में अध्यात्म और भौतिक अभ्युदय दोनों को ही माप-दण्ड के रूप में परिकल्पित किया गया है। वैदिक इष्टि (यज्ञ-संस्था) के बाद जब पूर्त-धर्म (देवालय-निर्माण एवं देव-पूजा) ने अपने महान् प्रकर्ष से इस देश में पूरी तरह से पैर फैला दिए, तो प्रतिमा-पूजा अनायास विकसित और प्रवृद्ध हो गई। हमने अपने उपोद्घात में चित्र पद की परिभाषा में प्रतिमा शब्द की ओर पूर्ण रूप से परिचय दे ही दिया है—चित्र, चित्रार्ध, चित्राभास। अतः जहां पाषाण-निर्मिता तथा मृण्मयी (पार्थिवा, जैसे *पार्थिव लिंग*) एवं धातुजा प्रतिमाएं पूजा के लिए बनाई जाती थीं, क्योंकि ज्ञानी और योगी तो बिना प्रतिमा के भी ब्रह्म-चिन्तन एवं ईश्वराराधन कर सकते थे; परन्तु महान् विशाल समाज सारा का सारा ज्ञानी और योगी नहीं परिकल्पित किया जा सकता, अतएव इसी दृष्टि को रखकर हमारे आचार्यों ने स्पष्ट उद्घोष किया :—

"अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिता."

"सगुण-ब्रह्म-विषयक-मानस-व्यापार उपासनम्"

"चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप-कल्पना ॥

"आदित्यमम्बिका विष्णुं गणनाथं महेश्वरम् ।
पंच-यज्ञ-परो नित्यं गृहस्थः पञ्च पूजयेत ॥"

जहां प्रासादों में प्रतिष्ठापित प्रतिमाएं पूज्य हैं, उसी प्रकार पट्ट, पट, कुड्य चित्र भी उसी प्रकार पूज्य बने । हयशीर्ष-पंचरात्र वैष्णव आगमों और तन्त्रों में एक प्रमुख स्थान रखता है । उसका यह निम्न प्रवचन पढ़ें तो उपरोक्त हमारा सिद्धान्त पूर्ण रूप से पुष्ट हो जाता है :—

यावन्ति विष्णुरूपाणि सुरूपाणीह लेखयेत ।
तावद् युगसहस्राणि विष्णुलोके महीयते ॥
लेप्ये चित्रे हरिर्नित्यं सन्निधानमुपैति हि ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन लेप्यचित्रगतं यजेत् ॥
कान्तिभूषणभावाद्यैश्चित्रं यस्मात् स्फुटं स्थितः ।
अतः सन्निधिमायाति चित्रजासु जनार्दनः ॥
तस्मच्चित्रार्चने पुण्यं स्मृतं शतगुणं बुधैः ।
चित्रस्थं पुण्डरीकाक्षं सविलासं सविभ्रमम् ॥
दृष्ट्वा मुच्यते पापैर्जन्मकोटिसमुच्चितैः ।
तस्माच्छुभाभिर्मिभींरैः महापुण्यजिगीषया ॥
पटस्थः पूजनीयस्तु देवो नारायणः प्रभुः ।
—हयशीर्षपंचरात्रात्—

लगभग दो हजार वर्षों की परम्परा है कि जो भी यात्री, दर्शनार्थी, पुरी जगन्नाथ के दर्शनार्थ तीर्थ-यात्रा करता है, वह भगवान् जगन्नाथ के पटों को जरूर लाता है । आज भी प्रायः उत्तरापथ में प्रत्येक घर में स्त्रियां अपने पुत्रों के आयुष्य एवं उनके कल्याण के लिए किसी न किसी दिन विशेष कर वासन्त मासों (चैत्र एवं वैशाख) में किसी न किसी चन्द्रवार के दिन पट पर भगवान् जगन्नाथ की पूजा करती हैं, नाना प्रकार के मिष्टान्नों से उनका भोग लगाती हैं एवं वासन्त कुसुमों विशेषकर पलाश पुष्प (टीसू) अवश्य चढ़ाती हैं । अतः उपर्युक्त यह हयशीर्ष-पंचरात्रीय प्रवचन कितना अधिकृत एवं अति प्राचीन परम्परा का प्रतिष्ठापक एवं उद्बोधक है, वह अनायास संगत एवं सुप्रतिष्ठित हो जाता है ।

यह तो हुआ धार्मिक उद्भव, जहां तक भौतिक दृष्टि-कोण का सम्बन्ध है, उसमे वात्स्यायन के काम-सूत्र में प्रतिपादित चतुष्षष्टि-कला (६४ कलाओं) का जो महान् प्रोल्लास प्राप्त होता है, उसका पूरा का पूरा सम्बन्ध नागरिक सभ्यता, नागरिकों के जीवन के अभिन्न अंग की प्रतीकात्मता को दृढ करता है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि दो हजार वर्ष से भी अधिक पुरानी बात है कि प्रत्येक नागरिक के घर में रंग का प्याला और रगने की लेखा (bowl and brush) दोनों गृहस्थी के अनिवार्य अंग थे। आप महाकवि कालिदास के काव्यों को पढ़ें, महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी देखें—कितना चित्र-कला का विलास था। हमने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ (Hindu Canons of Painting) मे यह सब पूरी तरह से समीक्षा प्रदान की है। वह वहां विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

चित्र-कला के उद्भव में चित्र-शास्त्र की सर्वप्रथम कृति एव अतिप्राचीन संस्कृत ग्रन्थ नग्न-जित् के 'चित्र-लक्षण' मे जो चित्रोत्पत्ति की मनोरञ्जक कहानी है वह यहां अवतार्य है :—

"पुरानी कहानी है कि एक बड़ा ही उदार, धर्मात्मा तथा पूतात्मा राजा था, जिसका नाम था भयजित्। सभी प्रजाएं सानन्द थी। अकस्मात् एक दिन एक ब्राह्मण उसके दरबार मे आ पहुंचा और जोर से चिल्लाता हुआ बोला 'ऐ राजन्, सत्यतः आपके राज्य मे पाप है, नही तो मरा पुत्र अकाल-मृत्यु के गाल मे कैसे कवलित हो गया? कृपा करके मेरे पुत्र को मृत्यु के पजो से छुड़ाओ और उस लोक से पुनः इसी लोक मे लाओ। राजा ने तत्क्षण ही यमराज से प्रार्थना की—हे यमराज जी महाराज! इस बालक को लाओ अन्यथा घोर युद्ध होगा। यमराज ने जब प्रार्थना अनसुनी कर दी, तो फिर दोनो मे घनघोर युद्ध हो गया और अन्ततोगत्वा यम हार गया। विधाता ब्रह्मा किंकर्तव्य-विमूढ हो गये। तत्क्षण वे वहां आविर्भूत हो गये और राजा से कहा राजन्! जीवन एव मरण तो कर्म पर आश्रित हैं। यम का अपना व्यक्तिगत तो कोई हाथ नहीं। तुम इस बच्चे का चित्र बनाओ। ब्रह्मा की आज्ञा शिरोधार्य कर उसने चित्र बनाया और ब्रह्मा ने उसमें जीवन डाल दिया और राजा को सम्बोधित कर कहा :—

"यतः तुमने इन नग्नों—प्रेतों को भी जीत लिया—अतः तुम आज से हे राजन्! नग्न-जित् के नाम से विश्रुत हो गये। तुम इस ब्राह्मण बालक का चित्र मेरी ही कृपा या आशीष से बना सके हो। संसार में यह प्रथम चित्र है। तुम जाओ दिव्य शिल्पी विश्वकर्मा के पास। विश्वकर्मा जी वास्तु-शिल्प-चित्र के

आचार्य हैं, वे तुम का सारा चित्र-शास्त्र एवं चित्र-विद्या पढ़ायेंगे।"

विष्णु-धर्मोत्तर अति प्राचीन एवं अधिकृत ग्रन्थ है उसका भी यहां चित्रोत्पत्ति वृतान्त उद्धरणीय है :—

नर-नारायण की कथा से हम परिचित ही है। जब भगवान् नारायण वदरिकाश्रम मे मुनिवेष-धारी तपश्चर्या करने लगे तो उन्हें हठात् चित्र-विद्या को जन्म देना पड़ा। कहानी है कि नर एवं नारायण दोनों ही इसी आश्रम में साथ साथ तपस्या कर रहे थे। अप्सराओं की अति प्राचीन समय से यह परम्परा रही है कि जब कोई मुनि या योगी तप करते हैं तो वे आकर बाधा डालती हैं, रिझाती हैं। विश्वामित्र-मेनका की कहानी से सभी परिचित हैं। ऐसी बाधा मे भगवान् नारायण ने कमाल कर दिया। तुरन्त ही आम्र-रस लेकर तथा अन्य वन्य-औषधियों को मिलाकर एक इतनी कमाल की खूबसूरत अप्सरा की रचना कर दी जो कोई भी देवी, गान्धर्वी, आसुरी, नागी या मानवी सुन्दरी उसका मुकाबला कर सके। अतः ये सारी की सारी दर्पो अप्सरायें इस नारायण-निर्मिता सुन्दरी अप्सरा को देख कर शर्मिन्दा हो कर सदा के लिये विलीन हो गयीं। यही अप्सरा पुनः सर्व-सुन्दरी अप्सरा ऊर्वशी के नाम से विश्रुत हो गयी।

विष्णु-धर्मोत्तर के एक दूसरे सन्दर्भ को पढ़ें, तो वहा पर शास्त्रीय उद्भव पर बड़ा मार्मिक एवं प्रबल प्रवचन प्राप्त होता है। मार्कण्डेय और वज्र के प्रश्न और उत्तर के रूप में विष्णु-धर्मोत्तर में चित्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे बड़ा ही मौलिक एवं सार्वभौमिक उद्देश्य एवं क्षेत्र की ओर सुन्दर एवं महत्वपूर्ण संकेत प्राप्त होता है। विष्णु-धर्मोत्तर में निराकार की कल्पना एवं उसकी साकार रूप मे पूजा बिना चित्र के असम्भव है। निराकार यथा-निरञ्जन न कोई रूप रखता है न गंध, न स्पंद, न शब्द, न स्पर्श, तो फिर इसको रूप मे कैसे परिणित किया जा सकता है—वज्र की इस जिज्ञासा मे मार्कण्डेय का उत्तर है कि प्रकृति और विकृति वास्तव मे परब्रह्म की लौकिक दृष्टि से दोनों भिन्न होते हुए भी, उसी के परिवर्तन-शील रूप हैं। ब्रह्म प्रकृति है और विश्व विकृति है। ब्रह्म की उपासना तभी सम्भव है जब उसे रूप प्रदान किया जाए। अतएव इसकी रूप-कल्पना के लिये चित्र के बिना यह सम्भव नहीं। जैसा कि हमने पहले ही रामोप-निषद् का प्रवचन पाठकों के सामने रख दिया है (चिन्मयस्येत्यादि)।

मध्यकालीन अधिकृत शिल्प-शास्त्रीय कृति अपराजित-पृच्छा मे चित्र के उद्देश्य, उत्पत्ति एवं क्षेत्र अथवा विस्तार पर जो प्रवचन है वह बड़ा ही मार्मिक

है और समस्त स्थावर एवं जंगम को चित्र की कोटि में केलि करा रहा है। निम्न अवतरण पढ़िये :—

चित्रमूलोद्भव सर्वं त्रैलोक्य सचराचरम्।
ब्रह्मविष्णुभवाद्याश्च सुरासुरनरोरगाः ॥
स्थावरं जंगमं चैव सूर्यचन्द्रौ च मेदिनी।
चित्रमूलोद्भवं सर्वं जगत्स्थावरजंगमम् ॥
वृक्षगुल्मलतावल्ल्य स्वेदजाण्डजरायुजाः।
सर्वे चित्रोद्भवा वत्स भूधरा द्वीपसागराः ॥
चतुरशीतिलक्षाणि जीवयोनिरनेकधा।
चित्रमूलोद्भवा सर्वे ससारद्वीपसागराः ॥
श्वेतरक्तपीतकृष्णा वर्णा वै चित्ररूपकाः।
तनौ च नखकेशादि चित्ररूपमिवाम्भसाम् ॥
भगवान् भवरूपश्च पश्यतीद परात्परम्।
आत्मवद्वै सर्वमिद ब्रह्मतेजोऽनुपश्यताम् ॥
पश्यन्ति भावरूपैश्च जले चन्द्रमसं यथा।
तद्वच्चि मयं सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मवादिनः ॥
विश्वं विश्वावतारश्च रचनाद्यन्तश्च सम्भवेत्।
आदि चित्रमय सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मचक्षुषा ॥
शिवशक्तेर्यथारूपं संसारे सृष्टिकोद्भवः।
चित्ररूपमिद सर्वं दिन रात्रिस्तथैव वै ॥
निमिषश्च पलं घट्यो यामः पक्षक एव च।
मासाश्च ऋतवश्चैव कालः संवत्सरादिकः ॥
चित्ररूपमिदं सर्वं संवत्सरयुगादिकम्।
कल्पादिकोद्भवं सर्वं सृष्टयाद्यं सर्वकर्मणाम् ॥
ब्रह्माण्डादिसमुत्पत्ती रचितारचिता तथा।
तेषां चित्रमिदं ज्ञेयं नानात्वं चित्रकर्मणाम् ॥
ब्रह्माण्डादिगणाः सर्वे तद्रूपाः पिण्डमध्यगाः।
आत्मा आत्मस्वरूपेण चित्रवत् सृष्टिकर्मणि ॥
आत्मरूपमिदं पश्येद् दृश्यमानं चराचरम्।
चित्रावतारे भावं च विधातुर्भाववर्णतः ॥
आत्मनः च शिव पश्येद् यद्वत्स्य जलचन्द्रमाः।

तद्व्चित्रमय सर्वं शिवशक्तिमय परम् ॥
ऊर्ध्वमूलमधः शार्वं वृक्षं चित्रमय तथा ।
शिवशक्त्यालय चैव चन्द्रार्कपवनात्मकम् ॥
सूर्यपीठोद्भवा शक्तिः संलग्ना ब्रह्ममार्गतः ।
लीयमाना चन्द्रमध्ये चित्रकृत् सृष्टिकर्मणि ॥
चित्रावताररूप तु कथित च परात्परम् ।
यतस्तु वर्तते चित्रे जगत्स्थावरजंगमम् ॥
देवी देवो शिवः शक्तिः व्याप्त यतश्चराचरम् ।
चित्ररूपमिद ज्ञेय जीवमध्ये च जीवकम् ॥
कूपो जले जलं कूपे विधिपर्यायतस्तया ।
तद्व्चित्रमय विश्व चित्र विश्वे तथैव च ॥

यह नहीं कहा जा सकता और न धारणा ही बनाई जा सकती है कि चित्र की उत्पत्ति अथवा उसका उद्देश्य एकमात्र धार्मिक था। चित्र-कला और चित्र-विद्या का, भौतिक सेवन से भी बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। हम पहले ही इस सम्बन्ध मे थोडा सा संकेत कर चुके हैं (देखिए वात्स्यायन का युग और उस समय की ६४ कलाएं)। गुप्त-कालीन इतिहास को पढ़े और उसके बाद के साहित्य काव्य नाटक आदि को पढ़ें तो ऐसा प्रतीत होता है कि नागरिकों के जीवन मे चित्र-कला एक अभिन्न अंग थी। पुनः वास्तु-शास्त्रीय एव शिल्प-शास्त्रीय दृष्टि से एक आधार-भौतिक सिद्धान्त यह भी है कि कोई भी वास्तु अथवा शिल्प कृति (Architecture or Sculpture), आलेख्य अथवा लेप्य (Paintings) के बिना पूर्ण कृति नही मानी जा सकती। जन-भवनो (Secular Architecture-Civil Architecture-Residential Houses) मे भी चित्र-सम्बन्धी योज्यायोज्य-व्यवस्था (Decorative Motifs) पर स० सू० मे बड़ा ही वैज्ञानिक विवेचन हैं (दे भवन-निवेश)। शिल्परत्न का निम्नलिखित प्रवचन कितना इस दृष्टि से वास्तु-शिल्प चित्र का अन्योन्याश्रय एव अभिन्नता प्रदर्शन करता है :

"एव सर्वविमानानि गोपुरादीनि वा पुनः ।
मनोहरतर कुर्यान्नानाचित्रैर्विचित्रनम् ॥"

अस्तु, इस थोड़ा सी समीक्षा में उद्देश्य, उत्पत्ति एवं विषय—सभी पर कुछ प्रकाश पड़ चुका। अब आइये—चित्राङ्गों पर।

अंग अवयव तथा विधा :—

षडङ्ग-चित्र :—वात्स्यायन के काम-सूत्र के लब्ध-प्रतिष्ठ टीकाकार यशोधर ने निम्न कारिका मे चित्र के प्रधान अंगो का करामलकवत् प्रतिपादित

किया है :—

"रूपभेदाः प्रमाणानि लावण्यं भावयोजनम्
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रं षडङ्गकम् ॥"

अर्थात् चित्र-कला के हमारे प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में निम्न चित्राग न केवल कला की दृष्टि से बल्कि रसास्वाद की दृष्टि से भी ये अग प्रतिपादित किए गये हैं, लेकिन चित्र. को हम दो दृष्टियों से समीक्षा करेंगे एक दर्शक और दूसरा चित्रकार। पहले से सम्बन्ध चित्र-कौशल से नहीं है चित्रालोकन अथवा चित्रास्वाद से है, परन्तु चित्रलेखन तो निम्नलिखित अष्टाग उपकरणों पर आश्रित है। इस प्रकार हम दोनो तालिकाओं को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। चित्राङ्ग—(१) रूप-भेद—नाना आकार; (२) प्रमाण, (३) लावण्य (सौन्दर्य); (४) भावयोजन अर्थात् भावाभिव्यक्ति जो रसाभिव्यक्ति पर आश्रित है (देखिए रस और रसदृष्टियाँ—अनुवाद); (५) सादृश्य अर्थात् चित्र और चित्रय दोनों साक्षात् एक प्रतीत हो रहे हैं; (६) वर्णिक भंग अर्थात् वर्ण-विन्यास (Colours and Reliefs) ये क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त एवं प्रक्रिया के मौलिमालायमान चित्र-कौशल हैं।

ब—चित्र-उपकरण:—

(१) वर्तिका अर्थात् लेखनी—लेखा अथवा ब्रुश,
(२) भूमि-बन्धन (Canvas or Background),
(३) लेप्य-कर्म (Drawing the Sketch),
(४) रेखा-कर्म (Delineation and Articulation of form)
(५) वर्ण-कर्म—नानाविध रंग,
(६) वर्तना—छाया और कान्ति की उद्भावना,
(७-८) टि० *दोनों उपकरण मूल मे भ्रष्ट है।*

स—चित्र-विधा:—

अब आइये चित्रों की विधाओं पर। विष्णुधर्मोत्तर मे चित्रों के चार प्रकार प्रतिपादित किये गये है :—

(१) सत्य, (३) नागर तथा
(२) वैणिक, (४) मिश्र।

सत्य से तात्पर्य लोक-सादृश्य से है अर्थात् जैसा लोक वैसा ही चित्र, जिस को हम True, Realistic, Oblong frame के रूप मे परिकल्पित कर सकते

हैं; वैणिक की व्याख्या में विद्वानों में मतभेद है। पदार्थ की दृष्टि से यह पद वीणा से बना है तो हम इसको चतुरश्र अर्थात् चौकोर आकृति में भी विभाजित कर सकते हैं। इस चित्र-प्रकार के वर्णन में वि० ध० ने दीर्घाग, सप्रमाण, सुकुमार, *सुभूमिक, चतुरश्र तथा सुसम्पूर्ण —इन विशेषणों से विशिष्ट किया है।* जहां तक तीसरे चित्र-प्रकार का सम्बन्ध है अथनाम उनको हम Gentry pictures in round frames में परिकल्पित कर सकते हैं और यह एक प्रकार के सादे चित्र माने जाते हैं। जहां तक चौथा अर्थात मिश्र-प्रकार का सम्बन्ध है उसकी कोई विशेषता नहीं। वह इन सब विधाओं का मिश्रण ही कहा जा सकता है। डा० राघवन, डा० कुमारस्वामी की इस व्याख्या का खण्डन करते हैं (vide Sanskrit Texts on Paintings I. H Q. Vol. X, 1933)। पाठक उस को वहीं पर पढ़ें और समझें। मैंने जो ऊपर साधारण संकेत किया है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक है। विष्णु-धर्मोत्तर लगभग दो हजार वर्ष पुराना है। आगे चल कर पूर्व मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल में चित्र-विद्या में विशेषकर शास्त्र की दृष्टि से बड़ी उन्नति हुई, तो अनायास चित्रों की विधा पर काफी शास्त्रीय एव कलात्मक स्वतः प्रकर्षता प्राप्त हो गई। समरांगण-सूत्रधार में बड़े ही वैज्ञानिक एव कामिक दिशा से चित्रों की विधा को चित्र-बन्धन पर आधारित कर रक्खा है। अतः इस अधिकृत ग्रन्थ की दृष्टि में चित्र के प्रकार केवल तीन हैं :—

(१) पट्ट-चित्र (Paintings on Board),

(२) पट-चित्र (Paintings on Cloth), तथा

(३) कुड्य-चित्र (Paintings on Wall—Mural Paintings) देखिए अजन्ता आदि।

मानसोल्लास (अभिलषितार्थ-चिन्तामणि) में चित्रों की विधा पंचधा बताई गई है :—

(१) विद्ध, जो वास्तव में यह विद्ध वि ध. के सत्य से अनुगणित करता है। यहां पर लोक-सादृश्य अर्थात् दर्पण-सादृश्य चित्रकार का कौशल अभिप्रेत है;

(२) अविद्ध—इस को हम एक प्रकार से आधुनिक Outline Drawing के समान परिकल्पित कर सकते हैं,

(३) भाव से तात्पर्य भावव्यक्ति से है। मानसोल्लास की दृष्टि में इस चित्र के उन्मेष में शृगार आदि रसों का महत्वपूर्ण स्थान है;

(४) रस-चित्र—इस चित्र से सम्बन्ध उपर्युक्त भाव से नही, यहां रस का अर्थ द्रव है, जो वर्ण-भग एव वर्ण-विन्यास एवं वर्ण-चित्रण अर्थात् वर्ण-लेप पर आश्रित है ;

(५) धूली-चित्र—यह एक प्रकार मे प्रोज्वल वर्णों का आधायक है।

टि० यह वर्गीकरण बहुत वैज्ञानिक नही है, कुछ थोडा सा भ्रमात्मक प्रतीत होता है।

शिल्प-रत्न मे चित्रों की विधा केवल तीन दी गई है :—

(१) रस-चित्र, जो मानसोल्लास के भाव-चित्र मे परिगणित किया जा जा सकता है;

(२) धूली-चित्र तथैव दे० अभि० चि०,

(३) चित्र—यह एक प्रकार का वि० ध० का सत्य और मानसोल्लास का विद्ध माना जा सकता है।

चित्र-प्रकारो का यह स्थूल समीक्षण यहा पर्याप्त है, विशेष विवरण मेरे अंग्रेजी ग्रन्थ Royal Arts —Yantras and Citras मे देखिये।

वर्तिका:—भूमि-बन्धन चित्र-कला का प्रथम सोपान है। बिना भूमि-बन्धन बन्धन के आलेख्य असम्भव है। भूमि का अर्थ यहा पर कैनवास है। आलेख्य मे इस साध्य के लिए जो साधन विहित है उसका हम वर्तिका की संज्ञा देते है। इस प्रकार वर्तिका और भूमि-बन्धन दोनो को एक दूसरे के साधक-साध्य के रूप में परिकल्पित कर सकते हैं। वर्तिका को हम ब्रुश नही कह सकते। यह वर्तिका विशेषकर भूमि-बन्धन में ही उपयोगी मानी जाती है। चित्र-कला के अष्ट-विध उपकरणों मे वर्तिका का सकेत हम कर ही चुके हैं। कुछ आधुनिक विद्वानों ने वर्तिका का अर्थ ठीक तरह से नही समझा। डा० मोती चन्द्र ने (Cf Technique of Mughal Painting Page 45) वर्तिका को वर्तना के रूप मे समझा है। यह भ्रान्त है। वर्तना एक प्रकार से वर्ण-विन्यास है और वर्तिका उपकरण है। इस प्रकार वर्तिका को हम आधुनिक चित्र के पारिभाषिक पदों में (Crayon) के रूप मे विभावित कर सकते हैं। इस समीक्षा से हम यह सिद्ध कर देते हैं कि प्राचीन भारत मे आलेख्य चित्रो की रचना मे (Crayon) *के द्वारा जो चित्र के लिए पहला स्केच बनाया जाता था, वह* वास्तव में उस अतीत में भी यह प्रक्रिया पूर्ण रूप से प्रचलित थी। संयुत्त-निकाय (द्वितीय, ५) मे इस प्रक्रिया का पूर्ण स्केच है, जो आलेख्य चित्रो और (Panels) में भी प्रयुक्त होती थी। इसी प्रकार दश-कुमार-चरित एव

प्रसन्न-राघव में भी क्रमशः इसे वर्ण-वर्तिका तथा शलाका के नाम से निर्दिष्ट किया है। मुगल-कालीन चित्रकार चित्रों के बनाने में जो खाका खींचते थे वे इमली के कोयले को लेकर यह क्रिया करते थे। आगे आधुनिक काल में जब पेंसिलों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ तो यह परम्परा समाप्त हो गई।

अस्तु, शास्त्रीय दृष्टि से आलेख्य-चित्रों में चित्र-विन्यास के लिए तीन प्रकार की लेखनियां अनिवार्य थी—वर्तिका, तूलिका, लेखनी। वर्तिका का प्रयोग भूमि-बन्धन अर्थात् Canvas or Background के लिए होता था। पुनः वर्ण-विन्यास (Colouring) के लिए तूलिका और लेखनी। पुनः चित्र के उन्मीलन के लिए एवं उसमें प्रोज्ज्वलता के साथ कान्ति और छाया (Light and Shade) के लिए प्रयुक्त होती थी। आगे आलेख्य चित्र में जो सर्वमौलिमालायमान प्रकर्ष शास्त्रीय दृष्टि से सिद्धान्त है वह है "क्षय-वृद्धि का सिद्धांत" अर्थात् कहां पर किस अंग में भाव-व्यक्ति के लिए, लावण्य लाने के लिए एवं सौन्दर्य की स्थापना करने के लिए तथा लोक-सादृश्य एवं विनिर्मेय चित्र के द्वारा क्या क्या सूच्य है, प्रदर्श्य हैं विभाव्य है—यह सब इसी सिद्धान्त के द्वारा चित्र-स्फुटता और चित्रकार का अभीप्सित उद्देश्य भी सम्पन्न हो जाता था। चित्र-कला और चित्र-कार का यही परम कौशल था। मानसोल्लास में जो वर्तिका की परिभाषा दी गई है वह हमारे इस उपर्युक्त सिद्धान्त को दृढ करती है :—

> कज्जलं भक्तसिक्थेन मृदित्वा कणिकाकृतिम्।
> वर्ति कृत्वा तया लेख्यं वर्तिका नाम सा भवेत्॥

यह वर्तिका-व्याख्या समरांगण जैसे अधिकृत शिल्प-ग्रन्थ से भी पुष्ट होती है (दे० अनु० अ० ७१) मानसोल्लास—अभिलषितार्थ-चिन्तामणि-नामापर शीर्षक-ग्रन्थ में जो हमने आलेख्य-चित्र में तीन लेखनियों (वर्तिका, तूलिका तथा लेखनी) का जो संकेत किया है, उनमें तूलिका (Paint-Brush) भी एक प्रकार से द्विविध कीर्तित की गई है। तूलिका यथानाम कलरपेन है जो रेखाओं के लिए है और इसकी दूसरी विधा तिन्दु के नाम से निर्दिष्ट की गई है। इन दोनों की रचना-प्रक्रिया में भी बड़े कौशल की आवश्यता होती थी। विशेषकर बांसवृक्ष से यह बनती थी, क्योंकि वंश ही इन लेखनियों के लिये उस समय बड़ा उपयुक्त माना जाता था और उस में ताम्र की यवमात्रिक निब लगाई जाती थी।

जहां तक वर्तिका-निर्माण का प्रश्न है उसकी प्रक्रिया समरांगण-सूत्रधार (मूलाध्याय ७२, १-३, तथा परिमार्जित समरांगण ४६, १-३) मे देखिये और साथ ही इस का अनुवाद भी देखिये वहा पर इस वर्तिका-बन्धन मे कितने अध्यवसाय की आवश्यकता होती थी—कहा से, किस क्षेत्र से, गुल्म, वापी, वृक्ष-मूल आदि आदि स्थानों से—मृत्तिका लानी चाहिये। फिर उसमे कौन कौन से द्रव्य चूर्ण, औषधियां आदि मिलाई जाती थी और किस पारिभाषिक प्रक्रिया से इस की वर्तिका (वर्ति) बनाई जाती थी—यह सब हमारे प्राचीन शिल्प एवं चित्र की प्रौढ़ प्रक्रिया एवं परम्परा पर प्रकाश डालती है।

भूमि-बन्धन—वैसे तो अन्य चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों मे चित्रो के जो प्रकार बताये जाते हैं, वे कुछ मौलिक एवं निर्भ्रान्त नही हैं· सत्य, वैणिक, विद्ध, अविद्ध, धूलि, रस आदि सब मेरी दृष्टि मे वर्गानुरूप स्पष्ट नही हैं, परन्तु समरांगण की दृष्टि मे यह दिशा बड़ी वैज्ञानिक है, क्योकि पुरातत्त्वीय-अन्वेषणो मे प्राप्त जो निदर्शन मिलते हैं, वे भी समरांगण के चित्र-प्रकारो की पूरी पुष्टि करते हैं। प्राचीन, पूर्व एवं उत्तर मध्य-कालीन जो स्मारक-निबन्धनीय चित्र मिलते हैं वे या तो कुडय-चित्र (Mural Paintings) हैं अथवा पट्ट-चित्र (Panels) अथवा पट-चित्र जैसे पुरी मे भगवान् जगन्नाथ के पट-चित्र—"पटस्थो नारायणो हरिः"—(दे० ह० प०)। इसी प्रकार नाना भाण्डागारों मे ऐसे चित्र-स्मारक-रूप मे बडी मात्रा में मिलते हैं। अतएव स० सू० में जो चित्र की त्रिविधा है वही चित्रानुकूल भूमि-बन्धन भी त्रिविध है।

(१) कुडय-भूमि-बन्धन (The Mural Canvas);

(२) पट्ट-भूमि-बन्धन (The Board Canvas);

(३) पट-भूमि-बन्धन (The Cloth Canvas)।

इन भूमि-बन्धनों के निर्माण की प्रक्रिया बडी ही एक प्रकार की ब्रह्मचर्यान्मा है। समरांगण-सूत्रधार (दे० अनु०) का आदेश है कि भूमि-बन्धन के लिये कर्ता अर्थात् चित्रकार, भर्ता अर्थात् संरक्षक, शिक्षक अथवा आचार्य या गुरु—इन सब को पहले व्रत रखना चाहिये। फिर जो भूमि-बन्धन क पूर्व वर्तिका निर्मित हो चुकी है, उसकी पूजा करनी चाहिए। पुनः यथाभिलषित भूमि-बन्धन खर अथवा मृदु—तदनुरूप पिण्डादि, कल्कादि, चूर्णादि एव द्रवादि इन सबों से रोमकूर्चक से लेप, प्लास्टर करना चाहिए। यह एक प्रकार की आरम्भिका प्रक्रिया है, जिसकी संज्ञा शिक्षिका-भूमि दी गई है। अस्तु अब हम इन तीनो भूमि-बन्धनों की अलग-अलग समीक्षा करेंगे।

कुड्य-भूमि-बन्धन—भित्तिक-चित्रों के लिये लेप्य-प्रक्रिया आवश्यक है। पहले तो दीवाल को सम बनाना चाहिये, पुनः क्षीर-द्रुमों जैसे स्नुही-वास्तुक, कूष्माण्डक, कुद्दाली, अपामार्ग अथवा इक्षु आदि के क्षीर-रस को एक सप्ताह तक रक्खा जावे। शिंशपा, आमन, निम्बा, त्रिफला, व्याधिघात, कुटज आदि वृक्षों के रस में उपर्युक्त क्षीर-द्रुमों के रसों को मिश्रित द्रव्य बना कर उसके द्वारा समतलीय भित्ति पर सिंचन करना चाहिये। पुनः दूसरी प्रक्रिया पर आना चाहिये जो मृत्तिका-लेपन से उस का निष्पन्न करना चाहिये। मृत्तिका मार्दवी होनी चाहिये और उसमें ककुभ, माष, शाल्मली, श्रीफल वृक्षों के द्रवों को लेकर मिलाना चाहिये। इस तरह से प्लास्टर बनाकर गज-चर्म-प्रमाण में दीवाल पर लेप करना चाहिये। तीसरी प्रक्रिया अर्थात् अन्तिम प्रक्रिया के द्वारा कडि-शर्करा-चूर्ण के द्वारा इस पर दूसरा प्लास्टर करना चाहिये। इस प्रक्रिया से वर्ण-विन्यास अपने आप उभर आता है और छाया-कान्ति भी इसी के द्वारा प्रस्फुटित हो जाती है।

अजन्ता के चित्रों को देखिये तो Frescos चित्र ही वहा के सब से बड़े अनुपम एवं समृद्ध निदर्शन हैं। वे इसी समरांगण-सूत्रधार की कुड्य-भूमि-निबन्धन के निदर्शन हैं। ग्रिफिथ (देखिये The Paintings in the Buddbist Cave Temples of Ajanta Vol. 1, Page 18) ने भी इस प्रक्रिया का समर्थन किया है। अजन्ता के इन कुड्य-भूमि-बन्धनों में मृत्तिका, गोबर, चावल की भूसी और चूर्ण (कडि-शर्करा) आदि सभी चूर्ण एवं द्रव यथा-पूर्व-प्रतिपादित प्रक्रिया के द्योतक एवं समर्थक हैं। तन्जौर के बृहदीश्वर मन्दिर के आलेख्य-चित्रों को देखें तो वहा पर भी कडि-शर्करा और बालुका का प्रयोग भी इन भित्तिक-चित्रों में साक्षात् प्रतीत हो रहा है। दक्षिण का यह अति-प्रसिद्ध मन्दिर ११वीं शताब्दी का स्मारक-प्रासाद है और समरांगण-सूत्रधार भी इसी शताब्दी में लिखा गया था। अतएव शास्त्र एवं कला दोनों का यह ग्रन्थ प्रतिनिधित्व करता है। श्री परम शिवन (देखिये The Mural Paintings on Brhadisvare Temple at Tanjore—an Investigation into the method and Technical studies in the Field of Fine Arts) ने भी इस प्रक्रिया की समीक्षा से इस प्रतिपादित शास्त्रीय प्रक्रिया का समर्थन किया है।

जहां तक मुगल चित्रों एवं राजस्थानी चित्रों, जिन को हम उत्तर मध्य-
[illegible]

भूमि-बन्धन-प्रक्रिया का आश्रय लिया गया था। वैसे तो आधुनिक विद्वानों ने मुगल-कालीन भित्तिक-चित्रों के भूमि-बन्धन को इटली के समान उसको Fresco Buono की संज्ञा दी है।

अस्तु, हमें यहा पर विशेष विस्तृत समीक्षा मे जाने की आवश्यकता नही। हमे तो समरागण-सूत्रधार की लेप्य-क्रिया की प्रक्रिया को पाठको के सामने रखना था, जो हमारे चित्र-शास्त्र और चित्र-कला के पारिभाषिक एव लौकिक दोनों दृष्टियों का विकास कितना उस समय हो चुका था, यह प्रतिपादित करता है।

अब हम इन तीनों भूमि-बन्धनो मे कुड्य भूमि-बन्धनो के बाद पट्ट-भूमि-बन्धन पर आ रहे हैं।

पट्ट-भूमि-बन्धन :—इस प्रक्रिया मे निम्बा बीजों को लाकर उनकी गुठलियों को निकाल कर पुनः उनको विशुद्ध कर उनका चूर्ण बनाना चाहिए फिर किसी बर्तन मे रखकर पकाना चाहिए। इसी द्रव से फलको पर प्लास्टर करना चाहिए। यदि निम्बा-बीज न मिल रहे हो तो शालि-भक्त का प्रयोग करना भी उपादेय प्रतिपादित किया गया है। 436418

पट-भूमि-बन्धन—वैसे तो अन्य चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार इस पर भूमि-बन्धनो की प्रक्रिया के नाना अवान्तर भेद प्राप्त होते हैं; परन्तु समरागण-की दिशा मे यह पट्ट-भूमि-बन्धन के ही समान है।

प्राचीन भारत में तथा पूर्व एवं उत्तर मध्यकालीन भारत में पट-चित्रों का बड़ा प्रसार था। बौद्ध-ग्रन्थो जैसे सयुत्त-निकाय, विशुद्धि-मग्ग, महावंश, मंञ्जुश्री-मूलकल्प, ब्राह्मण ग्रन्थों मे जैसे वात्स्यायन काम-सूत्र मे, भास के दूत-वाक्य मे, माधवचार्य की पंचदशी में इस प्रकार के नाना संदर्भ प्राप्त होते हैं।

उड़ीसा, पट-चित्रों का प्राचीन काल से केन्द्र रहा है। पुरी के भगवान् जगन्नाथ के पट-चित्रों का संकेत हम कर चुके हैं। वैष्णव धर्म में वास्तव में पट-चित्रों का बड़ा माहात्म्य है। इस का भी हम पहले ही हयशीर्ष-पंचरात्र के प्रवचन के उद्धरण से इस के प्रोल्लास की ओर सकेत कर ही चुके हैं। जिस प्रकार उड़ीसा में इस वैष्णव पीठ (जगन्नाथपुरी) पर पट-चित्रों की बड़ी महिमा है उसी प्रकार राज-स्थान के वैष्णवी पीठ श्रीनाथद्वार मे भी इन पट-चित्रों की महिमा है।

हमने अपने Hindu Canons of Painting or Citra-Laksanam" तथा Royal Arts—Yantras and Citras में इस समरागणीय भूमि-बन्धन की जो तुलनात्मक समीक्षा और चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो, तथा स्मारकों के सम्बन्ध मे विश्लेषण किया है, वह विस्तार से वहीं द्रष्टव्य है।

चित्राधार एवं चित्र-मान :—भूमि-बन्धन के उपरान्त बिना आधार एवं प्रमाण के चित्र की रचना असंभाव्य है। समरांगण-सूत्रधार में इस विषय पर दो अध्याय हैं (देखिए अण्डकप्रमाण एवं मानोत्पत्ति)। अण्डक का अर्थ चित्र-शास्त्र की दृष्टि से लगाना मेरे लिये बड़ा ही कठिन था। अन्ततोगत्वा जो मैंने इसकी व्याख्या की उसको देख कर इस देश के विद्वद्रत्नों यथा म० म० वासुदेवविष्णु मिराशी, उन्होंने इस पर बड़ी प्रशंसा प्रकट की जो शब्द बिलकुल अपरिज्ञेय थे उनकी सूझ-बूझ के द्वारा जो व्याख्या दी गई है, उससे पारिभाषिक शास्त्रों के अनुसन्धान एवं अध्ययन में बड़ा योग-दान मिला है। अण्डक का अर्थ हम ने बादामा माना क्योंकि अण्डा और बादाम एक ही आकार के दिखाई पड़ते हैं। वैसे तो अण्डक का अर्थ वास्तु-कला की दृष्टि से Cupola है, लेकिन लक्षण एवं मूर्तिकला अर्थात् चित्रकला में मेरी दृष्टि में यह एक प्रकार का खाका (Outline) है। जिस प्रकार से प्रासाद का अण्डक अर्थात् शृंग या शिखर प्रासाद-कला का सूचक एवं द्योतक है, उसी प्रकार से यह अण्डक अर्थात् बादामा तथैव प्रतिष्ठापक है।

समरांगण-सूत्रधार में नाना अण्डकों के मान पर विवरण दिये गये हैं जैसे पुरुष, स्त्री, शिशु राक्षस, दिव्य, देवता, दिव्यमानुष, प्रमथ, यातुधान, दानव, नाग, यक्ष, विद्याधर आदि आदि।

अस्तु अब इनकी तालिका प्रस्तुत करते हैं :—

क्रम सं०	संज्ञा	प्रमाण लम्बाई	प्रमाण चौड़ाई	विवरण
१	पुरुषाण्डक	६	५	नारिकेलफलोपम
२	वनिताण्डक	—	—	....
३	शिशुकाण्डक	५	४	....
४	राक्षसाण्डक	७	६	चन्द्रवृत्तोपम
५	दैवाण्डक	८	६	....
६	दिव्य-मानुषाण्डक	६½	५½	मानुषाण्डक से ½ अधिक
७	प्रमथाण्डक	५	४	शिशुकाण्डक-सम
८	यातुधानाण्डक	७	६	दे० राक्षसाण्डक
९	दानवाण्डक	८	६	दे० देवाण्डक
१०	गन्धर्वाण्डक	८	६	

११	नागाण्डक	८	६	,,
१२	यक्षाण्डक	८	६	,,
१३	विद्याधराण्डक	६½	५½	दे० दिव्यमानु०

अण्डक-प्रमाणों के बाद काय-प्रमाण भी चित्र-शास्त्र में अत्यन्त उपादेय माने गये हैं। उनके भी प्रमाण निम्न तालिका से सूच्य है :

व्यक्ति-विशेष	प्रमाण लम्बाई	चौड़ाई	विवरण
१ देव	३०	८	
१ असुर	२६	७½	
३ राक्षस	२७	७	
४ दिव्य मानुष	—	—	
५ मानव			
अ. पुरुषोत्तम (उत्तम)	२४½	६	
ब. मध्यम-पुरुष (मध्यम)	२३	५½	
स. कनीय-पुरुष (कनिष्ठ)	२२	५	
६ कुब्ज (कूबड़)	१४	५	
७ वामन (बौना)	७½	५	
८ किन्नर	७½	५	
९ प्रमथ	६	४	

समरांगण-सूत्रधार में नाना रूपों के भी बड़े ही मनोरंजक प्रकार, वर्ग, व विधायें प्राप्त होती हैं। उन सब की निम्न तालिका प्रस्तुत की जाती है।—

जातियां	विधा
१ देव	त्रिविध—सुरज, कुम्भक, ...
२ दिव्य-मानुष	एकमात्र—दिव्यमानुष
३ असुर	त्रिविध—चक्र, मुत, तीर्णक
४ राक्षस	त्रिविध—दुर्दर, शकट, कूर्म
५ मानव	पंच-विध—हंस, शश, रूचक, भद्र, मालव्य
६	द्विविध—मेष, वृत्ताकर
७ वामन	त्रिविध—पिण्ड, स्यान, पद्मक
८ प्रथम	त्रिविध—कूष्माण्ड, कर्वट, तिर्यक्
९ किन्नर	त्रिविध—मयूर, कुर्वट, काश

१०	स्त्री	पंचविधा—बलाका, पौरुषी, वृत्ता, दंडा, ...
११	गज—जन्मतः	चतुर्विध—भद्र, मन्द, मृग, मिश्र
	जीवनाश्रय	त्रिविध—पर्वताश्रय, नद्याश्रय, ऊपराश्रय
१२	अश्व (रथ्य)	द्विविध—प्राग्य, उत्तर
१३	सिंह	चतुर्विध—शिखराश्रय, बिलाश्रय, गुल्माश्रय, तृणाश्रय
१४	व्याल	षोडश-विध :—

हरिण	गण्डक
गृध्रक	गज
शशक	क्रोड
कुक्कुट	अश्व
सिंह	महिष
शार्दूल	श्वान
वृक	मर्कट
अजा	खर

टि० :—यह रूप-तालिका समरांगण-सूत्रधार को छोड़कर अन्य किसी भी चित्र-ग्रन्थ मे प्राप्य नहीं। विष्णु धर्मोत्तर, जो इस चित्र-विद्या का सर्व प्राचीन एवं प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है, उसमे केवल संकेत-मात्र है, तालिका एवं विवरण नही मिलते।

यह अण्डक एवं काय प्रमाणादि सब एक प्रकार से शास्त्रीय रूढ़िया (Conventions) हैं। अण्डक आदि प्रमाण तथा काय आदि प्रमाण यह सब एक प्रकार से चित्र में वि ष के उद्भावक हैं। यदि हम किसी महापुरुष जैसे भगवान् बुद्ध तथा मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम को हम चित्र मे चित्रित करना चाहते हैं, तो उन्हें हम आजान-बाहु तथा अन्य महापुरुष-लाछनों से लाछित यदि नहीं करते है, तो कैसे ऐसे महापुरुषों के चित्र चित्र्य हो सकते हैं? सभी महाराजे, अधिराजे भी, इसी प्रकार के महापुरुषों तथा दिव्य देवों के सदृश तेजो-मंडल से विभावित किए जाते हैं। रेखाओं से भी इन्हें लाछित किया जाता है। मुखाकृति, शरीराकृति आदि के अतिरिक्त, कुन्तल, केश, वेष, वस्त्र, आयुध—अस्त्र-शस्त्र भी तो यथा पुरुष वैसा ही चित्र—उसी मे यह सब चित्र्य है।

इसी प्रकार किस पुरुष अथवा नारी या पशु और पक्षी, देवता अथवा देवी के अंगों, प्रत्यंगों, उपांगों का निर्माण किस प्रकार करना चाहिए, और उसका आकार कैसा होना चाहिए, प्रमाण—लम्बाई, ऊंचाई, मोटाई, गोलाई कैसी करनी चाहिए ? किस चित्र मे अक्षि धनुषाकार अथवा मत्स्योदर-सन्निभा बनानी चाहिए या पद्माकृति मे बनानी चाहिए इन सब की प्रक्रिया चित्र्य पर आश्रित है। यदि प्रेमी और प्रेमिका के अक्षियों का चित्रण करना है तो उनकी आंख मत्स्योदर-सन्निभा विहित है। शान्त-मुद्रा, ध्यान-मुद्रा मे अक्षि का आकार धनुषाकार बताया गया है। विष्णुधर्मोत्तर मे, राजाओं, महाराजाओं, पितरों, मुनियों ऋषियों आदि की किस प्रकार की वेष-भूषा करनी चाहिए—यह सब उस ग्रन्थ मे विशेष रूप से द्रष्टव्य है। हमने अपने ग्रन्थ मे समरांगण-सूत्रधार के लक्षणों मे इन विवरणों की पूर्ण रूप से समीक्षा की है जो हमारे Hindu canons of Painting or Citralaksanam तथा Royal Arts—Yantras and Citras में विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

अस्तु अब मानाधार—इस स्तम्भ के अर्ध-शीर्षक के क्षेत्र पर हमने थोड़ा प्रकाश डाल दिया है, अब चित्र-मान पर विचार करना है। भारतीय स्थापत्य की दृष्टि मे चित्र के षडंग में रूप-भेदो के बाद प्रमाणो का महत्त्वपूर्ण स्थान आता है। वैसे तो समरांगण-सूत्रधार, विष्णु-धर्मोत्तर तथा अपराजित-पृच्छा ऐसे बृहद्-ग्रन्थों मे चित्र-मान पर काफी विवरण प्राप्त होते हैं, परन्तु मानसोल्लास मे चित्र-प्रमाण प्रक्रिया (Pictorial Iconometry) पर बड़ा ही पारिभाषिक, वैज्ञानिक तथा प्रौढ विवरण प्राप्त होता है। मानसोल्लास की सबसे बड़ी देन फलक-चित्र (Portrait Paintings) हैं। इन चित्रों के निर्माण के लिए मान-सूत्रों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है—ब्रह्मसूत्र (Plumb lines) तथा दो पक्ष-सूत्र। ब्रह्मसूत्र यथा नाम केशान्त अर्थात् मस्तक से यह रेखा प्रारम्भ होती है और दोनों आखों की भौंहो के मध्य से, नासिकाग्र भाग से, चिबुकमध्य, वक्षःस्थल-मध्य तथा नाभि से गुजरती हुई दोनों पादों के मध्य तक अवसानित हो जाती है। इस प्रकार यह रेखा एक प्रकार से शरीर के केन्द्र को अंकित करती है, जो सिर से लगाकर पाद तक खिचती है। जहां तक दो पक्ष-सूत्रों का प्रश्न है वे भी यथानाम शरीर के पार्श्वों से प्रारम्भ होते हैं। यह आवश्यक है कि ब्रह्मसूत्र की रेखा से दोनों ओर छः अंगुल के अवकाश पर इन दोनों सूत्रो का प्रयोग करना चाहिए। ये दोनों कर्णान्ति से प्रारम्भ करते हैं और चिबुक के पार्श्वो से

गुजरते हुए, जानुओं के मध्य से पुनः भाल तथा पाद की दूसरी अंगुली, जो अंगूठे के निकट होती है, यहां पर प्रत्यवमानित होती है।

इस अत्यन्त पारिभाषित मान-प्रक्रिया (Pictorial Iconometry) मे स्थानक-मुद्रायें अर्थात् पाद-मुद्राएं बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। अतएव इन्हीं सूत्रों के द्वारा जो समरांगण-सूत्रधार मे ऋज्वागतादि नौ स्थानों का प्रतिपादन किया गया है, उनमे मानसोल्लास की दृष्टि से निम्नलिखित पांच स्थानक-मुद्राओं को इन सूत्रों के द्वारा विहित बताया गया है :—

इस ग्रन्थ मे इन स्थानक मुद्राओं को ऋजु, अर्धर्जु, साची, अर्धाक्ष तथा भित्तिक की सज्ञाओं मे प्रतिपादित किया गया है।

ऋजु-स्थान :—सम्मुखीन मुद्रा-स्थिति से वेद्य है जिस मे ब्रह्म-सूत्र (Central and Plumb Line) जैसा ऊपर संकेत है, यहां पर भी छः अंगुल का अवकाश बताया गया है।

अर्द्धर्जुक-स्थान —इसका वैशिष्ट्य यह है कि ब्रह्मसूत्र से पार्श्व पर एक पक्ष-सूत्र का अवकाश आठ अंगुल का है और दूसरे पार्श्व पर चार अंगुल का।

साची-स्थान :—इस मे विशेषता यह है कि ब्रह्म-सूत्र से एक पार्श्व पर पक्ष-सूत्र की ओर दस अंगुलों का मध्यावकाश बताया गया है और दूसरे पार्श्व पर केवल दो अंगुलो का;

अर्धाक्षिक स्थान :—इस की अन्य सूत्रों के समान वैसी ही व्यवस्था दी गई है। यहां पर ब्रह्म-सूत्र से एक पार्श्व पर पक्ष-सूत्र की ओर एकादश अंगुल आवश्यक है और दूसरे पार्श्व पर केवल एक अंगुल।

भित्तिक-स्थान :—यहां पर ज्यो ही हम पहुंचते हैं तो ब्रह्म-सूत्र उड़ गया और पक्ष-सूत्रों का आधिराज्य हो गया।

अभी तक हम चित्राधार एवं मान-विग्रह पर कुछ प्रतिपादन करते रहे। अब मानाधारों पर आकर पुनः अन्त में समलम्बित मानों (Vertical Measurements) की तालिका भी रक्खेंगे, जिससे यह पता लगेगा कि प्राचीन भारत मे और पूर्व एवं उत्तर मध्यकाल मे चित्र विद्या एवं कला कितनी प्रौढ थी और चित्र-शास्त्र का कितना प्रबुद्ध पारिभाषिक विकास हो चुका था। यह सब हमारे स्थापत्य-कौशल के ही सूचक नहीं हैं वरन् हमारे प्राचीन पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक शास्त्रों का भी प्रतिबिम्बन करते हैं।

समरांगण सूत्रधार के मानोत्पत्ति का अनुवाद देखें, उसी के अनुरूप हम यहां पर चित्र-तालिका की उपस्थापना करते हैं :—

८ परमाणु—१ त्रसरेणु	८ यूका—१ यव
८ त्रसरेणु—१ बालाग्र	८ यव—१ अंगुल या मात्रा
८ बालाग्र—१ लिक्षा	२ अंगुल—१ गोलक या कला
८ लिक्षा—१ यूका	२ कला या गोलक—१ भाग

सारा शरीर सिर से पैर तक ऊंचाई में नौ तल है केशान्त से हनु तक मुख एक ताल का होता है।

ग्रीवा	४ अंगुल	ग्रीवा से हृदय	१ ताल
हृदय से नाभि	१ ताल	नाभि से मेढ़्	१ ताल
ऊरु	२ ताल	जानु	४ अंगुल
जंघा	२ ताल	चरण	२ अंगुल

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र के अनुसार शरीर की ऊंचाई ९ ताल है और मौलि केशान्त चार अगुल है। इस प्रकार वास्तविक ऊंचाई नौ ताल और ४ अंगुल है अथवा साढ़े नौ ताल।

समलम्बित मान (Vertical Measurements)

१ मस्तक-सूत्र (Line of the Crown)

२ केशान्त-सूत्र :—यह सूत्र मस्तक से चार अंगुल नीचे से, कर्णाग्र से तीन अंगुल ऊंचे उठकर, शिर के चारों ओर जाती है ;

३ तपनोद्देश-सूत्र: उपर्युक्त रेखा के नीचे दो अंगुल से प्रारम्भ होती है और शंख-मध्य से जाती है और कर्णाग्र के ऊपर एक अंगुल से प्रारम्भ होती है ;

४ कचोत्संग-सूत्र :—एक अंगुल नीचे से प्रारम्भ होकर जब भौहों के निकट से जाती है तो शीर्ष-कर्म के अन्त में प्रत्यवसानित होती है ;

५ कनीनिका-सूत्र :—जो अपाग-पार्श्व से प्रारम्भ होकर पिप्पली की ओर जाती है वह एक अंगुल नीचे से प्रारम्भ होती है ;

६ नासा-मध्य-सूत्र :—दो अंगुल नीचे से प्रारम्भ होकर कपोल के ऊर्ध्व-प्रदेश से गुजरती हुई कर्ण-मध्य में अवसानित होती है ;

७ नासाग्र-सूत्र :—दो अंगुल नीचे से प्रारम्भ होती है। यह कपोल-मध्य जाता हुआ कर्ण-मूल पर के स्रोतपत्ति-प्रदेश तथा पृष्ठ पर अवसानित होती है ;

८ वक्त्र-मध्य सूत्र :—आधे अंगुल नीचे से प्रारम्भ होकर स्पृक्का अथवा कृकाटिका से गुजरता है ;

९ अधरोष्ठ-सूत्र :— यह भी आधे अंगुल नीचे होता है ; पुनः वह चिबुक हड्डी से गुजरती हुई ग्रीवा पृष्ठ पर पहुच जाती है ;

१० हन्वग्र-सूत्र :—जो दो अंगुल नीचे से शुरू होती है । यह ग्रीवा से गुजरती हुई कन्धे की हड्डी पर पहुचती है ;

११ हिक्का-सूत्र :—यह कधों के नीचे से पास होता है ,

१२ वक्षःस्थल-सूत्र :—सात अंगुलों से नीचे से प्रारम्भ होता है ;

१३ विभ्रमांग-सूत्र :—पाच अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H.C.P.

१४ जठर-मध्य-सूत्र —छै अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C. P.

१५ नाभि-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H. C P.

१६ पक्वाशय-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H .C P.

१७ काञ्ची-पाद-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H. C P

१८ लिंग-शिरः-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H. C. P.

१९ लिंगाग्र सूत्र :—पाच अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H. C. P.

२० ऊरु-सूत्र :—आठ अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C. P.

२१ मान-सूत्र (ऊरु-मध्य-सूत्र):—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C. P.

२२ जानुमूर्ध-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H. C. P.

टि० :—ये तीनों (२०—२२) सूत्र जंघाओं (Thighs) के बगल से गुजरने चाहियें ।

२३ जान्वध-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होते हैं । यह भी जानु के चारों ओर से गुजरना चाहिए ।

२४ शक्रवस्ति-सूत्र :—बारह मगुल मर्थात् एक ताल से नीचे पास होना चाहिये।

२५ नलकान्त सूत्र :- दश अंगुल नीचे से प्रारम्भ होना चाहिए ;

२६ गुल्फान्त-सूत्र :—दो अंगुल नीचे से प्रारभ होना चाहिए ;

२७ भूमि-सूत्र :—चार मगुल से नीचे प्रारम्भ होता है।

इस प्रकार इस ब्रह्म-सूत्र की लम्बाई का टोटल १०८ अंगुल हो जाता है।

विशेष सूच्य यह है कि मानसोल्लास की दिशा मे भित्तक चित्र—कुड्य-चित्रो (Mural Paintings) मे केवल उपर्युक्त चार स्थानो मर्थात् ऋजु आदि प्रथम चार ही उपादेय हैं। पाचवा भित्तिक-स्थान यहा पर कोई महत्व नही रखता, क्योंकि वहा पर कोई भी मानभाग यहा पर प्रकाश्य एव प्रदर्श्य नही होता।

लेप्य-कर्म

लेप्य-कर्म चित्र-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। इसमें हम रंगो मर्थात् वर्ण-विन्यास तथा पेंटो को नही गतार्थ कर सकते। लेप्य-कर्म का प्रयोग भूमि-बन्धन मे है, जिसका साहचर्य वर्तिका से है। और वर्ण-विन्यास, जैसा हम आगे देखेंगे, उसका साहचर्य लेखनी या तूलिका से है। पीछे भूमि-बन्धन-स्तम्भ मे लेप्य-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला ही जा चुका है, अब यहां पर विशेष ज्ञातव्य एवं प्रतिपाद्य यह है कि लेप्य किस प्रकार से निर्मित होता है। प्राचीन भारतीय चित्रकला की सर्व-प्रमुख विशेषता समस्त स्थावर-जगमात्मक संसार का प्रतिबिम्बन ही एक मात्र उद्देश्य था। अपराजित-पृच्छा का निम्न उद्धरण इस पृष्ठ-भूमि का कितने सुन्दर ढंग से समर्थन करता है :—

कूपे जलं जलं कूपे विधिपर्यायतस्तथा।
तद्विच्चित्रमयं विश्वं चित्रं विश्वे तथैव च ॥

अब थोडा सा संकेत आधुनिक चित्र-कला के स्वरूप और उद्देश्य पर करना है, जिससे हमारी प्राचीन चित्र-विद्या का मूलाधार विषयीगत चित्रण (Objective representation) था वह बोधव्य हो सके; परन्तु आजकल जिन भी चित्रों को देखें उनमें चित्रकारों की अपनी subjective विषयगत भावना के द्वारा यह चित्र निर्मित होने लगे हैं, जिनको subjective representations विषयगत चित्र कह सकते हैं। मेरी दृष्टि मे यह आधुनिक चित्र-कला मानो मूल भित्ति को ही छोड़ दी है। चित्र का नैसर्गिक अर्थ प्रतिबिम्बन है; अतः चित्र और अंग्रेजी के पद painting शास्त्रीय दृष्टि से कभी भी

पर्यायवाची नहीं हो सकते। अंग्रेजी के इस शब्द Painting के लिए पूरी छूट है जो चाहो Paint करो परन्तु चित्र के लिए तो प्रतिमा के लिए तो इस समस्त स्थावर-जंगमात्मक संसार से किसी भी पदार्थ अथवा द्रव्य को लें तो उसका तब ही चित्रण हो सकता है जब उसमें प्रतिबिम्बन पूर्ण रूप से मुखरित हो जाए। अस्तु, इतनी सूक्ष्म समीक्षा पर्याप्त है। अब आइये लेप्य-कर्म की ओर।

लेप्य-कर्म—समरांगण-सूत्रधार के लेप्य-कर्म-शीर्षक अध्याय में लेप्य-प्रक्रिया का बड़ा ही वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक विधान प्रतिपादित किया गया है। पहले तो लेप्य के लिए किस प्रकार की मृत्तिका अपेक्षित होती है, उसके बड़े पुष्कल विवरण दिए गये हैं कि यह मिट्टी किन किन स्थानों, स्थलों एवं तटों से लाई जाए। पुनः जैसा हम ऊपर संकेत कर चुके हैं वर्तिका और भूमि-बन्धन एक दूसरे के क्रमशः साधन एवं साध्य हैं। किस प्रकार से वर्तिका बनाई जाती है और किस प्रकार से लेप्य बनाया जाता है यह सब विवरण इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड-अनुवाद में देखें।

स० सू० में लेप्य एक मात्र मात्तिक प्लास्टर अर्थात् मात्तिक लेप्य के विवरण दिए गए हैं; परन्तु वि० ध० में तो ऐष्टिक प्लास्टर (Brick Plaster) अर्थात् ऐष्टिकेय प्लास्टर की विशेष महत्ता दी गई है। यह लेप्य-कर्म वि० ध० में वज्र-लेप के समान दृढ़ बताया गया है। डा० कुमारी स्टेला क्रैमरिश ने वि० ध० के इस चित्र-प्रकरण का अनुवाद किया है उसका अवतरण विशेष संगत नहीं है।

मानसोल्लास में भी इसी प्रकार के लेप का प्रतिपादन है जिसकी संज्ञा वज्रलेप के नाम से दी गई है।

स्निग्धानुलेपन (Ointment)—जहां तक Ointment का प्रश्न है वह एक प्रकार से किसी भी आलेख्य के लिए जो भूमि-बन्धन (कुड्य-भूमि बन्धन, पट्ट-भूमि-बन्धन अथवा पट-भूमि-बन्धन) लेप्य-कर्म के द्वारा बनता है, उसका दूसरा सोपान स्निग्धानुलेपन (Ointment) है। वह एक प्रकार से अपनी भाषा में मर्दन एवं प्रोज्ज्वलन के नाम से प्रकीर्तित किया जा सकता है। इस प्रकार से लेप्य-कर्म में पहला सोपान मृत्तिका-बन्धन है। दूसरा सोपान जो ointment के नाम से हम पुकारते हैं वह एक प्रकार का सुधा-बन्धन अथवा रस-बन्धन अथवा वर्ण-बन्धन है। प्रथम बन्धन तो मौलिक है और ये तीनों बन्धन एक प्रकार से इस बन्धन में वैशिष्ट्य सम्पादन के लिए प्रकीर्तित किए गए हैं जो भूमि-बन्धन

की प्रोज्ज्वलता सम्पादनार्थ हैं। अतएव शिल्प-रत्न का निम्न प्रवचन इसी तथ्य का प्रतिष्ठापक एवं पोषक है :—

एव धवलिते भित्तौ दर्पणोदरसन्निभे,
फलकादौ पटादौ वा चित्रलेखनमारभेत्"

वर्ण और लेखनी तथा छाया और कान्ति
(क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त)

स० सू० के चित्राध्यायों मे वर्णों अर्थात् रंगों के प्रवचन नही प्राप्त होते। इसमे एक मात्र सामान्य सन्दर्भ प्राप्त होता है। वि० ध० मे तथा शिल्प-रत्न मे वर्णों के सम्बन्ध मे विशेष विस्तार है और जहा तक मानसोल्लास की बात है वहा तो यह वर्ण-विन्यास-प्रक्रिया और भी अधिक प्रकृष्ट रूप मे परिणत हो गई है।

वि० ध० मे वर्णों की दो कोटिया प्रतिपादित की गई है, पहली कोटि मे, रक्त, शुभ्र, पीत, कृष्ण तथा हरित रंगो को प्रधान रग Primary Colours माना है। दूसरी कोटि मे शुभ्र, पीत, कृष्ण नील तथा गैरिक (Myrobalam) ये जो भरत के नाट्य-शास्त्र मे प्रधान रग प्रतिपादित किए गये हैं, वे ही वि० ध० मे पाए गए हैं। शिल्प-रत्न और मानसोल्लास मे जिन पाच रगो का वर्णन किया गया है, उनमे भी कुछ वैमत्य है। शिल्प-रत्न मे शुभ्र, रक्त, पीत (Suit) तथा श्याम माने गये हैं। अभिलषितार्थ-चिन्तामणि मे शुभ्र शंख से निर्मित, रक्त सीसा अथवा अलक्तक द्रव अर्थात् लाख अथवा लाल खड़िया यानी गेरू से बनता है। हरिताल (Green Brown) तथा श्याम ये ही इस ग्रन्थ मे माने गए हैं।

जहा तक वर्णों का मिश्रण है वह तो चित्रकार पर आश्रित है। वर्णों के विन्यास मे छाया, कान्ति एवं प्रोज्ज्वलता तथा आकर्षण प्रदान करने के लिए स्वर्ण, रजत, ताम्र, पीतल, रक्ताभ, सीसा, ईंगुर, सिंदूर, टिन इत्यादि नाना द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार इस उपोद्घात् के अनन्तर अब इस विषय पर विशेष विवरण प्रस्तोत्व हैं क्योंकि यह सब कुछ आ जाए तो आलेख्य चित्र के लिए वर्ण-विन्यास ही मौलि-मालायमान कर्म है। वर्ण-विन्यास मे मूल रंग अथवा शुद्ध वर्ण, अन्तरित रंग, अथवा मिश्र वर्ण-वर्ण द्रव्य, स्वर्ण-प्रयोग— ये सब विवेच्य हैं। पुनः हम तूलिका, लेखनी ऐव वर्तना, जो वर्ण-विन्यास (साध्य) के साधन हैं, उनपर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

मूल-रंग (शुद्ध-वर्ण)—हमने इस उपोदघात् मे विष्णु-धर्मोत्तर आदि की वर्ण-तालिकाओ का संकेत किया ही है तथापि जहां विष्णु-धर्मोत्तर मे पाँच मूल रगो की तालिका मिलती है, वहां अन्य ग्रन्थो मे मूल रगो की सख्या केवल चार ही मिलती है। पाश्चात्य चित्र-कला मे मूल रगो की सख्या तीन ही है अर्थात् रक्त, पीत, नील। हमारे यहा शुक्ल को जोडकर चार की तालिका बना दी है। एक बात और विवेच्य है कि काला और नीला एक जैसा नहीं माना जा सकता। अभिलषितार्थ-चिन्तामणि मे जो नीली की परिभाषा दी गई है वह इस विभेद को हमारे सामने साक्षात् उपस्थित कर देती है —

"केवलैव च या नीली भवेदिन्दीवरप्रभा"

इस लिए यह नीलो कृष्ण से एक प्रकार से बिल्कुल विभिन्न है, क्योंकि कृष्ण कज्जल-सम कहलाता है। इस प्रकार इन पाच मूल रगो अर्थात् शुद्ध वर्णों के पृथक् पृथक् चषक (प्याले) रक्खे जाते थे। इनका प्रयोग शुद्ध वर्णों तथा मिश्रित वर्णों दोनो के लिए किया जाता था।

वैसे तो अपराजित-पृच्छा मे भी चार ही मूल रंग हैं, परन्तु उसकी नवीनता अथवा उद्भावना यह है कि ये वर्ण नागर, द्राविड आदि चारों शैलियो पर आश्रित हैं। अत. यह विवरण यहाँ पर न लेकर आगे के स्तम्भ (चित्र-शैलियो) मे लेंगे। अब आइये अन्तरित रगों अथवा मिश्र-वर्णों पर।

अन्तरित-रंग (मिश्र-वर्ण) —ये वर्ण वर्णों के परस्पर संयोजन अथवा मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। अभिलषितार्थ-चिन्तामणि का निम्न उद्धरण पढिये तो हमे इन मिश्रित वर्णों की कैसी सुषुमा निखरती हुई देख पडेगी। शिल्प-रत्न तथा शिव-तत्व-रत्नाकर मे भी मिश्र वर्णो के बडे ही सुन्दर विवरण प्राप्त होते हैं। बाण की कादम्बरी पढिए, तो वहा पर ऐसा मालूम पडता है कि सारे के सारे पन्ने मूल रग तथा मिश्रवर्ण दोनो से रगे पड़े हैं। आज तक शायद ही किसी ने परम्परागत उक्ति— "बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्" का ठीक ठीक अर्थ लगाया हो। बाण के मस्तिष्क मे सम्पूर्ण स्थावर-जंगमात्मक ससार करामलकवत् था। अतएव यह उक्ति इस पारिभाषिक एव वैज्ञानिक चित्र-शास्त्र के परिशीलन से परिपुष्ट प्राप्त होती है। बाण ने तो गजब ढा दिया कि काले, पीले, हरे भूरे, लाल, नीले, सुनहरे, गेरुए, सफेद, कपोताभ आदि आदि शतशः रगो की केलि इस कादम्बरी-क्रीडास्थली में देखने को मिलती है। आगे इस अध्ययन के

परिशिष्ट भाग में हम महाकवि कालिदास, बाण, श्रीहर्ष आदि आदि अनेक कवियों के काव्यों की संदर्भ-तालिका का उद्धरण देंगे, जिस से इस वर्ण-महिमा पर लक्षण एवं लक्ष्य से पूरी पूरी समीक्षा हो सकेगी। अब हम यथा-प्रतिज्ञात यहाँ पर अभिलषितार्थ-चिन्तामणि का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं

शुद्धवर्णाः—पूरयेद्वर्णकैः पश्चात् तत्तद्रूपोचितैस्स्फुटम्।
उज्ज्वलं प्रोन्नते स्थाने श्यामलं निम्नदेशतः॥
एकवर्णार्पितं कुर्यात्तारतम्यविभेदतः।
अघश्चेदुज्ज्वलो वर्णो घनश्यामलता व्रजेत्॥
भिन्नवर्णेषु रूपेषु भिन्नो वर्णः प्रयुज्यते।
मिश्रवर्णेषु रूपेषु मिश्रो वर्णः प्रयुज्यते॥
श्वेतेषु पूरयेच्छङ्ख शोणेषु दरदं तथा।
रक्तेष्वलक्तकरसं लोहिते गैरिकं तथा।
पीतेषु हरितालं स्यात्कृष्णे कज्जलमिष्यते।
शुद्धा वर्णा इमे प्रोक्ताश्चत्वारश्चित्रसंश्रयाः।

मिश्रवर्णाः—मिश्रान् वर्णानतो वक्ष्ये वर्णसंयोगसम्भवान्।
दरदं शंखसम्मिश्रं भवेत्कोकनदच्छविः॥
अलक्तं शङ्खसम्मिश्रं धूमच्छायं निरूपितम्।
हरितालं शंखयुतं मेरमत्व ? सदृशप्रभम्॥
कज्जलं शंखसम्मिश्रं धूमच्छायं निरूपितम्॥
नीली शंखेन संयुक्ता कपोताभा विराजते।
राजावर्तस्य एवायमतसीपुसप्पन्निभः॥
केवलैव हि या नीली नीलेन्दीवरप्रभा।
हरितालेन मिश्रा चेज्जायते हरितच्छविः॥
गैरिकं हरितालेन मिश्रितं गैरिता व्रजेत्।
कज्जलं गैरिकोपेत श्यामवर्णं निरूपितम्।
अलक्तकेन संसृष्टं कज्जलं पाटलं भवेत्।
अलक्तं नीलिकायुक्तं कर्बुवर्णं भवेत् स्फुटम्॥
एवं शुद्धाश्च मिश्राश्च वर्णभेदाः प्रकीर्तिताः।

रंग-द्रव्य :—विष्णु-धर्मोत्तर मे नाना-विध रंग द्रव्यों का प्रतिपादन है—कनक, रजत, ताम्र, अभ्रक, राजावर्त (हीरकक—अर्थात् हीरे की बिराट-

देशोद्भवा विधा), त्रपु, हरिताल, सुधा, लाक्षा, हिंगुलक तथा नील और लोहा। विष्णु-धर्मोत्तर का निम्न प्रवचन पढ़ें जिससे न केवल रंग-द्रव्यों की तालिका ही नहीं मिलेगी, प्रत्युत ये रंग-द्रव्य किन किन अन्य द्रवों के संयोग एवं मिश्रण से उत्पन्न होते हैं, यह भी यहां पर परशीलनीय है :—

रंगद्रव्याणि कनकं रजतं ताम्रमेव च ।
अभ्रक राजवर्त्त च सिन्दूरं त्रपुरेव च ॥
हरितालं सुधा लाक्षा तथा हिंगुलकं नृप ।
नीलं च मनुजश्रेष्ठ तथान्ये सन्त्यनेकशः ॥
देशे देश महाराज कार्यास्ते स्तम्भनायुताः ।
लोहानां पत्रविन्यास भवेद्वापि रसक्रिया ॥
सकटं लोहविन्यस्तमभ्रकं द्रावणं भवेत् ।
एवं भवति लोहाना लेखने कर्मयोग्यता ॥
अभ्रकद्रावण प्रोक्तं सुरसेन्द्रजमूत्रिजं ।
चम्पाकुर्योऽथ बकुला निर्यासस्तम्भनाद्भवेत् ॥
सर्वेषामेव रंगाणां सिन्दूरक्षीर इष्यते ।
मातंगदूर्वारसप बद्धैः सस्तम्भित चित्रमुदारपुष्पैः ।
धौत जलेनापि न नाशयेत् निष्ठत्यनेकान्यपि वत्सराणि ॥

अब यहां पर जो विशेष विवेचनीय विषय है वह यह है कि विष्णु-धर्मोत्तर का राजावर्त्त क्या चीज है—कौन सा रंग है ? परशियन चित्र-पदावली में एक लाजवर्दी नाम बड़ा विश्रुत है। डा. मोती चन्द्र ने इस रंग को परशिया की देन माना है, परन्तु मेरी दृष्टि मे यह धारणा भ्रान्त है। राजावर्त्त अथवा राजावर्त जो संस्कृत तत्सम शब्द है उसी का तद्भव एवं अपभ्रंश लजावर है जो आज भी उत्तर प्रदेश के पूर्वी इलाको मे विशेषकर गोरखपुर मे नील (Blue Par-Excellence) माना जाता है। अजन्ता के चित्रों में जो इस राजावर्त्त (नीली) का प्रयोग प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है वह हमारे देश की ही विभूति है। उसमें परशिया (फारस) का कोई श्रेय नहीं। इसी प्रकार बंगाल के दसवीं तथा दशमोत्तर शताब्दियो के प्रज्ञापारमिता-चित्रों मे भी इस राजावर्त्त का ही परम-कौशल है। कल्प-सूत्र तथा कालकाचार्य-कथा जो हस्त-लिखित ग्रन्थ हैं और जो इस नीले रंग (राजावर्त्त) से रंगे गये हैं वे भी सब हमारी इस रंग-परंपरा के निदर्शन हैं। अब आइये वर्ण-विन्यास में स्वर्ण-प्रयोग पर।

स्वर्ण-प्रयोग :—चित्र, जैसा हम ने पहल ही प्रतिपादित किया है, वह प्रासेश्य और तक्षण दोनो का प्रतिनिधित्व करता है। हमारे प्रतिमा-विज्ञान में प्रतिमा-द्रव्य-वर्ग पर दृष्टिपात करें तो धातुजा अथवा धातूत्था प्रतिमाओं का कितना विलास था। अतः प्राचीन भारत में प्रतिमा और आलेख्य दोनो मे धातु का प्रयोग बड़े परिमाण में किया जाता था। जहां तक चित्र का सम्बन्ध है, वहा स्वर्ण (The metal par exvellence) का प्रयोग प्राचीन चित्रकारो की एक बड़ी हावी थी जिस मे चित्रो की अभिख्या, प्रोज्ज्वलता, कान्ति, दीप्ति, वर्ण-वर्तना अपने आप निखर उठती थी। स्वर्ण-प्रयोग के द्वारा इन सभी चित्रों—कुड्य, फलक तथा पट मे चित्र्य की वेष-भूषा, आकृति—अंगोपांग सभी अपने आप निखर उठते थे।

गान्धार की बुद्ध-प्रतिमाओं में स्वर्ण-प्रयोग सिद्ध होता है। कहा तक अजन्ता, एलोरा, बाघ, बादामी आदि चित्र-पीठों में स्वर्ण का प्रयोग हुआ कि नहीं यह एक समीक्ष्य विषय है। अब आइये स्वर्ण-प्रयोग की प्रक्रिया पर। यह प्रक्रिया द्विविधा है :—

१. पत्र-विन्यास तथा

२. रस-क्रिया।

पत्र-विन्यास :—पुराने चित्रों को देखेंगे तो उनमें स्वर्ण-पत्रों का प्रयोग होता पाया है।

रस-प्रक्रिया :—स्वर्ण को पहले तपाया जाता था, एव जब वह द्रव रूप में परिणत हो जाता था, तो उसमे फिर अभ्रक के साथ कुछ क्वाथ एवं निर्यास भी मिलाये जाते थे जैसे—चम्पा-क्वाथ, वकुल-क्वाथ।

अभिलषितार्थ-चिन्तामणि तथा शिल्प-रत्न मे वर्णो मे स्वर्ण-योग तथा स्वर्ण-लेख-विधि के बड़े सुन्दर विवरण प्राप्त होते है, जो यहा पर उद्धरणीय हैं—

शुद्ध सुवर्णमत्यर्थं शिलाया परिपोषितम् ।।
कृत्वा कांस्यमये पात्रे गालयेत्तन्मुहुर्मुहुः ।
क्षिप्त्वा तोयं तदालोड्य निर्हरेत्तज्जलं मुहुः ।।
यावच्छिन्नरजो याति तावत्कुर्वीत यत्नतः ।
घनत्वान्मस्तप हेम न याति सह वारिणा ।।
आस्ते तदमलं हेम बालार्करुचिरच्छवि ।।
तत्कनकं हेमजं स्वल्पवज्रलेपेन मेलयेत् ।

मिलित वज्रलेपेन लेखिन्यग्रे निवेशयेत् ॥
लिखेदाभरण चापि यत्किञ्चिद्हेमकल्पितम् ॥
चित्रे निवेशितं हेम यदा शोषं प्रपद्यते ।
वाराहदंष्ट्रया तत्तु घट्टयेत्कनक शनैः ॥
यावत्कान्ति समायाति विद्युच्चक्तिविग्रहम् ।
सर्वचित्रेषु सामान्यो विधिरेष प्रकीर्तितः ॥
प्रान्ते कज्जलवर्णेन लिखेल्लेखा विचक्षणः ।
वस्त्रमाभरण पुष्प मुखरागादिक सुधीः ॥
अलक्तेन लिखेत्पश्चाच्चित्रवर्णं भवत्तन ।

अब आइये तूलिका की ओर।

तूलिका—लेखनी—विलेखा (ब्रुश) :—समरांगण-सूत्रधार मे विलेखा अर्थात् ब्रुश के अर्थात् कूर्चक के पाच प्रकार बताये गये हैं। पुनः उनकी आकृति एवं निर्माण-दारू पर भी विवरण हैं। जहा तक निर्माण द्रव्य का सम्बन्ध है वह प्रायः वश-वृक्ष (बास) की लकड़ी का प्रयोग होता था। जहा तक इन की कोटियो और आकृतियो का प्रश्न है, वे निम्न तालिका मे निभालनीय हैं;—

	संज्ञा	आकार
१	कूर्चक	वटांकुराकार
२	हस्त-कूर्चक	अश्वत्थांकुराकार
३	भास-कूर्चक	प्लक्ष-सूची-निभ
४	चल-कूर्चक	उदुम्बराकार
५	वर्तनी	?

के. पी जायसवाल ने (Cf. A Hindu Text on Painting—Modern Review XXX Page 37) मे नवधा कूर्चकों का सकेत किया है। अभिलषितार्थ-चिन्तामणि मे विलेखा के सम्बन्ध में बडे ही सूक्ष्म विवरण प्राप्त होते हैं। यह लेखनी इस ग्रन्थ के अनुसार त्रि-विधा है।—

१ स्थूला
२ मध्या तथा
३ सूक्ष्मा।

पहली से लेपन, दूसरी से अकन, तीसरी से सूक्ष्मा-लेखा-विन्यास। शिल्प-रत्न में इन तीनो लेखनियों की नव-विधा है, जो मूल, मिश्र आदि रगों पर

आश्रित है। जहा तक इनके विवरणों का प्रश्न हैं, उनको निम्न उद्धरण मे पढिये :—

लेखनी त्रिविधा ज्ञेया स्थूला सूक्ष्मा च मध्यमा।
तद्दण्डमृतुमात्रं वा विष्कम्भ षड्यव स्मृतम् ॥
मुखे पुच्छे तदष्टांशमष्टाश्रं वाथ वर्तुलम् ॥
कृत्वाग्रे विन्यसेच्छंकु द्वौडमर्धागुलोन्नतम्।
यवाकार च सुदृढं तत्र संयोजयेत् पुनः।
स्थूलायां वत्सकर्णोत्थमजोदरभव परे।
चिक्रोडपुच्छजं सूक्ष्मायामरोमं तृणाग्रकम् ॥
तन्तुना लाक्षया वाथ दण्डाग्रकृतशंकुषु ॥
वध्नातु लेखनीः सम्यक् प्रतिवर्णं त्रिधा त्रिकाः।
आकृत्या च त्रिधा स्थूला सूक्ष्मा मध्येति सा पुनः ॥
प्रत्येकं नवधा चैवं प्रतिवर्णं तु लेखनी।
अथ मध्यमलेखन्या पीतवर्णरसेन तु ॥
किट्टलेखावहिर्भागे लिखित्वाव्यक्तमालिखेत्।
मार्जयेत् किट्टलेखां तां पुनः सुव्यक्तमालिखेत् ॥
रक्तवर्णरसेनाथ सर्वं सम्यक् समालिखेत्।

अब आइये वर्तना पर।

वर्तना (Delineation) :—वर्तना से तात्पर्य वर्ण-विन्यास में कान्ति एव छाया अर्थात् दीप्ति एवं अदीप्ति (Light and Shade) से है। यह वर्तना आलेख्य चित्रों का प्रमुख कौशल है। जिस प्रकार रेखा-करण (Delineation and Articulation of the form) भी आलेख्य चित्रो की परम कला है, उसी प्रकार यह वर्तना तो चित्र को कलाओं एवं शिल्पो का मुख बना देती है। वर्तना के लिए निम्नलिखित तीन सिद्धान्त परमावश्यक एवं अनिवार्य हैं :—

१ क्षय	घटाव	)	
२ वृद्धि	बढ़ाव	)	"क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त
३ प्रमाण	माव	)	

डा० स्टैला क्रेमरिश की निम्न समीक्षा (Cf. V. D. Translation—Introduction, p. 14) "Fore-shor ening (Ksaya and Vrdhi) and proportion (pramana) constitute with regard to single figures the working of observation and tradition. The law of Ksaya and

Vrdhi was as intensely studied by the ancient Indian painters as was perspective by the early Italian masters Pramana on the other hand, was the standardized canon, valid for the upright standing figure and to be modified by every bent and turn."

वर्तना की इस मौलिक पृष्ठ-भूमि के विश्लेषण के उपरान्त अब हम उसके प्रकारो पर उतरते हैं।

वर्तना-प्रभेद—त्रिविधा

१ पत्रजा (Cross-lines)

२ ऐरिक (Stumping)

३ बिन्दुज (Dots)

कोई भी चित्रकार चित्र्य के लिए प्रथम रेखा-वर्तन करता है। प्रथम रेखा या तो पीताभ या रक्ताभ खीची जाती है। विष्णुधर्मोत्तर तथा भरत-नाट्य-शास्त्र दोनों ही यही समर्थन करते हैं। विष्णुधर्मोत्तर का निम्न प्रवचन पढ़िये—

'स्थान प्रमाणं भूलम्बो मधुरत्व विभक्तता'

इससे यह पूर्ण सिद्ध होता है कि चित्र मे चित्र्य के सभी अवयवो आदि की प्रोज्ज्वलता के लिए ये सब प्रमाण, लावण्य, विभक्ता आदि विन्यास अनिवार्य हैं। महाकवि कालिदास की निम्न उपमा-उत्प्रेक्षा (दे० कुमार-सभव) को पढिए।

'उन्मीलित तूलिकयेव चित्र वपुर्विभक्त नवयौवनेन'

यहा पर 'विभक्त' शब्द कितना मार्मिक है—जो चित्र-सिद्धान्त को कितना ऊंचे उठाता है। अन्त मे यह भी समीक्ष्य है कि वर्तना के द्वारा वर्ण-विन्यास ही चित्र्य का वैषयिक एवं विषयिक (Subjective and Objective) प्रस्फोटन कर देता है। आकाश का चित्रण प्राकृतिक अर्थात् विषयिक अथवा आनुमानिक अर्थात् वैषयिक दोनो सभव हैं—वह सब वर्तना पर ही आश्रित है।

चित्र-निर्माण-रूढ़ियां
(Conventions in Painting)

प्रतीकात्मक-रूढ़ि-अवलम्बन-परम्परा :—चित्र्य को कैसे चित्रित किया जाय ? इस प्रश्न के उत्तर मे आदर्शवाद (Idealism) तथा यथार्थवाद (Realism) दोनों का सहारा लिए बिना शास्त्रीय चित्र-निर्माण-रूढ़ियो पर पूर्ण प्रतिपादन असम्भव है। सभी ललित कलायें काव्य, नाटक, सगीत, नृत्य एव चित्र आदर्शवाद के उत्तुंग प्रकर्ष से ही नही प्रभावित हैं, वरन् सास्कृतिक

परम्पराओं एवं रूढियों का भी वहां पूर्ण प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पडता है। जिस देश की जैसी संस्कृति एवं सभ्यता, जैसा जीवन एवं रहन-सहन, जैसी विचार-धारा तथा परम्परायें एवं रूढियां, वैसी ही उस देश की कलायें। यथार्थवाद कोई फोटोग्राफिक अर्थात् प्रातिबिम्बिक आभास नही, न तो आदर्शवाद यथार्थवाद का पूर्ण घातक या विरोधक। इन ललित कलाओं में यथार्थवाद भी अपनी अपनी कलाओ के द्वारा अवश्य प्रभावित रहता है और आदर्शवाद उनको ऊपर उठाता है; तभी इन दोनों के मिश्रित प्रभाव से ये कलाए वास्तव में प्रोल्लसित एवं प्रवृद्ध बनती हैं। तक्षण का कौशल (देखिए सजीव-प्रतिमाए), चित्रकार का दाक्ष्य (देखिये सजीव चित्र) सब उपर्युक्त उपोद्घात का समर्थन करते हैं। शिशुपाल-वध (३.५१) का श्लोक पढिये—जहा, मार्जार-प्रतिमा वास्तव में संजीव मार्जार का सा वर्णन प्राप्त होता है।

इसी प्रकार रघुवश (१६.१६) का श्लोक पढिये वहा भी सिंह हाथियो को मानो सजीव सा मार रहे हैं। इसी प्रकार अन्य नाना साहित्यिक एव पुरातत्वीय सन्दर्भ एव निदर्शन भी कलायें यथार्थवाद का प्रत्यक्ष दर्शन करा देते हैं। चित्रो के विद्ध, अविद्ध, सत्य, वैणिक आदि वर्गो पर हम ऊपर लिख चुके हैं। इनमे विद्ध या सत्य एक प्रकार से दर्पणवत् यथार्थता का प्रतिबिम्बन करते हैं। इस प्रकार के चित्र्य-चित्रण वास्तव मे प्रमाण, भू-लम्ब, सादृश्य, भाव-योजन, वर्णिका-भंग एवं रूप-भेद इन षडगो से ही यह प्रोल्लास प्रथित होता है। शिवतत्व-रत्नाकर तथा महाभारत के निम्न प्रवचन पढें तो इस उपोद्घात का अपने आप पूर्ण समर्थन प्राप्त हो जाता है :—

पूरयेद्वर्णतः पश्चात्तत्तद्रूपोचितं यथा।
उज्ज्वलं प्रोन्नते स्थाने श्यामलं निम्नदेशतः।
एकवर्णेऽपि तं कुर्यात्तारतम्यविशेषतः। शि० र०
प्रकीर्णे चित्रपरिचये यथा भ...नो व्यासस्यः—
"अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्ति विचक्षणाः।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः॥"

इसी प्रकार के काव्य-लक्ष्योदाहरण जैसे हेमचन्द्र के काव्यानुशासन मे धनपाल की तिलक-मञ्जरी में भी यही चित्र-धारणा है। ति० मं० का निम्न पद पढ़ें :—

"दिनकरप्रभेव प्रकाशितव्यक्तनिम्नोन्नतविभागा"

इसी प्रकार जैसा ऊपर कहा है अन्य साहित्यिक सन्दर्भों मे भी ऐसे अनेक और उदाहरण मिलते हैं। इस लक्षण का काव्य-मय विलास ही नही, स्थापत्य-निदर्शनो मे जैसे अजन्ता, बाघ, सित्तनवसल अथवा तजोर आदि प्राचीन प्रासाद-चित्र-पीठो पर भी यहम महा विलास एव प्रोल्लास प्राप्त होता है। अत. शिल्प-ग्रन्थो मे क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त का जो प्रतिपादन है, वही स्थापत्य मे भी पूर्ण प्रतिबिम्बित है।

अब प्रश्न यह है कि बिना रूढि-अवलम्बन (Adopting the Technique of Conventions) यह क्षय-वृद्धि, सादृश्य, भूलम्ब एवं प्रमाण आदि षडग-चित्र का पूर्ण विधान कैसे सभव हो सकता है ? बिना रूढि-अवलम्बन (Conventions) के यह सर्व-प्रमुख अंग (क्षय-वृद्धि) मुखरित ही नहीं होता। सत्य तो यह है कि रूढि-अवलंबन ही क्षय-वृद्धि का प्राण है, जिस से यथार्थवादी चित्र पनप सका। चित्र्य प्रतिमा के केश कैसे दिखाये, आखो का स्पन्दन कैसे विलसित हो, शरीर का घेरा, मोटाई, ऊचाई, विशालता आदि प्रमाण कैसे अंकित हो सकते हैं—इन सब के लिए यह सिद्धान्त सापेक्ष्य-रूढि-अवलम्बन से तात्पर्य प्रतीकत्व-कल्पन है। जिस प्रकार काव्य मे ध्वनि को Suggestion कहते हैं, उसी प्रकार यह प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन चित्र मे ध्वनि ही है। जिस प्रकार काव्य मे शब्दालंकारादि की चमक केवल उसको कान्ति तो दे सकती है परन्तु व्यञ्जना नही। व्यञ्जना ही उसे नीचे से उठा कर उत्तुंग शिखर पर केलि करा देती है। इसी प्रकार चित्र मे यह प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन एक प्रकार की व्यञ्जकला ही है, जो चित्र को एक-मात्र मृदुता ही नही प्रदान करती वरन् नाना व्यग्यो का प्रेक्षको को आभास भी दिलाती है।

विद्वान् स्मरण करें कि जिस प्रकार काव्य मे व्यक्ताव्यक्त-कामिनी-कुच-कलश के समान अलंकार एव ध्वनि की विनिवेश-समीक्षा है, उसी प्रकार प्रतीकात्मक-रूढि-अवलम्बन-परम्परा चित्र मे भी यही विलास उपस्थित करती है।

प्रतिमा-स्थापत्य को भी देखें, जिनमें मुद्राओ (शरीर, पाद, हस्त मुद्राओं) के द्वारा समस्त ज्ञान, वैराग्य, उपदेश, आशीष, भर्त्सन, मगल, वरदान आदि सभी इसी प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन मे सन्न व्यञ्जित हो जाता है। अस्तु, इस उपोद्घात् का, हम विष्णु-धर्मोत्तर तथा स० सू० के निम्न प्रवचन से पूरा का पूरा समर्थन स्वतः प्राप्त कर जाते हैं :—

यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता।

दृष्टयश्च तथा भावा अंगोपागानि सर्वशः ॥
कराश्च ये महा (मया?) नृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम ।
त एव चित्रे विज्ञेया नृत्तं चित्र परं मतम् ॥
हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन् ।
सजीव इति दृश्येत् सर्वाभिनयदर्शनात् ॥
प्रागिके चैव चित्रे च प्रतिमासाधनमुच्यते ।

इस उपोद्घात् के अन्त मे हमें पुनः चित्र के सार्वभौमिक क्षेत्र पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है :—

जंगमा स्थावराश्चैव ये सन्ति भुवनत्रये ।
तत्तत्स्वभावतस्तेषा करण चित्रमुच्यते ॥

जब चित्र का इतना बडा विस्तार है तो बिना रूढ़ियो के अवलम्बन, बिना प्रतीकत्व-कल्पन यह सब कैसे चित्र्य हो सकता है ?

रूप-निर्माण :—विष्णु-धर्मोत्तर मे रूढि-निर्माण का बडा ही बहुल प्रतिपादन है। दैत्य, दानव, यक्ष किन्नर, देव, गन्धर्व, ऋषि, राजे महाराजे, अमात्य, ब्राह्मण किस प्रकार से चित्र्य हैं और उनके चित्रण मे कौन कौन से सिद्धान्त जैसे प्रमाण, सादृश्य, क्षय-वृद्धि एवं प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन आवश्यक हैं—यह सब विधान निम्न तालिका से स्वतः स्पष्ट हो जाता है :—

चित्र	वैशिष्ट्य
१. ऋषि-गण	जटाजूटोपशोभित, कृष्ण-मृग-चर्म धारण किए हुए, दुर्बल एवं तेजस्वी ;
२. देव तथा गन्धर्व	शेखर-मुकुट धारण किए हुए ; टि० श्री शिव राममूर्ति ने वि० ध० के "शिखिरै रूपशोभिताः" को नही समझा ; अतएव अर्थ नहीं लगा सके। यह पद भ्रष्ट है अतः यह 'शेखरैरूपशोभिताः' होना चाहिए—देखिए मानसार वहां पर शेखरो की नाना विधाओं मे शेखर-मुकुट भी एक विधा है।
३. ब्राह्मण	ब्रह्मवर्चस्वी एवं शुक्लाम्बरधारी।
४. मन्त्री, साम्वत्सर तथा पुरोहित	ये मुकुट-विहीन एवं सर्वालंकरों से युक्त तथा ठाठ बाठ के कपड़ो से परिवेष्टित हों, इनके साफा जरूर बंधा हुआ होना चाहिए ;

५. दैत्य तथा दानव	भृकुटि-मुख, गोल-मटोल तथा गोल आख वाले, भयानक एवं उद्धत-वेश-धारी,
६. गन्धर्व तथा विद्याधर	सपत्नीक, रुद्र-प्रमाण, माल्यालंकार-धारी खड्ग-हस्त, भूमि पर अथवा गगन मे ;
७. किन्नर—द्विविध	नृवक्त्र (नरमुख) तथा अश्वमुख—दोनों ही रत्न-जटित, सर्वालंकार-धारी एवं गीत-वाद्य-समायुक्त तथा द्युतिमान;
८. राक्षस	उरश्च, विकलाक्ष एवं विभीषण;
९. नाग	देवाकार, फण-विराजित,
१०. यक्ष	सर्वालंकारलंकृत;
	टि॰ सुरों के प्रमथ-गण तथा पिशाच ये दोनों प्रमाण-विवर्जित हैं।
११. देवों के गण	नाना-सत्व-मुख, नाना-वेश-धारी, नाना आयुध-धारी, *नाना-क्रीडा-प्रसक्त, नाना कर्म-कारी;*
	टि॰ वैष्णव-गण एक ही कोटि के चित्र्य हैं। विशेषता यह है कि वैष्णव गण चतुर्धा हैं:—वासुदेव-गण वासुदेव को, संकर्षण-गण संकर्षण को, प्रद्युम्न-गण प्रद्युम्न को तथा अनिरुद्ध-गण अनिरुद्ध को अनुगमन करते हुए चित्र्य हैं। ये सब अपने देवता का विभ्रम प्रदर्शित करें। इनकी कान्ति नीलोत्पल-दल के समान हो और चन्द्र के समान शुभ्र हों, इनके आकार मरकत-सदृश हों और प्रभा सिन्दूर के सदृश हो;
१२. वेश्यायें	वेश उद्धत एवं शृंगार-सम्मत,
१३. कुल-स्त्रियां	लज्जावती;
	टि॰ दैत्यों, दानवों और यक्षों की पत्नियां, रूपवती बनानी चाहिएं। विधवायें पलित-संयुता, शुक्ल-वस्त्र-धारिणी, सर्वालंकार-वर्जिता;
१४. कञ्चुकी	वृद्ध;
१५. वैश्य तथा शूद्र	वर्णानुरूप वेश-धारी;

१६.	सेनापति	महाशिर, महोरस्क, महानास, महाहनु, पीन-स्कन्ध, भुज-ग्रीव, परिमाणोच्छ्रित, त्रितरंग-ललाट, व्योम-दृष्टि, महाकटि एव दृप्त ;
१७.	योधा-गण	भृकुटी-मुख, किञ्चित् उद्धत-वेश एव उद्धत-दर्शन ;
१८.	पदाति	उछलती हुई गति से चलने वाले और आयुधो को धारण किए हुए—विशेषकर खड्ग-चर्म धारण किए हुए चित्र्य हैं। विशेष विशेषता यह है कि उनका कर्णाटक कोटि का होना चाहिए ,
१६	धनुर्धारी	नग्न जंघा वाले, उत्तम बाण लिए हुए, जूते पहने हुए ;
२०	पीलवान	श्यामवर्ण, अलकृत, जूटधारी ;
२१.	घुड़सवार	उदीच्य-वेश ,
२२.	बन्दि-गण	शाही वेष वाले, परन्तु सिरा-दर्शित-कंठ तथा उन्मुख दृष्टि ;
२३.	आह्वानक	कपिल एवं केकर के समान आख वाले ;
२४.	दंड-पाणि (द्वार-पाल)	प्राय: दानव-सकाश ;
२५.	प्रतीहार	दंड-धारी, आकृति एवं वेश न अधिक उद्धत न शान्त, बगल में खड्ग तथा हाथ में दण्ड ;
२६.	वणिक्	ऊंचा साफा बांधे हुए;
२७.	गायक एवं नर्तक	शाही वेष-धारी ;
२८.	नागरिक (पौरजानपद)	शुभ्र-वस्त्र-विभूषित, पलित-केश एवं निज भूषणों से विभूषित, स्वभाव से प्रिय-दर्शन, विनीत एवं शिष्ट ;
२६.	मजदूर (कर्मकर)	स्व-स्वकर्म-व्यय ;
३०.	पहलवान	उग्र, नीच-केश, उद्धत, पीन-ग्रीव, पीन-शिरोधर, पीन-गात्र तथा लम्बे ;
११.	वृषभ एव सिंह आदि तथा अन्य सत्व-जातियां	ये सब यथा-भूमि-निवेश विर्वस्य है ;
३२.	सरितायें	स-शरीर-चित्रण मे वाहन-प्रदर्शन अनिवार्य है, पुनः हाथों में पूर्ण कुम्भ लिये हुए तथा घुटनों को नचाए हुए ;

३३.	शैल	मूर्धा पर शिखर-प्रदर्शन आवश्यक है;
३४.	पृथ्वी (भू-मण्डल)	सशरीरा, सद्वीप-हस्ता; टि० श्री शिव राममूर्ति एवं डा० क्रैमरिश दोनों इन विद्वानों ने विष्णु-धर्मोत्तरीय इस लक्षण को नहीं समझा क्योंकि हमारी परम्परा में पृथ्वी, देवी के रूप में विभावित है, अतः जब वह चतुर्भुजा या अष्ट-भुजा गौरी, लक्ष्मी या अष्टमंगला के रूप में विभाव्य है, तो उसके सातों हाथों में सातों द्वीप करामलकवत् स्वयं प्रदर्श्य हैं।
३५.	समुद्र	रत्न-पात्रों से उसके शिखर-रूपी हाथ प्रदर्श्य हैं, प्रभा-मंडल बनाकर सलिल-प्रदर्शन विहित हो जाता है;
३६.	निधियां	कुम्भ, शंख पद्म आदि लांछनों सहित इसके दिव्य (शंख पद्म, निधि आदि) अवयव प्रदर्श्य हैं;
३७.	आकाश	विवर्ण (Colourless), खगाकुल;
३८	दिव (Heavens)	तारका-मंडित;
३९.	धरा—त्रिविधा	१ जांगल-(जंगली), २ अनूपा (दलदली), ३ मिश्रा यथा-नाम तथा-गुणा।
४०.	पर्वत	शिला-जाल, शिखर, धातु, द्रुम, निर्झर, भुजंग आदि चिन्हों से चिन्हित;
४१.	वन	नाना-विध वृक्ष-विहंग-श्वापद-युक्त;
४२.	जल	अनन्त-मत्स्यादि-कच्छपों एवं जलीय जन्तुओं के द्वारा विभावित;
४३.	नगर	चित्र-विचित्र-देवतायतनों, प्रासादों, आपणों (बाजारों) एवं भवनों तथा राज-मार्गों से सुशोभित;
४४.	ग्राम	उद्यानों से भूषित और चारों ओर राहों से युक्त;
४५.	दुर्ग	वप्र, उत्तुंग अट्टालक आदि से परिवेष्टित;
४६.	आपण-भूमि	पण्य-युक्त—दुकानों से घिरी हुई;

४७.	आपान-भूमि	पीने वाले नरों से आकुल;
४८.	जुवारी	उत्तरीय-विहीन एव जुआ खेलते हुए;
४९.	रण-भूमि	चतुरंग सेना से युक्त, भयानक लडाई लडते हुए योधा-गणों से, और उनके अंगों मे रुधिर की धारा बहती हुई और शवो से पूरित;
५०.	श्मशान	जलती हुई चिता से प्रदर्श्य हैं, जहां पर लकडी के ढेर और शव भी पडे हो;
५१.	मार्ग	सभार उष्ट्रों सहित;
५२.	रात्रि (अ)	चन्द्र, तारा, नक्षत्र, चोर, उलूक आदि से एवं सुप्तो से;
	(ब)	प्रथमार्ध-रात्रि अभिसारिकाओ से;
५३.	उषा	सारुणा, म्लान-दीपा, कुक्कुट-रुता;
५४.	सध्या	नियमी ब्राह्मणो से;
५५.	अधेरा	घर जाते हुए मनुष्यों की गति से;
५६.	ज्योत्स्ना	कुमुदों के विकास एव चन्द्रमा से;
५७	सूर्य	क्लेश-तप्त प्राणियो से;
५८.	बसन्त	फुल्ल-वृक्षों से, कोकिलाओ, भ्रमरों, प्रहृष्ट नर-नारियो से;
५९.	ग्रीष्म	क्लान्त नरो से, छायागत मृगों से, पंकमलिन महिषों से, शुष्क-जलाशय-चित्रण से;
६०.	वर्षा	द्रुम-सलीन पक्षियो से गुहा-गत सिंह-व्याघ्रादि श्वापदो से, जल-घन बादलो से, चमकती हुई बिजली से;
६१.	शरद्	फलो से लदे हुए वृक्षों से, पके हुए खेतों से, हसादि पक्षियो से सुशोभित सलिलाशयो से;
६२.	हेमन्त	सारी की सारी सूनी (सूनी) धरती से, धुंधले वातावरण से (सनीहार-दिगन्तकम्);
६३.	शिशिर	हिमाच्छन्न दिग-दिगन्त से, वृक्षों में पुष्प और फलों से और ठिठुरते हुए प्राणियो से ।

टि० :—विशेष प्रवचन यह है कि वृक्षो के फलों-फूलो पर एकमात्र दृष्टिपात एवं जनो का आन्दातिरेक—यही चिम्ब ऋतुओ के लिये काफी है।

इस तालिका के उपरान्त अब इस स्तम्भ में यह भी प्रश्न में समीक्ष्य एवं विवेच्य है कि यह प्रतीकात्मक रूढ़ि-अवलम्बन एक-मात्र क्षय-वृद्धि एवं सादृश्य तथा मूलम्बादि चित्रांगों पर ही आश्रित नहीं है; प्रमाण भी उसी प्रकार अनिवार्य है।

देव, ऋषि, गन्धर्व, दैत्य, दानव, राजे-महाराजे, अमात्य तथा सांवत्सर, पुरोहित आदि सब भद्र-प्रमाण (दे० अनुवाद एवं मूल—पंच-पुरुष-स्त्री-लक्षण) में चित्र्य है। विद्याधरों को रूद्र-प्रमाण में, किन्नर, नाग, एवं राक्षस मालव्य-प्रमाण में करना चाहिए। जहां तक वेश्याओं एवं लज्जावती महिलाओं का प्रश्न है, वे रुचक एवं मालव्य-प्रमाण में क्रमशः चित्र्य हैं। वैश्य भी रुचक मान में प्रदर्शित हैं। शूद्र-मान शशक-मान विहित हैं। यह ग्रन्थ भी कुछ विशेष क्रमिक नहीं है। जहां तक अन्य शिल्प-ग्रन्थ जैसे कामिकागम आदि, वहां मान-प्रमाण ताल-मान पर आश्रित हैं।

चित्र रस एवं दृष्टियां

पीछे के स्तम्भों में रेखा-करण, वर्तना-करण एवं वर्ण-विन्यास इन सब पर कुछ न कुछ प्रतिपादन हो चुका है। *निम्न लिखित प्रवचन पढ़िए :—*

"रेखां प्रशसन्त्याचार्याः वर्णाढ्यमितरे जनाः

स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्तनां च विचक्षणाः ॥"

तथापि वर्ण-विन्यास एक प्रकार से चित्र-कार और चित्र-द्रष्टा दोनों के मन को अवश्य अभिभूत करता है। इसी मन स्थिति में चित्र-कार एवं चित्र-द्रष्टा दोनों की कल्पनाओं का स्वतः जन्म हो जाता है। अतः काव्य और चित्र में विशेष अन्तर नहीं है।

वैसे तो चित्र की विधाओं पर हमने मानसोल्लास और शिल्प-रत्न के रस-चित्रों का भी वहां पर प्रस्ताव किया है तथापि इन ग्रन्थों की दृष्टि में रस-चित्र या तो द्रव-चित्र हैं या भाव-चित्र है। भरत के नाट्य-शास्त्र में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कोई भी रस, यदि किसी चित्र में चित्रित करना है, तो उस को अभिव्यञ्जक वर्ण-विन्यास से प्रतीत करना चाहिए। शृंगार का अभिव्यञ्जक श्याम वर्ण है; हास्य का शुभ्र, करुण का ग्रे (Gray), रौद्र का रक्त, वीर का पीताभ शुभ्र, भयानक का कृष्ण, अद्भुत का पीत तथा बीभत्स का नीला है।

चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों में समराङ्गण-सूत्रधार ही एक मात्र ग्रन्थ है जिसमें चित्र-रसों एवं चित्र-दृष्टियों का वर्णन है। इस ग्रन्थ के लेखक भोजदेव के अनुसार

प्रकाश से हम परिचित ही हैं और संस्कृत-साहित्य में महाराज भोजदेव की बड़ी देन है और वे एक ऊँचे साहित्य-शास्त्री (Aesthetician) थे। अतएव यह अध्याय उसी दिशा में उनकी देन है। इस अध्याय का निम्न प्रवचन पढ़िए :—

> रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीनां चेह लक्षणम्।
> तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते॥

अस्तु, इस उपोद्घात् के अनन्तर अब हम इन रसों एवं रस-दृष्टियों की तालिका पाठकों के सामने रखते हैं। यद्यपि अनुवाद-खंड में रस-दृष्टि-लक्षण-शीर्षक अध्याय में इन सभी रसों एवं रस-दृष्टियों का प्रतिपादन बहा है ही तथापि रस का सरलीकरण एवं नवीन-रूप देकर यह दो तालिकाएं उपस्थित की जाती हैं :

एकादश चित्र रस

संज्ञा	शरीरिक वृत्ति	मानसिक वृत्ति
१. शृंगार	स-भ्रू कम्प, प्रेमातिरेक :	ललित चेष्टायें
२. हास्य	अपांग विकसित, अधर स्फुरित ;	लीला
३. करुण	अश्रुक्लिन्न कपोल; आंखें शोक-संकुचित;	चिन्ता एवं सन्ताप
४. रौद्र	आंखें लाल, ललाट निर्मीजित, अधरोष्ठ दन्त-दष्ट ;	
५. प्रेमा	हर्षातिरेक सम्पूर्ण शरीर पर—अर्थलाभ, सुतोत्पत्ति एवं प्रिय-दर्शन से ;	
६. भयानक	लोचन उद्भ्रान्त, हृदय-संक्षोभ, यह सब वैरि-दर्शन एवं त्रास से ;	
७. वीर	....	धैर्य एवं वीर्य
८. ...	....	....
९. बीभत्स	....	....
१०. अद्भुत	तारकायें स्तमित अथवा प्रफुल्लित किसी असंभाव्य वस्तु अथवा दर्शन से;	
११. शान्त	समस्त शरीरावयव अविकारि ;	अराग एवं विराग

अष्टादश चित्र-रस-दृष्टियाँ

क्रम सं०	संज्ञा	आश्रय रस
१.	ललिता	शृंगार
२	हृष्टा	प्रेमा
३.	विकसिता	हास्य
४.	विकृता	भयानक
५.	भृकुटी	......
६.	विभ्रान्ता	श्रगार
७.	सकुचिता	श्रगार
८.	......	......
९.	ऊर्ध्वगता	......
१०.	योगिनी	शान्त
११	दीना	करुण
१२.	दृप्टा	वीर
१३.	विह्वला	भयानक तथा करुण
१४.	शकिता	भयानक तथा करुण

इस स्तम्भ में यह भी सूच्य है कि ये रस तथा रस-दृष्टिया सस्कृत काव्य-शास्त्र की कापी नहीं हैं। इन रसों और रस-दृष्टियों के लक्षण से अपने आप सिद्ध है कि ये लक्षण बहुत काफी परिमार्जित एवं परिवर्तित संस्करण मे रक्खे गये हैं, जिससे भाव-चित्र-प्रतिमाओ मे भी विहित हो सकें। यह हम जानते ही हैं कि काव्य मे भावो का स्थान गौण है और रसों का स्थान मूर्धन्य है। बात यह है कि चित्र में भावो पर ही शारीरिक एव मानसिक दोनों ही स्फूर्तिया क्रीडा करती हैं और यही चित्र का परम कौशल है।

अस्तु, अब हमे चित्र-कला में इस साहित्य-सिद्धान्त (Aesthetics) के परिवृत्त में दो प्रश्नों को लेना है। यद्यपि संस्कृत-साहित्य-शास्त्रीय अथवा संस्कृत-काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से रसों का साक्षात् सम्बन्ध मानवो (नर, नारी एवं शिशु) से ही है और उन्हीं के दिव्य रूपों यथा देव, दानव दैत्यों से ही है, परन्तु इस चित्र-रचना मे रसों को इस परिमित कोटि से बहुत आगे बढ़ा दिया गया है और इसका एक-मात्र श्रेय इसी ग्रन्थ को है। पाठक इस स० सू० के अध्याय का निम्न प्रवचन पढ़ें :—

इत्यते चित्र-संयोगे रसाः प्रोक्ताः सलक्षणाः ।
मानुषाणि पुरस्कृत्य सर्वसत्वेषु योजयेत ॥

मेरे लिए इस वाक्य ने इस अध्याय में बड़ी प्रेरणा प्रदान की। अतएव मैंने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ (Hindu Canons of Painting) मे इस वाक्य की सराहना करते हुए निम्न समीक्षा की है जो पाठकों के लिए पठनीय है। यहां पर यह उद्धृत की जाती है :—

"Two important points in relation to the aesthetics in the pictorial art still need to be expounded. Firstly all these rasas, though characteristic of only human beings—men. women, and children and in their likeness, the anthropomorphic forms of the gods and demi-gods and demons—they have an application to all sentient creations–Manusani Puraskrtya Sarvasatvesu Yojayet' 82 13. This statement goes to the very core of the art and shows that if birds and animals in paints could be shown manifesting the sentiments, it is realy the master-piece, the supreme achivement of the artist. It becomes a new creation, a superio creation to that of Brahma, the Primordial Creator Himself, If it is through the *symbolism of Mudras—hand poses,* bodily poses and the postures of the legs the mute gods speak to us,giving their vent to the sublimest of thoughts and noblest of expressions, these so-called brutes can also become our co sharers in the aesthetic experience. It is the marvel of the art. If poetry can create an idealistic world full of beauty and bliss alone, the plainting, her sister must also follow the suit."

अब आईये एक तुलनात्मक समीक्षा की ओर जिसमें हम नाट्य, काव्य, रस और ध्वनि सभी को लेकर इस चित्र-कला की समीक्षा करेंगे।

चित्र-कला नाट्य-कला पर आश्रित है :—विष्णु-धर्मोत्तर में मार्कण्डेय और वज्र के संवाद में चित्र-कला की मौलिक भित्ति वास्तव में नाट्य-कला है जो इस संवाद से स्वतः प्रकट :—

मार्कण्डेय उवाच—नृत्य-शास्त्र के ज्ञान के बिना, चित्र-विद्या के सिद्धान्तों को समझना बड़ा ही कठिन है, इस लिए हे राजन् इस पृथ्वी का कोई भी कार्य इन दोनों विद्याओं के बिना असम्भव है"

वज्र उवाच—श्री ब्राह्मण ! नृत्य-कला और चित्र-कला के सम्बन्ध में मुझे पूरी तरह से समझाइये क्योंकि मैं भी यह मानता हूँ कि नृत्य-कला के सिद्धान्तों में चित्र-कला के सिद्धान्त स्वयं गतार्थ हैं।

मार्कण्डेय पुनरुवाच—राजन् ! नृत्य का अभ्यास किसी के भी द्वारा दुष्कर है, जब तक वह संगीत को नहीं जानता तो फिर बिना संगीत के नृत्य का आविर्भाव ही असम्भव है।

अतएव इस विष्णुधर्मोत्तरीय महान् विभूति का अनुगमन करते हुए महाराजाधिराज भोजराज इस समन्वय-दृष्टि से नृत्य-नाट्य-संगीत की भूमि पर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित चित्र-विद्या को काव्य और साहित्य के प्लेट-फार्म पर लाकर खड़ा कर दिया है। इस रसाध्याय के निम्न प्रवचन पढ़िये :—

हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन्।
सजीव इव दृश्येन सर्वाभिनयदर्शनात् ॥
आंगिके चैव चित्रे च प्रतिमासाधनमुच्यते।
(भवेदत्रायत ?) स्तस्मादनयोश्चित्रमाश्रितम् ॥
प्रोक्तं रसानामिदमत्र लक्ष्म दृशां च संक्षिप्ततया तत्।
विज्ञाय चित्रं लिखतां नराणां न संशयं याति मनः कदाचित् ॥

इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों की अवतारणा से यह प्रकट हो गया है कि चित्र नाट्य पर आधारित है। मेरी दृष्टि में तो नाट्य तथा चित्र दोनों ही अन्योन्याश्रयी हैं। चित्र नाट्य का एक दृश्य है और नाट्य चित्रों की कड़ी (Succession of citras) है।

विष्णुधर्मोत्तर का पूर्वोक्त प्रवचन (विना तु नृत्य शास्त्रेण चित्रसूत्र सुदु-र्विदमित्यादि) पढ़ें तो जिस प्रकार नाट्य 'अनुकरण' पर आधारित है उसी प्रकार चित्र भी अनुकरण पर ही आधारित है। पुनः जिस प्रकार नाट्य में हस्त-मुद्राएं अनिवार्य हैं ; उसी प्रकार चित्र-शास्त्र एवं प्रतिमा-शास्त्र में भी इन मुद्राओं—शरीर-मुद्राओं (ऋज्वागतादि), पाद-मुद्राओं (वैष्णवादि-स्थानक आदि) तथा हस्त-मुद्राओं (पताका आदि) का भी इस चित्र-कला एवं प्रतिमा-कला में सामान्य प्रसंग है (दे० समरांगण-सूत्रधार का परिमार्जित संस्करण एवं अनुवाद षष्ट पटल)। यथाप्रतिज्ञात अब विष्णु-धर्मोत्तरीय प्रवचन को सामने रखता हूँ :—

विना तु नृत्यशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्।
यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता ॥
दृष्टयश्च तथा भावा अंगोपांगानि सर्वशः।

करादच ये महानृते पूर्वोक्ता नृपसत्तम ।।
त एव चित्रे विज्ञेया नृत्तं चित्रं पर मतम्

इन दोनो सदर्भों की अवतारणा के उपरान्त यह स्वत: सिद्ध हो गया है कि चित्र जिस प्रकार से मुद्राओं के द्वारा बहुत कुछ व्यक्त अवश्य होते हैं परन्तु रसो और रस-दृष्टियो मे वे साक्षात् सजीव हो उठते है । जिस प्रकार व्याख्यान, वरद आदि मुद्राओं से प्रतिमाएं व्याख्यान देने लगती हैं, उपदेश देने लगती हैं, वरदान देने लगती हैं, उसी प्रकार से ये मुद्रायें चित्रो और प्रतिमाओं को अपने पूर्ण व्यक्तित्व मे अभिव्यक्त कर देती हैं। भाव-व्यक्ति जब रसाभिव्यक्ति मे परिणत हो जाती है तो यह कला न रह कर रस शास्त्र (Aesthetics) बन जाती है। अब आइये चित्रो को काव्य के रूप मे देखें :—

काव्य एवं चित्र :—वामन अलंकारिक-परम्परा के प्रौढ आचार्य माने जाते हैं; उनके काव्यालकार-सूत्र मे बहुत से अलंकार एवं वृत्तिया चित्र के रूप मे व्याख्यापित हैं। इसी महती दृष्टि से काव्य की परिभाषा को चित्र मे परिणत कर दिया हैं :—

रीतिरात्मा काव्यस्य

और रीति को उन्होने जो वृत्ति से व्याख्या की है वह भी कितनी मार्मिक है :—

"एतासु तिसृषु रेखास्विव चित्रं काव्य प्रतिष्ठतम्"

यत : उन्होने काव्य की आत्मा 'रीति' मानी है उसी प्रकार से चित्र की आत्मा रेखायें हैं। विष्णु-धर्मोत्तर के उपरि-उद्धृत 'रेखा प्रशंसन्त्याचार्या' भी यही परिपुष्ट करता है। पुनः वामन अपने काव्यालकार-सूत्र-वृत्ति ३.१ मे रेखा से आगे बढ़ कर गुण मे आ जाते हैं :—

यथा विच्छिद्यते रेखा चतुर चित्र-पण्डितैः ।
तथैव वागपि प्राज्ञैः समस्तगुणगुम्फिता ।।

यह उक्ति पुनः विष्णुधर्मोतर की उक्ति का स्मरण कराती है :—
'वर्णाढ्यमितरे जताः'

निम्नलिखित थोड़े से और उद्धरण पढिए, जिससे काव्य एवं चित्र मे क्या कोई अन्तर है—यह सब अपने आप बोध-गम्य हो जावेगा :—

"औज्ज्वल्यं कान्ति :—यह काव्य के दस गुणो मे से कान्ति भी प्राचीन आलकारिको के द्वारा माना गया है ; अतः कान्ति अर्थात् औज्ज्वल्य यथा पूर्व-

स्तम्भों में चित्र गुणों में औज्ज्वल्य की समीक्षा कर ही चुका हूं वही वामन के मत में औज्ज्वल्य काव्य-गुण है। पुन. उनके लक्षण एवं वृत्ति को देखें :—

" औज्ज्वल्य कान्तिः का सू० ३.१ २५.

"यथा विच्छिद्यते रेखा चतुर चित्रपण्डितैः।

तथैव वागपि प्राज्ञः समस्तगुणगुम्फिता। 'का. सू० ३.१

" औज्ज्वल्य कान्ति " 　　का. सू. ३ २५

"बन्धस्य उज्ज्वलत्व नाम यत् असौ कान्तिरिति, तदभावे पुराणच्छाये-त्युच्यते"

' औज्ज्वल्य कान्तिरित्याहुर्गुण गुणविशारदा.।

पुराणचित्रस्थानीयं तेन वन्ध्य कवेर्वच.॥

वामन अपने काव्यालकार सूत्र (१ ३.३०-३१) में भी विष्णुधर्मोत्तर के समान ही नाट्य एव चित्र को क ही कोटि में लाकर रख देते हैं :—

"सन्दर्भेषु दशरूपक नाटकादि श्रेयः तद्धि चित्र चित्रपटवत् विशेष-साकल्यात्"

यही भरत के नाट्य-शास्त्र तथा भाव-प्रकाश से भी समर्थित है—

"अवस्थानुकृतिर्नाट्य रूप दृश्यनयोच्यते" भ० ना० शा०

"रूपक तद् भवेद् रूपं दृश्यत्वात् प्रेक्षकैरिदम" भा० प्र०

(ख) अतएव वामन ने जो" रीति-रात्मा काव्यस्य"

कहा है उसी की सुन्दर टीका हमें रत्नेश्वर के द्वारा भोज देव के सरस्वती-कण्ठाभरण में प्रदत्त इस वामन के सूत्र की जो वहा व्याख्या मिलती है वह भी कितनी मार्मिक है :

"यथा चित्रस्य लेखा प्रागप्रत्यङ्गलावण्योन्मीलनक्षमा, तथा रीतिरिति द्वितीये विस्तर :"

भाट्टतौत के शिष्य अभिनवगुप्त ने भी अपनी अभिनव-भारती में वामन के इस नाट्य एव चित्र के सन्दर्भ को भी समर्पित किया है, जो वहीं पर पठितव्य है।

(II) राजशेखर की अपने बाल-भारत (प्रचण्ड-पाण्डव) में प्रदत्त निम्न उक्ति को पढ़िये और समझने की कोशिश कीजिये—

"किञ्च स्तोकतमः कलापकलनश्यामायमान मनाक्

धूमश्यामपुराणचित्ररचनारूपं जगज्जायते"

(III) राजानक कुन्तक के वक्रोक्ति-जीवितम् के निम्न श्लोक

मज्जनोफतवोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक् ।
चित्रस्येव मनोहारि कर्तुः किमपि कौशलम् ॥

इन दोनों सन्दर्भों से चित्र-विद्या एवं काव्य-शास्त्र का कितना सुन्दर अन्योन्याश्रयिभाव प्रत्यक्ष है । राजनक-कुन्तक यहां दो भूमि-बन्धनों (कुड्य एवं पट्) की ओर सकेत ही नही करते, वरन् रेखा-कर्म के सिद्धान्तों—जैसे प्रमाण (anatomical), वर्ण, छाया-कान्ति आदि पर भी प्रकाश डालते हैं ।

चित्र एवं रस :—चित्र-कला मे रसो एवं रस-दृष्टियो के अत्यन्त महत्व-पूर्ण स्थान का हम पहिले इस स्तम्भ मे विचार कर चुके है । यहाँ तो हमे संस्कृत के काव्याचार्यों को लेना था, अतः निम्नलिखित दोनो उद्धरणों को पढ़िये । एक चित्र-शास्त्री अभिलाषितार्थ-चिन्तामणि के लेखक, महाराज सोमेश्वरदेव का तथा संस्कृत काव्य-शास्त्री चन्द्रालोक के लब्धप्रतिष्ठ लेखक जयदेव का—

शृंगारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते ।
भावचित्र तदाख्यातं चित्रकौतुककारकम ॥ अभि० चि०
काव्ये नाट्ये च कार्ये च विभावाद्यैर्विभावितः ।
आस्वाद्यमानैकतनु. स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥—चन्द्रा०

अतः यह पूर्ण प्रकट है जब चित्र नाट्य पर आश्रित है और नाट्य रसास्वाद अथवा रसाभिव्यक्ति पर ही आश्रित है, तो उसी प्रकार काव्य भी तो रस-सिद्धान्त चित्र-कला का भी तत्सम सिद्धान्त है । आइये सर्वोपर कोटि पर—ध्वनि-सिद्धान्त ।

चित्र एवं ध्वनि :—पीछे के स्तम्भ मे प्रतीकात्मक अवलम्बनों (Convention in depicting pictures) पर हम काफी कह चुके हैं, अतः जिस प्रकार व्यञ्जना (Suggestion) उत्तम काव्य की मूल भित्ति है, उसी प्रकार आकाश, पृथ्वी, पर्वत, जुवारी, मार्ग आदि कैसे बिना प्रतीकात्मक अवलम्बनों (Suggestions or symbols) के चित्र्य हो सकते हैं । आधुनिक काव्य एव कला के समीक्षक ललित-कला में मुद्रा-सिद्धान्त (Symbolism in Art) को प्राण माना है तो प्राचीन आचार्यों ने पहले ही यह परम्परा प्रारम्भ कर दी थी । नाट्य, प्रतिमा एवं चित्र में बिना मुद्रा ये सब निष्प्राण हैं; अतः जो मुद्रा है वही व्यंजना है । रसध्वनि स्वशब्दवाच्यत्व से हमेशा दूर रहते हैं; तभी काव्य में उत्तम काव्यता प्राप्त हो सकती है । उसी प्रकार चित्र भी काव्य एवं नाट्य के

समान तभी ललित कला हो सकती है, जब व्यंजना या प्रतीकात्मक अवलम्बन (Suggestion or symbol) उसमे पूर्ण प्रतिष्ठित हो।

चित्र-शैलियां
(पत्र एवं कण्टक के आधार पर)

जहां तक चित्र-शैलियो की बात है स्थापत्य की ही शैलियों में इनको गतार्थ किया जा सकता है। अब तक किसी ने भारत-भारती Indoloy में चित्रो के सम्बन्ध मे शैलियो का उपदलोकन नही किया है। अनेक वास्तु-ग्रन्थों के अध्ययन के उपरान्त जब हम अपराजित-पृच्छा पर आए, तो इस ग्रन्थ के २२७-२२९ सूत्रो मे बडी ही मार्मिक एव नवीन उद्‌भावना प्राप्त की है।

चित्र-पत्र —अपराजित पृच्छा मे जिस प्रकार रेखा-कर्म, वर्ण-विन्यास, मान-प्रमाण चित्र के लिए अनिवार्य अग है, उसी प्रकार पत्र-विन्यास तथा कण्टक स्फूर्ति भी एक प्रकार से चित्र की प्रोज्ज्वलता लाने के लिए एवं छाया और कान्ति के लिए तथा प्रदीप्ति के लिए आवश्यक माने गए हैं। मेरी दृष्टि मे इन पत्रो और कण्टकों का सम्बन्ध चित्रकला मे प्राकृतिक पृष्ठ-भूमि (Natural Background) से सम्बन्ध रखता है। दूसरी उद्‌भावना यह है कि ये पत्र और कण्टक चित्र-विशेष केन्द्रों के सम्भवत: विशेष वैशिष्ट्य हैं। अतएव पत्रो और कण्टकों की निम्न तालिका में जो इनकी शैलियां और विधा मे सम्बन्ध है, इन वास्तु-ग्रन्थों मे शैली का कही भी कीर्तन नहीं। जातियां ही वहा प्रतिपादित की गई हैं। इस लिए शैलिया और जातिया एक ही चीज हैं। इन पत्र-जातियो के सम्बन्ध मे अपराजित-पृच्छा मे एक बड़ा ही मनोरंजक और पौराणिक आख्यान है कि इन पत्रो और कण्टको का किस प्रकार से प्रादुर्भाव हुआ :—

"समुद्र-मंथन मे जब नाना रत्न निकले तो सुरतरू—कल्प-वृक्ष भी निकला, जिसमे नाना प्रकार के पुष्प-पत्र लदे थे। जो पत्रादि पूर्व मे थे उसकी सज्ञा नागर हुई, जो दक्षिण मे थे उनकी सज्ञा द्राविड़ हुई और जो उत्तर मे थे वे वेसर हुए। पुन: इन पत्रो को ऋतु से सम्बद्ध कर दिया अर्थात् बसन्त में नागर, ग्रीष्म मे द्राविड़ तथा शरद् मे वेसर। इन्ही पत्रो की जातियो को एक दूसरे से वैभिन्न्य प्रदान करने के लिए (To distinguish) इन पत्रों के जो कण्टक थे वे ही इनके घटक हुए।

अतु, इस उपोद्‌घात के बाद पहले हम पत्र-तालिका पर आएं :—

षड्विधा

१. नागर	४. वेसर	टि० इन पत्रों को इस ग्रन्थ मे नाना पत्रो मे विभाजित किया है जिनकी सख्या सख्यातीत है, जैसे दिन-पत्र, ऋतु-पत्र, मेघ-पत्र, स्थल-पत्र आदि ।
२. द्राविड	५. कलिग	
३. व्यन्तर	६. यामुन	

अष्टविधा

चित्र-पत्र-कण्टक इन—कण्टको की अष्ट-विधा है :—

१। कलि	५. व्यावर्त
२. कलिका	६. व्यावृत्त
३. व्यामिश्र	७. सुभग
४. चित्र-कौशल	८. भंग-चित्रक

अपराजित-पृच्छा के निम्नोद्धरण से इन की आकृति भी विभाव्य है—अर्थात् कलि अगस्त्यपुष्पकाकार; कलिक वराहदष्ट्राकृति, व्यामिश्र बद्धपुष्पोद्भ-वाकार; 'मध्यकेशराकार; कौशल उकारसदृशाकार; व्यावृत्त व्याघ्रनखा-कार; सुभङ्ग कृतिकाकृति एवं भङ्ग बदरीफलाकार । जहा तक शैल्यनुरूप अर्थात् जातिपुरस्सर इन कण्टको की विचित्रता है वह इस तालिका से निभाल्य है :—

नागर	व्याघ्रनखाकार
द्राविड	बदरी-केतकी-आकार
वेसर	अगस्त्य पुष्पकाकार
कालिङ्ग	उकाराकार
यामुन	मध्यकेशराकृति
व्यन्तर	वराहदंष्ट्राकृति—

पत्र एवं कण्टकों का चित्र-प्रोल्लास महाकवि बाण-भट्ट के काव्यों दे० हर्षचरित का निम्न प्रवचन जो इस चित्र-कौशल का पूर्व प्रतिबिम्बन करता है:—

बहुविधवर्णदिग्धाङ्गुलीभिर्ग्रीवासूत्राणि
च विरचयन्तीभिश्चित्रपत्रलतालेख्यकुशलाभिः ॥

अन्त मे इन शैलियो पर कुछ और भी विवेच्य है । वैसे तो चित्र-कला के तीन प्रमुख युग सम्प्रदायानुसार विभाजित किये गये है—हिन्दू चित्र-कला, बौद्ध चित्र-कला, तथा मुगल चित्र-कला । चूंकि हम यहा हिन्दू स्थापत्य एवं चित्र की शास्त्रीय समीक्षा कर रहे हैं, अतः जहा तक हिन्दू युग का सम्बन्ध है उसमे ऐतिहासिक शैलियो का कोई विशेष महत्व नही, क्योकि इस युग की चित्र-कला एक ही आधार पर बनी है जो स्मारक निदर्शन से साक्षात् प्रतीत है ।

तारानाथ ने बौद्ध चित्र-कला पर बडी ही मनोरंजक कहानी प्रस्तुत की है । तारानाथ ने बौद्ध-चित्र-कला की तीन शैलियो की उद्भावना की है—

१ देव-शैली २ यक्ष-शैली ३. नाग-शैली ।

देव-शैली—मगध देश (आधुनिक बिहार) की महिमा है, जिसका काल उन्होने ईसा-पूर्व छटी से लगाकर तीसरी शताब्दी तक रखा है । उस समय इस कला का महान् उत्थान बताया गया है जो चित्र महान आश्चर्य एवं विस्मय के उदाहरण थे ।

यक्ष-शैली—अशोक-कालीन प्रोल्लास है । अशोक के काल मे अवश्य तक्षण एवं चित्र का महान् विकास हो चुका था । अशोक-स्तम्भ स्मरणीय निदर्शन हैं ।

नाग-शैली—नागार्जुन (बौद्ध भिक्षु एव महान् बौद्ध दार्शनिक तथा पण्डित) के समय मे यह तीसरी शैली ने जन्म लिया । नागो की कला का हम कुछ सकेत कर ही चुके हैं । नाग-जाति बडी ही तक्षण-कुशल थी; अत. चित्र-कौशल मे कैसे पीछे रह सकती थी । अमरावती का बौद्ध स्तूप नाग-तक्षकों की ही कृति मानी गई है ।

तारानाथ की यह भी आलोचना है कि ईसवीयोत्तर तृतीय शतक से बौद्ध चित्र-कला का ह्रास प्रारम्भ होने लगा था । पुनः बौद्ध चित्र-कला जाग उठी । उसका पूर्ण श्रेय महनीय-कीर्ति तक्षक एव चित्रकार बिम्बसार को था, जो महाराज बुद्ध-पक्ष के राज्य-काल मे उत्पन्न हुए थे । वह मागध थे । उनका समय ५वी अथवा ६वीं शताब्दी के बीच माना जाता है । उस समय तीन भौगोलिक चित्र-केन्द्र पनप रहे थे । मध्य देश, पश्चिम देश, तथा पूर्व । बिम्बसार ने इस मध्य प्रदेश की चित्र-कला को प्रति प्राचीन देव-चित्र-कला के अवतारण (Renaissance) मे परिणत कर दी थी ।

जहा तक पश्चिम केन्द्र की बात है, उसे हम राज-स्थानी केन्द्र के नाम से सकीर्तित कर सकते हैं। इस केन्द्र का लब्धकीर्ति चित्रकार श रगधर थे जो मारवाड़ में पैदा हुए थे। उस समय राजा शील राज्य कर रहे थे। सम्भवतः यह राजा उदयपुर के शिलादित्य गुहिल थे, जिनका समय ७वी ईसवी शती माना जाता है। तारानाथ के मत मे ये चित्र-कलाएं अति प्राचीन यक्ष कौशल पर आलम्बित थी।

अब आइये पूर्वी स्कूल पर। यह बगाल मे विकसित एव प्रोल्लसित हुआ था। राजा धनपाल तथा राजा देवपाल बगाल के बड़े कला-सरक्षक नरेश थे। यह समय नवी शताब्दी माना जाता है। इसी प्रदेश मे नागो की शैली का पुनरुत्थान हुआ। इसका श्रेय उस केन्द्र के महाकीर्ति-शाली धीमन तथा उनके पुत्र वितपल को था जो दोनो कुशल तक्षक एव चित्रकार के साथ साथ धातु-तक्षण मे भी अति प्रवीण थे।

इन प्रमुख चित्र-केन्द्रो एव तत्तदेशीय शैलियो के अवान्तर केन्द्र एव भेद भी प्रादुर्भूत हो गये। काश्मीर, नेपाल, बर्मा, दक्षिण के बहुत से नगर इन सभी स्थानो पर उप-केन्द्र विलसित हो गये। इस स्तम्भ मे हमे मध्य कालीन चित्र-कला की विशेष अवतारणा आवश्यक नही। मध्य-काल की चित्र-शैली को 'कलम' पर आधारित किया गया था। कलम से लेखनी नही ब्रुश समझें। देहली कलम आदि से हम परिचित हैं। उसी प्रकार राजपूताने के चित्र-कौशल मे जयपुर तथा कांगरा ही आते हैं। पुनः अब आइये उत्तरापथ की ओर तो हम बहुतों की प्रसिद्धि पाते हैं तथा कुछ नवीन कलमे जैसे लखनवी, दक्षिणी, काश्मीरी, ईरानी, पटना आदि आदि।

अस्तु, थोड़े से विहगावलोकन के उपरान्त अब हम चित्र-कार के चरणों पर पाठकों को नत-मस्तक करने के लिए इच्छुक हैं, क्योकि महाराजाधिराज सोमेश्वर देव ने चित्रकार को ब्रह्मा के रूप मे विभावित किया है।

चित्रकार एवं उसकी कला

चित्रकार के सम्बन्ध मे कुछ लिखने के प्रथम हमें यहां पर यह भी थोड़ा इगित करना आवश्यक है कि भारतीय चित्र-कला तथा पश्चिमीय चित्र-कला में क्या अन्तर है। सर्व-प्रमुख सिद्धान्त यह है कि इस देश की सभी कलाएंक्या संगीत, क्या नृत्य, क्या नाट्य, क्या काव्य—यहा तक कि वास्तु एव शिल्प भी

सभी ये कलायें दर्शन की ज्योति से उद्दीपित थी । संगीत मे नाद-ब्रह्म, काव्य एवं नाट्य मे शब्द-ब्रह्म (दे० वैयाकरणो का स्फोट-ब्रह्म, जो उनके अनुजों का भी वही ध्वनि-सिद्धान्त मे गतार्थ है) तथा रस-ब्रह्म, वास्तु में वास्तु-ब्रह्म—ये सब कल्पनाएं कोरी कल्पनाए नही—ये कलाओ को सार्वभौमिक एवं सर्व-कालीन (Space and time) आभा से आभासित कर दिया था । जिस प्रकार संगीत अर्थात् Classical Music एक महती साधना है, उसी प्रकार चित्र भी उससे कम महती निष्ठा एवं साधना से रहित नही है । चित्र एकमात्र मनोरंजन कला नही; वह काव्य, नाट्य एव वास्तु-शिल्प के समान भी वह अध्यात्म से अनुप्राणित है एवं महान् प्रेरणा को प्रदान करने वाली है । अजन्ता की गुफाओं मे सैकडो वर्ष किस महान् अध्यवसाय एव तप की साधना से इन की रचना हुई-देखिए महाभिनिष्क्रमण-चित्र; मार-कर्म (Exploits of Mara) अप्सराओ की क्रीडायें, विद्याधर-यक्ष-गन्धर्व-किन्नरों के साथ देव-गण, नाना पुष्पादप-पारिजात-बल्ली-गुल्म-लता वीरुध आदि प्रकृति-छाया—ये सब चित्र न केवल प्रशसा के लिए वरन् महती प्रेरणा के लिए भी हैं ।

यद्यपि ललित कलाओं का सेवन सभी जातियों एव सभ्यताओ तथा संस्कृतियो का अभिन्न अंग है तथापि भारत की इन कलाओ मे कुछ भिन्नता भी तथा विशिष्टता भी है । विशेषकर इस जगत मे पाश्चात्य एवं पौर्वात्य मे ये ही दो सस्कृति-धारायें विशेष-रूप से समीक्ष्य हैं । भारत का कलाकार या चित्र-कार दार्शनिक पहले, कलाकार बाद मे । पाश्चात्य चित्र-कला की विशेषता रेखा Mass है और पौर्वात्य चित्र-कला की विशेषता रेखा Line है । पर्सी ब्राउन ने इन दोनो की जो समीक्षा की है वह बड़ी मार्मिक एव सार-गर्भित है—

As the painting of the West is an art of "mass" so that the East is an art of Line. The Western artist conceives his composition in contiguous planes of light and shade and colour He obtains his effect by "Play of surface" by the blending of one form into another, so that decision gives place to suggestion. In Occidental painting there is an absence of definite circumscribing lines any demarcation being felt rather than seen. On the other hand, much of the beauty of Oriental painting lies in the interpretation of form by means of a clear-cut *definition, regular and decided; in other words*, the Eastern

painter expresses form through a coovention—the convention of pure line and in the manipulation and the quality of this line the Oriental artist is supreme. Western painting like western music, is communal, it is produced with the intention of giving pleasure to a number of people gathered together. Indian painting, with the important exception of the Buddist frescoes is individual-miniature painting that can only be enjoyed by one or two persons at a time. In its music, in its painting, and even in its religi us ritual, India is largely individualist"—Brown.

चित्र के दोष-गुण

चित्र-कला के प्राय: सभी अंगों (षडगो) पर हम विचार कर ही चुके हैं। अब आइयें पुन: विष्णु-धर्मोत्तर की ओर जिसमे चित्र-दोषो एव चित्र-गुणों पर भी काफी प्रवचन प्राप्त होते हैं—देखिए ये नि न प्रवचन :—

चित्र-गुणा:—स्थानप्रमाणभूलम्बों मधुरत्व विभक्तता।
सादृश्यं पक्षवृद्धिश्च गुणाश्चित्रस्य कीर्तिता: ॥
रेखा च वर्तना चैव भूषणा वर्णमेव च।
विज्ञेया मुनजश्रेष्ठ चित्रकर्मसु भूषणम् ॥
रेखा प्रशसन्त्याचार्या वर्तना च विचक्षणा :।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाठ्यमितरे जना: ॥
इति मत्वा तथा यत्न: कर्तव्यश्चित्रकर्मणि।
सर्वस्य चित्रग्रहणं यथा स्यान्मनुजोतम ॥
स्वानुलिप्तावकाशा च निदेशं मधुका शुभा।
सुप्रपन्नभिगुप्ता च भूमिस्सच्चिकर्मणि ॥
सुस्निग्धविस्पष्टसुवर्णरेखं विद्वान्यथादेशविशेषवेशम्।
प्रमाणशोभाभिरहीयमानं कृतं भवेच्चित्रमतीव चित्रम् ॥

चित्र-दोषा:—दौर्बल्यबिन्दुरेखत्वमविभक्तत्वमेव च।
बृहदण्डोष्ठनेत्रत्वमविरुद्धत्वमेव च॥
मानवाकारता चेति चित्रदोषा. प्रकीर्तिता:।
दुरासनं दुरानीत पिपासा चान्य चिराता ॥
एते चित्रविनाशस्य हेतव: परि-ीर्तिता:।

चित्रकार—अब आइये चित्रकार की ओर। हम इस स्तम्भ में पहले ही कह चुके हैं। महाराज सोमेश्वर देव जो लब्ध-प्रतिष्ठ एक स्वयं चित्रकार भी थे, तथा इस प्रसिद्ध ग्रन्थ मानसोल्लास (अथवा अभिलषितार्थ-चिन्तामणि) के लेखक भी थे, वे चित्रकार के सम्बन्ध में लिखते हैं:—

प्रगल्भैर्भावविद्भिस्तज्ज्ञैः सूक्ष्मरेखाविशारदैः।
विधिनिर्माणकुशलैः पत्र-लेखन-कोविदैः॥
वर्णपूरणदक्षैश्च क्षीणे च कृतश्रमैः।
चित्रकैर्लेखयेच्चित्रं नानारससमुद्भवम्॥

स. सू. का भी प्रवचन पढ़ें—

बुध्यन्ते केऽपि शास्त्रार्थं केचित् कर्माणि कुर्वते।
नरामनस्व (स्यास्यं पर ?) द्वयमप्यदः॥
न वेत्ति शास्त्रवित् कर्म न शास्त्रमपि कर्मवित्।
यो वेत्ति द्वयमप्येतत् स हि चित्रकरो वरः॥

प्राचीन भारत के थोड़े से ही चित्रकारों के सम्बन्ध में कुछ साहित्यिक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। पुराणों एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों जैसे महाभारत में भारत का प्रथम चित्रकार एक नारी थी—चित्रलेखा। उसका वृत्तान्त प्रायः सभी को विदित है। बात यह है कि भारतीय चित्रकला अनभिधेय कला Anonymous) art) है। भारत के चित्रकार के विषय में एक प्रकार से बिल्कुल ही अज्ञात है। पश्चिम के चित्र-कलाकारों के पूर्ण वृत्तान्त ज्ञात हैं। मुगलों, राजपूतानी तथा अन्य प्रदेशों के चित्र ही चित्रकार के वृत्तान्त—जीवन साधना एवं कला—के मूक इतिहास हैं। हां बौद्धों की चित्र-कला से यह अनुमान अवश्य लगा सकते हैं कि भिक्षु ही चित्रकार था। तिब्बती चित्रों को देखिये वे सब संघारामों, चैत्यों एवं विहारों की कृतियां हैं। वही सत्य अजन्ता आदि प्राचीन बौद्ध पीठों की कथा है। जिस प्रकार भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के लिए बौद्ध धर्म की नियमावली में जो दिनचर्यायें कल्पित थीं वहीं चित्र-पटों, चित्र-पट्टों के कल्पन, सेवन एवं ज्ञानार्जन तथा उपदेश वितरण के लिए भी अनिवार्य चर्या थी। राजस्थान में जिस प्रकार ग्रामे ग्रामे, नाना कलाकार—तन्तुवाय, धातु-कार, कुम्भ-कार, प्रतिमा-कार थे उसी प्रकार उन्हीं श्रेणियों में सर्वत्र चित्रकार भी अपनी आराधना, अध्यवसाय-व्यवसाय से जीविकोपार्जन एवं जीवन-यापन करते थे। मुगल चित्र-कार वास्तव में राज-दरबार का दरबारी चित्रकार होता था।

जिस प्रकार गुप्त-काल मे तथा धाराधिप भोजन्देव के दरवार मे कवियों की श्रेणिया रत्नो के रूप में विभाव्य थी, उसी प्रकार चित्रकार भी रत्न कहे जाते हैं। विक्रमादित्य के नौ रत्नो की गाथा एवं श्रुति से हम परिचित ही हैं—उसी प्रकार उत्तर मध्यकाल में यह मुगल-कालीन परम्परा अवध मे भी प्रचलित हो गई।

चित्र-कला के पुरातत्वीय एवं ऐतिहासिक निदर्शनों पर एक विहंगम दृष्टि

यद्यपि समरांगण-सूत्रधार का यह अध्ययन शास्त्रीय है तथापि जैसा कि समाज में और शिष्ट-मण्डली एवं पण्डित-मण्डली में यह उक्ति थी कि 'साहित्य समाज का दर्पण है' अतः कोई भी शास्त्र यदि समाज का दर्पण न भी हो तो वह समाज के लिए निश्चय ही आदर्श, प्रेरणाएं और पारिभाषिक शास्त्र एवं विज्ञान अवश्य प्रस्तुत करता है। हमारे देश में किस प्रकार से सम्पूर्ण जीवन-चर्या नियम-बद्ध यापन करनी चाहिए उसी के लिए तो प्रभु-सम्मित वैदिक आदेश मिले (चोदनामूलो धर्मः)—चोदना-प्रणा उसी प्रकार हमारे मनु आदि धर्माचार्यों ने धर्मशास्त्र बनाये। इतिहास और पुराणों ने सुहृद्-सम्मित उपदेश के द्वारा यही कार्य सम्पादन किया और काव्य-नाटक भी पीछे नहीं रहे। उन्होंने भी कान्तासम्मित उपदेश एवं ज्ञान को ही ध्यान में रखकर आदि कवि बाल्मीकि एवं व्यास ऐसे तथा महाकवि कालिदास बाण, भवभूति, श्री हर्ष आदि भी बहुत सी कलाओं, सामाजिक मान्यताओं एवं धार्मिक उपचेतनाओं अर्थात् समस्त सांस्कृतिक मूलाधारों एवं रूढ़ियों को प्रश्रय देने में पीछे नहीं रहे। अस्तु, यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो कला भी समाज का प्रतिबिम्ब है अतः हम इस अध्ययन में पुरातत्वीय चित्र-निदर्शनों को छोड़ना उचित नहीं समझते। पुनश्च उपर्युक्त महाकवियों की मार्मिक उक्तियां, जो चित्र से सम्बन्धित हैं, उनका परिशीलन भी इस अध्ययन में उपकारक होगा।

अब प्रश्न यह है कि हम इतिहास की दृष्टि से पहले पुरातत्व को लें या साहित्य को लें? वास्तव में कालानुरूप (Chronological) इन दोनों धाराओं का विवेचन असम्भव है—जहां तक परिनिष्ठित कला का प्रश्न है, क्योंकि कोई भी परिनिष्ठित कला बिना शास्त्र के कभी भी विकसित नहीं हो पा सकती। पाषाण एवं धातु इन दोनों युगों में पर्वत की कन्दराओं में कोई न कोई उत्कीर्ण

चित्र अवश्य प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार साहित्यक-संदर्भों को देखें तो हमारे इस देश में सुदूर अतीत मे सभ्यता और संस्कृति का कला-सेवन एक अभिन्न अग था। इस प्रकार पूर्व-ऐतिहासिक, वैदिक तथा शैशव बौद्धकाल ये—सभी चित्रकला के सेवन में प्रमाण उपस्थित करते हैं। महाभारत और पुराणो में उषा और चित्र-लेखा की जो कहानी हम पढ़ते हैं, उस समय चित्र-कला कितनी प्रवद्ध कला थी। यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। ई० पूर्व रचित साहित्यक ग्रन्थ जैसे विनय-पिटक, वात्स्यायन का काम-सूत्र, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, भास के नाटक कालिदास और अश्वघोष के महाकाव्य—इन सभी ग्रन्थो मे चित्र-कला का प्रोल्लास पद-पद पर दिखाई देता है।

आज का युग कागज और छपाई का युग है, इस लिए जरा हम सोचें कि उस सुदूर अतीत मे जनता मे उपदेश वितरण करने के लिए, ज्ञानार्जन के साधनो के लिए तथा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो मे धर्म-चर्या के उपकरणो के लिए पट-चित्र, पट्ट-चित्र, कुड्य-चित्र—तीनों बहुत सुन्दर साधन थे। बौद्धों के अनेक चैत्यो और विहारो (दे० अजन्ता आदि बुद्ध-पीठ) में कुड्य-चित्रो का निर्माण कोई मनोरंजन-मात्र ही न था। बुद्ध-धर्म की शिक्षा, चर्या एवं दर्शन की प्रत्यभिज्ञा और अभिरुया के लिए ही इन का उद्देश्य था। शूद्रक के मुद्राराक्षस का यम-पट इसी तथ्य का निदर्शन है। प्राचीन काल में धर्म-गुरुओ एव उपदेशको के लिए चित्र ही बड़े साधन थे, जिन से अज्ञो एवं शिशुओ को उपदेश देते थे। हमारे देश में ब्राह्मणो का एक सम्प्रदाय था जिसकी संज्ञा 'नख' (नख ब्राह्मण) थी, जो कुण्डली-चित्रो (portable frame work) की सहायता से ही, वे एक प्रकार से धर्म और अधर्म, पाप एव पुण्य, भाग्य एवं दुर्भाग्य—इन सब का ज्ञान प्रदान करते थे।

हम पहले ही प्रतिपादन कर चुके हैं कि नाट्य और चित्र एक ही हैं तो जब नाट्य एक प्राचीनतम शास्त्र एवं कला थी (नाट्य-वेद) तो फिर चित्र पीछे कैसे रह सकता है। अस्तु, अब कोई माप-दण्ड हमारे समक्ष नहीं रहा कि पुरातत्व को पहले प्रारम्भ करें या साहित्यक को अतः हम पहले पुरात्वीय निदर्शनों को लेते हैं।

पुरातत्वीय निदर्शन—ऐतिहासिक दृष्टि से चित्र के पुरातत्वीय स्मारकों को हम दो कालो मे विभाजित कर सकते हैं—पूर्व-ईस्वीय तथा उत्तर-ईस्वीय।

पूर्व-ईसवीय को हम दो उप-कालो मे विभाजित कर सकते हैं—प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक।

प्रागैतिहासिक—इस काल मे जैसा हम ने ऊपर संकेत किया है वे सब पर्वत-कन्दराओ के ही भग्नावशेष हैं। जहा तक हमारे देश की इस कला का प्रश्न है, वह निम्नलिखित प्राचीन स्थानो में प्राप्य है:—

(अ) कामूरपर्वत-श्रेणी—मध्य भारत की इन पर्वत-श्रेणियो मे कुछ कन्दरायें हैं जहा पर मृगया-चित्र पाये जाते हैं — पुरातत्वान्वेषण की यह विज्ञप्ति है।

(ब) विन्ध्य-पर्वत-श्रेणी—इन पर्वत-श्रेणियो की गुहाओ मे उत्तर-पाषाण-कालीन चित्र-निदर्शन प्राप्त हुए हैं। ये निदर्शन एक विशेष विकास के निदर्शक भी हैं, कि वहा पर ऐसा प्रतीत होता है मानों ये Art Studio हैं, जहा पर वर्णों को कूटने छानने एव विन्यास-प्रदातव्य बनाने के लिए उलूखलादि पात्र पाये गये हैं। पर्सी ब्राउन (दे० उनकी Indian painting) ने इस को Neolithic art studio के रूप मे उद्भावित किया है।

(स) अन्य पर्वत-श्रेणिया, विशेषकर माड नदी क पूर्वीय क्षेत्र की ओर जो रायगढ स्टेट (मध्य प्रदेश) मे सिंहपुर ग्राम है, वहा पर अति प्राचीन चित्र प्राप्त हुए है, जिनमें रैखिक विन्यास, रक्ताभ वर्ण-विन्यास भी प्राप्त होता है। इन चित्रो मे चित्र्य मानव एव पशु दोनो ही के चित्र प्राप्त होते हैं। इन चित्रो को ब्राउन ने Heiroglaphics की सज्ञा मे उद्भावित किया है।

पशुओ मे हरिण, गज, खरगोश आदि के मृगया-दृश्य बडे ही मार्मिक चित्र यहा प्राप्त होते हैं। महिष-घात-चित्र बड़ा ही भयानक एवं विस्मयकारी है, जहा पर भालो से भैसा मारा जा रहा है तथा जब वह मरणासन्न हो रहा है तो शिकारी आनन्दातिरेक से विभोर हो रहे हैं। ब्राउन की समीक्षा मे इन चित्रो मे haematite brush forms से रेखा-चित्रो एवं वर्ण चित्रो की प्रगति अनुमेय हो रही है।

(य) मिर्जापुर (उत्तर-प्रदेश) के समीप पर्वत-कन्दराओ के चित्र भी यही मृगया-चित्र-निदर्शन प्रस्तुत करते हैं। यहा पर लकड-बग्घा की मृगया विशेष विस्मयकारी है। अतः इन्हे भी हम Haematite drawing के रूप मे ही विभावित कर सकते हैं। आदि प्रागैतिहासिक निदर्शनो के उपरान्त अब आइये ऐतिहासिक निदर्शनों की ओर।

ऐतिहासिक (पूर्व-ईसवीय)—पुरातत्वीय अन्वेषणो मे प्राप्त ईसवीय-

पूर्व ऐतिहासिक निदर्शनों मे सर्वप्रथम निदर्शन मध्यभारत के सिरगुजा-क्षेत्रीय रायगढ पर्वत में स्थित प्रथित-कीर्ति जो जोगीमारा कन्दरा है, उसमे इन कन्दरा की दीवालों पर नाना चित्र प्राप्त होते हे । आधुनिक विद्वानो के मत मे ये चित्र ईसवीय-पूर्व प्रथम शतक के कहे गये है । यद्यपि ये कुड्य-चित्र बड़े ही प्रोज्ज्वल एवं प्रकर्ष नही तथापि ये Frescoes का श्रीगरोश ही नही करते वरन् लेप्य-कर्म-कला (Plastic Art) की भी प्रक्रिया की स्थापना करते हैं । भवनो, ग्रामो, पुरों एव पत्तनो के चित्रो के साथ साथ विशेषकर पशु, मृग, जलीय-जन्तु—मकर-मत्स्य सभी प्राकृतिक दृश्य यहा चित्रित पाये जाते हैं । मेरी दृष्टि मे इस देश की आब-हवा चित्रो के चिर-काल-सहत्व के लिये अनुकूल नही है, अतः इन्ही श्रेणियो मे अन्य स्थान भी है, जहा कुड्य-चित्र काफी विकास को प्राप्त कर चुके थे ।

ईसवीयोत्तर—अस्तु इस किञ्चित्कर पूर्व-ईसवीय प्रार्गैतिहासिक एव ऐतिहासिक दोनो के विहगावलोकन के बाद अब ईसवीयोत्तर काल की ओर चलते हैं, उन मे जैसा पहले स्तम्भ मे संकेत हो चुका है, उसी के अनुरूप इस युग को निम्नलिखित तीन कालों मे बाट सकते हैं :—

१. बौद्ध-काल;

२. हिन्दू-काल;

३. मुस्लिम-काल ।

यहां पर बौद्धो को प्रथम तथा हिन्दुओ को द्वितीय स्थान देने का अभिप्राय यह है कि हिन्दू चित्र-कला से राज-पूतों (राजस्थानी तथा पंजाबी पहाड़ी राजपूतों) की कला से तात्पर्य है, जो बौद्धो के बाद विकसित हुई। दूसरी विशेषता यह है कि बौद्ध एव हिन्दू अर्थात् राजपूती चित्र-कला की पृष्ठ-भूमि धर्म एवं दर्शन था । इन दोनो के अन्तर्तम मे रहस्यवाद की छाया सर्वत्र दिखाई पड़ती है । जहां तक मुस्लिम काल की मुगल चित्र-कला का प्रश्न है, वह पूरी की पूरी धर्म-निरपेक्ष (Secular) थी । उस मे यथार्थवाद विशेष रूप से दृश्य है ।

यद्यपि राज-पूती चित्र-कला की विशेषता अर्थात् धर्माश्रयता पर हम संकेत कर ही चुके हैं, परन्तु इस कला में बौद्ध चित्र-कला की अपेक्षा यह और व्यापक क्षेत्र की ओर बढ़ गयी थी । वह केवल धार्मिक नाटको, आख्यानों, उपाख्यानों के ही चित्रण मे एकमात्र व्यस्त नही थी । इस चित्र-कला मे ग्रामीण

जीवन, संस्कार, विश्वास, सभ्यता एवं संस्कृति का भी पूर्ण चित्रण किया गया है, जिस के द्वारा ये चित्र प्रत्येक गृहस्थ के लिये दैनिक चर्या मे परिगणित हो गये। अब इस उपोद्‌घात के अनन्तर हम इन तीनो कालो को ले रहे हैं।

बौद्ध-काल—इस काल को हम ईसवीय उत्तर ५० से ७०० तक कल्पित कर सकते हैं और यह कला हमारे स्थापत्य एवं चित्र मे स्वर्ण युग (Classical Renaissance) प्रस्तुत करता है। बौद्ध-धर्म ने न केवल भारत वरन् द्वीपान्तर भारत को भी महान् विश्व-व्यापी धर्म-चक्र से प्रभावित कर दिया है। सिंहल-द्वीप (लंका), जावा, श्याम, बर्मा, नेपाल, खोतान, तिब्बत, जापान तथा चीन आदि मे प्राप्त पुरातत्त्वीय स्थापत्य एवं चित्र निदर्शन इस प्रभाव का पूर्ण प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं। जहाँ पर बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ वहाँ केवल धर्माचार्य, धर्मोपदेशक—भिक्षु एवं भिक्षुणी ही नही वरन् कलाकार भी साथ थे। प्राचीन धर्म-रूप कलम की बात नहीं,—वह लेखनी, तूलिका, विलेखा की बात थी। कुण्डलीय चित्र-पटो (Pictorial Scrolls) के द्वारा गौतम बुद्ध के धर्म के वितरण के लिये उस समय प्रमुख साधन था। अस्तु अब हम यहां पर बौद्ध-कला को भारतीय स्तर पर ही रखना उचित समझते हैं। इन में अजन्ता, सिगिरिया (सिंहली), बाघ ही विशेष उल्लेख्य हैं।

अजन्ता—अजन्ता के चित्र विश्व के अष्ट-विध आश्चर्यों मे परिकल्पित किया जा सकते हैं। तारानाथ की दृष्टि मे यह सब देव-विलास हैं। कोई मर्त्य इस प्रकार के विस्मय-कारक चित्र कैसे बना सका? अजन्ता का वातावरण देखिये—कितना शान्त, मनोमुग्धकारी, एकान्त, रम्य एवं अद्भुत प्रदेश है। इस स्थान पर अध्यात्म, देवत्व, धर्म, दर्शन, चर्या एवं नियम दीवालों पर अंकित कर दिये गये हैं। अजन्ता के भौगोलिक एवं अन्य विवरणों की यहां पर आवश्यकता नहीं। वैसे तो सारी की सारी सोलह गुफायें चित्रित की गयी थीं, परन्तु काल-चक्र एवं अन्य मौसमी तथा अन्य प्रभावों ने बहुतों को नष्ट कर डाला है। केवल छै गुफाएं चित्रित प्राप्त हुई हैं—यह बात १९१० ई० की है। ये सारे के सारे चित्र-निदर्शन एक व्यक्ति, एक समाज, एक काल के अध्यवसाय नहीं माने जा सकते। अतः हम इन चित्रो को निम्न तालिका मे कालानुरूप विभाजित कर सकते हैं :—

(अ) ९वी तथा १०वीं गुफा-चित्र ईसवीय १००;

(ब) दसवी गुफा के स्तम्भ-चित्र ईसवीय ३५०;

(म) १६वीं तथा १७वीं गुफा के चित्र ईसवीय ५००;

(य) पहली तथा दूसरी गुफा के चित्र ईसवीय ६२६-६२८।

विषय—इन चित्रों मे बौद्ध-जातक साहित्य के ही मुर्धन्य एव अविकल चित्रण हैं। वैसे कुछ चित्र समय का भी प्रतिबिम्बन करते हैं। अतः कन्दरानुरूप इन विषयो का हम वर्ग उपस्थित करते हैं :—

कन्दरा नं० १— १. शिबि-जातक;
२. राज-भवन-चित्र;
३. राज-भवन-द्वार पर भिक्षु-स्थिति;
४. राज-भवन;
५. राज-भवन-चित्र;
६. शख-पाल-जातक—साप की कहानी;
७. राज-भवन-चित्र—नर्तकिया (महाजन-जातक);
८. महाजन-जातक—भिक्षु-उपदेश-श्रवण;
९. महाजन-जातक—अश्वारूढ राजा;
१०. महाजन-जातक—पोत-मग्नता;
११. महाजन-जातक—राग एवं वैराग्य;
१२. अमरादेवी की कहानी;
१३. पद्मपाणि बोधिसत्व;
१४. बुद्धाकर्षण;
१५. एक बोधिसत्व;
१६. बुद्ध-मुद्रायें एवं विस्मय (Miracles) श्रावस्ती का विस्मय;
१७. वज्रपाणि—कमल-पुष्प-समर्पण;
१८. चाम्पेय-जातक;
१९. अनभिज्ञ चित्र;
२०. राज-भवन-चित्र;
२१. दरबारी चित्र;
२२. संग-चित्र;
२३. वृषभ-युद्ध;

कन्दरा नं० २— १. अर्हत, विद्याधर तथा अन्य गण जो बोधि-सत्व की पूजा कर रहे हैं;

२. बौद्ध भक्त-गण;

३. इन्द्र तथा चार यक्ष;

४. उड्डीयमान चित्र—पौष्पिक एवं भागिक चित्रों के साथ;

५. महिला-प्रवास (Exile);

६. महाहंस-जातक;

७. यक्ष एवं यक्षिणियां;

८. बुद्ध-जन्म;

९. पुष्प लिये हुए भक्त;

१०. पुष्प लिये हुए भक्त;

११. नाग (अजगर), हंस तथा अन्य भागक चित्र;

१२. नाना मुद्राओं में भगवान् बुद्ध;

१३. मैत्रेय (बोधिसत्व)

१४. भगवान् बुद्ध नाना मुद्राओं में;

१५. भागक चित्र ;

१६. अवलोकितेश्वर (बोधिसत्व)

१७. पुष्पसहित भक्त-गण;

१८. पद्मपाणि भक्त-गण;

१९. हारीति तथा पाञ्चिक;

२०. विधुर-पण्डित-जातक;

२१. पूर्ण-अवदान-कथा—समुद्र-यात्रा;

२२. पूर्ण-अवदान-कथा—बुद्ध-पूजा;

परन्तु / २३. राज-भवन;

डाला है। / २४. राज-भवन-महिला क्रुद्ध राजा के चरणों पर;

है। ये सारे / २५. बोधिसत्व—उपदेशक-रूप;

अध्यवसाय / २६. मञ्जु-चित्र;

फलानुरूप वि. / २७. नाग, गण तथा अन्य दिव्य-चित्र।

(अ) ६५.

(ब) दशवीं / १. बुद्ध का प्रथम-उपदेश (First Sermon);

मार-पाश तथा महिला मक्ता;

३. बुद्धाकर्षण ;
४. एक भिक्षु;
५. द्वारपाल एवं नारी-प्रतिहारिणियां,
६. श्रावस्ती का श्राश्चर्य ।

कन्दरा नं० ७—१. बुद्धोपदेश;
२. बुद्ध-जन्म;

कन्दरा नं० ६—१. नागराज—सगण-सेवक;
२. स्तूप की श्रोर जाते हुये भक्त;
३. चैत्य एवं विहार;
४. बुद्ध जीवन के दो दृश्य;
५. पशु-चित्र;
६. नाना मुद्राश्रों में भगवान् बुद्ध;

कन्दरा नं० १०—१ राजा का बोधि-वृक्ष-पूजार्थ श्रागमन;
२. राज-जलूस;
३. राज-जलूस;
४. श्याम-जातक-षड्दन्त—हस्ति-कथा,
५. छद्दन्त-जातक—षड्दन्त-हस्ति-कथा ।
६. बुद्ध-चित्र;

कन्दरा नं० ११— १. बोधि-सत्व—पद्मपाणि;
२. बुद्ध तथा श्रवलोकितेश्वर;

कन्दरा नं० १६— १. तुषिता स्वर्ग के चित्र—बुद्ध-जीवन;
२. सूत-सोम-जातक—सुदास-सिंहनी-प्रेम-कथा;
३. चैत्य-मन्दिर के सम्मुख दैत्य-गण;
४. महा-उम्मग-जातक;
५. मरणासन्ना राज-कुमारी (परित्यक्ता नन्द-पत्नी);
६. नन्द का धर्म-परिवर्तन;
७. मानुष बुद्ध;

८. अप्सरायें तथा बुद्ध का उपदेशक-रूप;
९. बुद्ध-उपदेश-मुद्रा;
१०. *हस्ति-जुलूस;*
११. संघोपदेश—बुद्ध,
१२. बुद्ध-जीवन-चरित-दृश्य—मगध के राजा का आगमन, बुद्ध का राजगृह में भ्रमण;
१३. बुद्ध-तपस्या—प्रथम ध्यान तथा चार मुद्रायें,
१४. राज-भवन;
१५. Conception;
१६. बुद्ध का शैशव;

कन्दरा न० १७— १. राजा का दान-वितरण;
२. राज-भवन;
३. इन्द्र तथा अप्सरायें;
४. मानुष बुद्ध तथा यक्ष एवं यक्षिणिया;
५. *बुद्ध की पूजा करती हुई अप्सरायें तथा गन्धर्व;*
६. क्रुद्ध नीलगिरि हस्ति-राज का दृश्य;
७. बोधिसत्व अवलोकतेश्वर तथा भिक्षु-भिक्षुणी-वृन्द;
८. हस्तिनी के साथ यक्ष,
९. राजसी मृगया;
१०. ससार-चक्र;
११. माता एवं शिशु—भगवान् बुद्ध एवं अन्य बौद्ध देवो के निकट;
१२. प्रथम धर्म-चक्र;
१३. भंग-चित्र;
१४. महाकपि-जातक;
१५. हस्ति-जातक;
१६. राज-खड्ग-प्रदान;
१७. दरबारी दृश्य;
१८. हंस-जातक;
१९. शार्दूल, अप्सरायें तथा बुद्धोपदेश;

२०. विश्वन्तर-जातक—दानी राजकुमार;
२१. यक्ष, यक्षिणी एवं अप्सरायें;
२२. महाकपि जातक (२)
२३. सुत-सोम-जातक,
२४. तुषिता में बुद्धोपदेश—दो और दृश्य;
२५. बुद्ध के निकट मां और बच्चा;
२६. श्रावस्ती का महान् आश्चर्य;
२७. शरभ-जातक
२८. मातृ-पोषक-जातक;
२९. मत्स्य-जातक;
३०. साम (श्याम)-जातक;
३१. महिष-जातक;
३२. एक यक्ष—राज-परिक्षक-रूप;
३३. सिंहल अवदान;
३४. स्नान-चित्र;
३५. शिबि-जातक;
३६. मृग-जातक;
३७. भालू-जातक;
३८. न्यग्रोध-मृग-जातक;
३९. दो वामन—वाद्य-यन्त्रों के सहित;
४०. भग-चित्रण।

कन्दरा नं० २१— १. कमल-वेलि तथा अन्य पुष्प-विच्छित्तियां।

कन्दरा नं० २२— १. संघ को उपदेश करते हुए भगवान् बुद्ध।

संरक्षण—इस तालिका के उपरान्त किस राज्य-काल में, किन कलाचार्यों के सरक्षण में इन चित्रों का निर्माण हुआ यह भी विचारणीय है। तारानाथ की एतद्विषयणी उद्भावना का हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, तथापि वह पुनरावृत्ति उचित है। जहां तक उत्तम कुड्य-चित्रों की रचना का सम्बन्ध है, वह देवों के द्वारा बताई जाती है। पुनः यह चित्रण यक्षों (पुण्यजनों) के द्वारा आगे चलता रहा, जो अशोक-काल (ई० पूर्व २५०) की गाथा है। तीसरी परम्परा नागों के

द्वारा सम्बद्धित हुई, जो नागार्जुन (ई० २००) के आधिपत्य मे बताई जाती है। लगभग ३०० वर्ष में यह लड़ी टूट गई। फिर वृद्धपक्ष (५वीं तथा ६ठी शताब्दी) के काल में बिम्बसार नाम चित्राचार्य के द्वारा ये चित्र पुनः उसी देव-परम्परा में रचे जाने लगे।

अब आइये ऐतिहासिक समीक्षा की ओर। जहां तक नवीं तथा दसवी कन्दरा के चित्रो का प्रश्न है, यह द्राविड नरेशों (आंध्र राजाओं) के काल का विकास है। इसे हम ई० पू० २७ से लगाकर २३६ ई० का काल मान सकते हैं। यह अजन्ता चित्रों का प्रथम वर्ग है।

दूसरा वर्ग (दे० गुहा नं० १६-१७) गुप्त-काल (३२० ई०) का प्रतिनिधित्व करता है। मेरी दृष्टि में यह कला गुप्तो की अपेक्षा वाकाटकों की विशेष देन है।

तीसरे वर्ग मे जहा हम राजा पुलकेशिन द्वितीय को एक पर्शियन दूत से मिलते हुए पा रहे हैं, उससे यह वर्ग ६२६-६२८ ई० के समय का संकेत करता है। अब आइये द्रव्य एव क्रिया की ओर।

चित्र-द्रव्य एवं चित्र-प्रक्रिया—जहां लेप्य एवं प्लास्टर आदि प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वे यथा-प्रतिपादित शास्त्रीय विश्लेषणों के ही निदर्शन हैं। जहा तक इन कुड्य-चित्रो की व्यापक समीक्षा का प्रश्न है, उसमे भारतीय एव योरोपीय-ऐशियाई दोनो पद्धतियो की तुलनात्मक समीक्षा आवश्यक है। यहा पर हम इतना ही संकेत कर सकते हैं कि ये कुड्य-चित्र भारतीय शास्त्रीय प्रक्रिया के पूर्ण प्रतिबिम्ब हैं। प्रत्येक वर्ग के चित्रों के लिये जैसा भूमि-बन्धन हमारे शास्त्रो मे प्रतिपादित है वही यहा पर भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। चूंकि आधुनिक कला-समीक्षक हमारे शास्त्रीय विवरणो (चित्र-लक्षणो) से सर्वथा अपरिचित थे, अतः उनके मस्तिष्क मे योरुप-एशिया के प्रथित चित्र-पीठो पर प्रश्न ऐसे निदर्शनों के कारण उन के लिये संकट उपस्थित हो गया, अतः उन्हें इस तुलनात्मक समीक्षा की ओर जाना पड़ा और अन्त मे उन्हें झक मार कर भारतीय पद्धति के निष्कर्षों पर पहुचना पड़ा। इस तुलनात्मक समीक्षा मे पर्सी ब्राउन ने विशेष विवरण दिये हैं। वे उन्हीं के ग्रन्थ मे एवं मेरे Hindu Canons of Painting or Citra-Laksanam and Royal Arts—Yantras and

Citras में द्रष्टव्य हैं।

वर्ण-विन्यास एवं तूलिका-चित्रण—ये सब अपने ही शास्त्रों के प्रतीक है। विशेष विवरण यथा-निर्दिष्ट ग्रन्थों में देखिये। अब आइये अन्त मे मेरी समीक्षा की ओर।

शास्त्र एवं कला—अजन्ता के चित्रों की सर्व-प्रमुख विशेषता रेखा-कर्म है। विष्णुधर्मोत्तर के निम्न प्रवचन का हम सकेत कर ही चुके हैं:—

रेखा प्रशसन्त्याचार्या वर्तना च विचक्षणाः।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः॥

अतः अजन्ता के चित्रो में रेखा-कर्म परम प्रकर्ष का प्रत्यक्ष प्रमाण है। अजन्ता की चित्र-तालिका मे प्राप्त विषयों को लेकर इस महान प्रख्यात पीठ पर जाइये और देखिये—महाहंस-जातक-चित्र एवं उसी चैत्य मे बोधिसत्व-अवलोकितेश्वर अथवा बुद्ध का वैराग्य (The Great Renunciation) जिन मे सर्वाधिक वैशिष्ट्य रेखा-कर्म है तथा वहा रूप-चित्रण (Modeling of Form) भी हमारे चित्र-शास्त्र के सर्व-प्रमुख क्षय-वृद्धि चित्र-सिद्धान्त का पूर्ण प्रतिबिम्बन कर रहा है।

वर्ण-विन्यास भी हमारे शास्त्रीय पद्धति का अवलम्बन है। महा-हंस-जातक-चित्र मे जो वर्ण-विन्यास विशेषकर नीली का विन्यास किया गया है, वह राजावर्ताभिध वर्ण का प्रतीक है। राजावर्त-राजावर्त-लजावर लाजवर्दी के सम्बन्ध मे हम अपने पूर्व स्तम्भ में पहले ही समीक्षा कर चुके हैं। जहा तक अन्य शास्त्रीय सिद्धान्तो के अनुगमन का प्रश्न है वहा प्रतिमा एवं चित्र दोनों के सामान्य अग जैसे मुद्रायें वे भी इन चित्रों मे पूर्ण रूप से विभाव्य हैं। गुहा नं० १ के राज-भवन-चित्र में जो मुद्रा-विनियोग प्राप्त होता है, वह बड़ा आकर्षक है। इसी प्रकार अन्य चित्रों में भी नाट्य, नृत्य, एवं संगीत मुद्राओं का भी बहुत विनियोग प्राप्त होता है। अस्तु, अजन्ता चित्रों के इस स्थूल समीक्षण के उपरान्त अब आइये दूसरे चित्र-पीठ की ओर।

सिंहल-द्वीप–सिगरिया—इस पीठ के चित्रों की सर्व-प्रमुख विशेषता है धर्म-प्रेरणा का अभाव। इन चित्रों मे लगभग बीस नायिका-चित्र हैं। ये चित्र

सिंहल-द्वीप के राजा काश्यप (४७९-४९७ ई०) के समय मे चित्रित किये गये थे। मेरी धारणा है कि ये रानियो के चित्र हैं। जहा तक चित्रण-प्रकर्ष एव प्रक्रिया की बात है वे सभी शास्त्रानुरूप हैं। इन मे सर्वाधिक वैशिष्टय सौन्दर्य है। इन चित्रों मे तक्षण एव चित्र-कौशल दोनो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं। मुद्रा और शैली दोनो की कला के ये मिश्रण हैं।

बाघ—वैसे तो अजन्ता से सीधी दिशा मे लगभग १५० मील की दूरी पर यह चित्र-पीठ स्थित है, परन्तु नर्मदा दोनो के बीच बहती हुई इनको पृथक् भी कर रही है। अतः इन दोनो के संरक्षण की पृथक्ता भी सुतरा प्रकट एव समर्थित है। इस पीठ पर न तो कोई शिला-लेख प्राप्त है, न कोई ऐतिहासिक सूचना। इस पहाड़ी के एक विशाल हाल मे नाना चित्रो का चित्रण हुआ था। यह सभा-वेश्म लगभग ६० फुट चौकोर है। इस के स्तम्भ, कुड्य अर्थात भित्ति-या सभी चित्रो म चित्रित थे, परन्तु बहुत से चित्र नष्ट हो गये हैं। इन चित्रो मे अजन्ता और सिगरिया दोनों का मिश्रण प्राप्त होता है—एक ओर कुछ बौद्ध-धर्म-प्रतीक चित्र, दूसरी ओर धर्म-निरपेक्ष चित्र। बौद्ध चित्रो में बौद्ध-धर्म के इस देश मे ह्रास कालीन अवस्था के चित्रण हैं। एक सगीत-नाटक (हल्लिसक) पूर्ण तत्कालीन स्वातन्त्र्य एव स्वाच्छन्द्य का निदर्शन है। अब चलें हिन्दू काल की ओर, जहा महाकाल तथा श्री सत् अकाल के भी दर्शन हो सकते हैं, क्योंकि जैसा हम पहले संकेत कर चुके हैं कि हिन्दू चित्र-कला से तात्पर्य राज-पूत-कला का अर्थ है। और यह राजपूतानी कला न केवल राज-स्थान की देन है वरन् पंजाब (देखिये कांगड़ा) की भी प्रमुख देन है।

हिन्दू-काल (७००-१६००)—इस काल में नाना सम्प्रदायों एवं पन्थों के निदर्शन मिलते हैं। ये चित्र ताल-पत्र की प्रथम विशेषता हैं। इस का प्रारम्भ बंगाल से हुआ, जो १२वी शताब्दी के निदर्शन हैं। पुनः १५वी शताब्दी में जैन-ग्रन्थ-चित्रण (Book Illustration) काफी प्रसिद्ध एव सिद्ध-हस्त चित्रकार भी थे। जहा तक ब्राह्मण-चित्रो की बात है वह १२वीं शताब्दी मे एलोरा के गुहा-मन्दिरो से प्रारम्भ हुई। इसी प्रकार और बहुत से इस काल मे यत्र-तत्र-सर्वत्र चित्र प्राप्त हुए हैं, जो पूर्व-मध्य-काल एव मध्य-काल की स्मृतियां हैं। राजपूती चित्र-कला तो उत्तर-मध्यकाल की कृतियां हैं। अब हम इस साधारण प्रस्तावना के उपरान्त वैयक्तिक निदर्शन प्रस्तुत कर रहे हैं।

जन-चित्र—ताल पत्र पर हस्तलिखित निशीथ-गुर्णी जो चित्रों से चित्रित है वह जैन-भाण्डागार मे प्राप्त है तथा यह कृति ११वी शताब्दी मे सिद्धराज जयसिंह के राजत्व-काल मे सम्पन्न हुई। यह ताल-पत्र-चित्रण ११वी से लेकर १४वी तक चलता रहा। इन मे अग-सूत्र, त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित, श्री नेमिनाथ-चरित, श्रावण-प्रतिक्रमण-चूर्णी—ये सब ११वी से १४वी शताब्दी तक के निदर्शन हैं। अब आइये (१४००-१५००) जैन चित्रो की ओर। उनमे कल्प-सूत्र, कालकाचार्य-कथा तथा सिद्ध-हेम—ये सभी चित्रित हस्त-लिखित ग्रन्थ हैं जो पाटन आदि प्रसिद्ध जैन भाण्डागारो में प्राप्त हैं। अभी तक हम ताल-पत्र पर चित्रित इन इलेस्ट्रेटेड म्यंनुस्क्रिप्ट्स की अवतारणा कर रहे थे। अब आइये कर्गल-पत्र पर चित्रित हस्त-लिखित ग्रन्थ। ज्यो ही १५वी ई० के उपरान्त कागज का निर्माण प्रारम्भ हुआ तो फिर जैन-चित्रो का एक नया युग प्रारम्भ हो गया। इन मे कल्प-सूत्र तथा कालकाचार्य-कथा अमरूयो पत्र-चित्रणो के साथ साथ हिन्दू प्रेम-मय गाथा-काव्यों के भी चित्रण प्रारम्भ हो गये, जिनमे वसन्त-विलास एव रति-रहस्य के साथ साथ स्तोत्र एवं स्तुति-परक ग्रन्थ जैसे बालगोपाल-स्तुति तथा दुर्गा-सप्त-शती ऐसे प्रसिद्ध पौराणिक ग्रन्थ भी चित्रणों से भर गये। इन सभी चित्रों में रैखिक चित्रों की सुन्दर आभा दर्शनीय है। ये Oblong Frame के निदर्शन हैं। रक्त, स्वर्णिम, पीत, श्याम, शुभ्र, नीली, हरित तथा अन्य सभी शुद्ध एवं भिन्न वर्णों का पूर्ण विन्यास दर्शनीय है।

अस्तु, इस पूर्व एवं उत्तर मध्यकाल मे यतः तक्षण (मूर्ति-निर्माण) एव प्रासाद-वास्तु का चरमोन्नति काल था अतः ये बेचारी चित्र-कला एक प्रकार से कुछ धीमी पड गयी। तथापि यह कला मरी नहीं। यह कला द्वीपान्तर भारत एवं सीमावर्ती देशों में एक प्रकार से प्रयाण कर गई। वहां पर इस कला के बड़े ही प्रौढ निदर्शन प्राप्त होते हैं। पूर्वी तुर्किस्तान (खोटान) तथा तिब्बत में जो चित्र-कला विकसित हुई उस पर अजन्ता की कारीगरी पूर्ण रूप से प्रति-बिम्बित दिखाई पड़ती है। स्टीन और ली काग के इन चित्र-अन्वेषणों ने समस्त संसार को मुग्ध कर दिया है कि एशियाई चित्र-कला कितनी प्रबद्ध थी। कुड्य-चित्रों के अतिरिक्त कुण्डली-चित्र-पट-चित्र एवं पट्ट-चित्र सभी भेद इन चैत्यों, मन्दिरों एव विहारों विशेपकर तिब्बती पीठों मे काफी संख्या में प्राप्त होते हैं। अब आइये राजपूतानी चित्रकला की ओर।

राजपूत चित्र-कला—राजपूती तथा मुगली दोनो ही चित्र कलायें समानान्तर चलने लगी थीं। इन दोनो कलाओं का उद्भव १६वी ईसवी शताब्दी (१५५०) मे प्रारम्भ हुआ था। राजपूती तो १६वी शताब्दी तक चलती रही, परन्तु मुगली १८वी मे मर गई, क्योंकि यही काल मुगलों के काल की इतिश्री थी।

राजपूती कला पर पूर्ण प्राचीन शास्त्र एव कला दोनो का प्रभाव था। यद्यपि अजन्ता का प्रभाव अवश्य दिखाई पडता है तथापि नवीन उपचेतनाओ तथा उद्भावनाओ का भी इस मे प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत होता है। अतः बुद्ध-धर्म एक प्रकार से इस समय खतम था तो हिन्दू धर्म के पुनरावर्तन (Revival) मे स्वाभाविक चेतनाओ के द्वारा इस कला का विकास स्वतः सिद्ध है। यह युग शिव-पूजा, शिव-माहात्मय तथा विष्णु-पूजा एव विष्णु-माहात्म्य का था। भक्ति-धारा एक भागीरथी की उद्दाम गति से बहने लगी। राधा-कृष्ण-लीला का यह युग था, जिस मे रास-लीला, नायक-नायिका-लीला बडे ही प्रकर्ष को प्राप्त हो गयी। शिव-पार्वती, सन्ध्या-गायत्री, रामायण एव महाभारत के आख्यान चित्र ये सब राजस्थानी कला के परम निदर्शन हैं। अतः ये सब चेतनायें जन-भावना की प्रतीक थी। अतः यह चित्र-कला राजस्थान मे एक प्रकार से दैनिक व्यवसाय तथा अध्यवसाय हो गया था। राजस्थान का प्रमुख नगर जयपुर इस राजपूती-कला का केन्द्र बन गया। अतएव इस राजस्थानी चित्र-कला को जयपुर कलम की सज्ञा से चित्रकार पुकारने लगे। ये राजस्थानी चित्रकार दरबार के अभिलाषुक थे। पुनः मुगल दरबार की राजधानियो उप-राजधानियो जैसे दिल्ली, आगरा, लाहौर आदि नवाबी शहरों में भी यह कला अपनी विशिष्टता से पूर्ण होती रही।

राजपूती चित्र-कला सर्वाधिक प्रकर्ष पंजाब की हिमाचल उपत्यकाओ मे एक नवीन प्रकर्ष पर आसीन हो गयी। कागरा की चित्र-कला इस युग की महती देन मानी गयी है। जिस प्रकार जयपुर कलम, उसी प्रकार कागरा कलम से यह राजपूती चित्रकला विश्रुत हुई। इस पंजाबी राजपूती कला में रैखिक कर्म, वर्ण-विन्यास तथा प्रोज्ज्वल भगिमा छाया-कान्ति आदि सभी षडग-चित्र के सिद्धान्तो एव प्रक्रियाओं का पूर्ण आभास एवं विलास प्राप्त होता है।

इस कागरा केन्द्रीय राजपूती चित्र-कला की सब से बडी विशेषता

राजश्रय की प्रदेशीय (Local) आवश्यकताओं एवं चेतनाओं तथा रस्म-रिवाजों का भी इन चित्रणो मे साक्षात् प्रतिबिम्बन है। पहाडी राजाओं की आज्ञा ही चित्रकार के लिये उसका सब से बडा अध्यवसाय था। अतएव इन चित्रों मे राजसी-राजा रानियो के बहुत से चित्र प्राप्त होते हैं। साथ ही साथ पौराणिक एवं भागवतिक चित्र भी प्रचुर सख्या मे प्राप्त होते हैं।

दुर्भाग्य का विलास था कि धर्म-शाला के भू-कम्प-विप्लव से इन समस्त चित्र-केन्द्रो एव उनमे विनिर्मित, सग्रहीत असंख्य चित्र नष्ट हो गये, भूगर्त मे विलीन हो गये तथा यह बडी थाती नष्ट-प्राय हो गई। यह घटना १६०५ ई० की है। अब आइये मुगल कला की ओर।

मुगल चित्र-कला—राजपूती चित्र-कला धार्मिक, जनोपयिक तथा रहस्यवादी कला थी, जहा मुगली चित्र-कला नवाबी तथा यथार्थवादी कही जा सकती है। मुगल सम्राट् अकबर के दरबार मे यह कला प्रारम्भ हुई, क्योकि कला-संरक्षक अकबर की इन कलाओ मे बडी रुचि थी; अतएव अनेक विदेशी कलाकार तथा चित्रकार अकबर के दरबार मे आ बिराजे। ईरान, फारस, समरकन्द आदि स्थानो मे प्रोल्लसित चित्र-कला-केन्द्रो मे शिक्षित एव दीक्षित चित्रकार इस दरबार के रत्न बन गए। अबुल फजल की आइने-अकबरी मे इन चित्रकारों की बडी सख्या का निर्देश है। फर्रुख, अब्द-अल-समद, शेराजी, मीर सय्यद आदि अकबरी दरबार के चित्रकार-रत्न थे। जहागीर ने भी इस कला को बहुत प्रोत्साहन दिया और उस समय समरकन्द के कई चित्रकार यहाँ आ पहुचे। शाहजहा विशेषकर स्थापत्य में तल्लीन हो गया तो इस चित्र-कला का ह्रास प्रारम्भ हो गया। पुनः औरंगजेब तो इन कलाओ का पूर्ण उन्मूलन का दोषी बना।

यद्यपि मुगल चित्र-कला पर ईरान का अमिट प्रभाव है, तथापि देश की संस्कृति एवं जनीन धारा का प्रसर प्रभाव कभी कोई हटा नहीं सकता। अतः यह कला इस देश की इन दोनों धाराओं मे समन्वित होकर विलसित हुई। बहुत से मुगल-चित्र-कला के विख्यात हिन्दू चित्रकार भी इस कला को प्रोल्लास देने के श्रेय-भागी हैं। इन में बसवन, दशवन्त, केशोदास आदि चित्रकार विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन मुगली चित्रों की सबसे बड़ी विशेषता चित्र-फलक हैं। मृगया एवं

युद्ध भी इन चित्रों के प्रमुख अंग हैं। दरबार तथा ऐतिहासिक इतिवृत्त भी इन चित्रों के पूर्ण अंग हैं। यद्यपि इस कला का प्रथम विकास ईरानी कलम से प्रारम्भ हुआ, परन्तु कालान्तर पाकर इस कला का प्रोल्लास, जैसा पहले हम सूचित कर चुके हैं, देहली कलम, लखन्वी कलम, पटना कलम काश्मीरी कलम, आदि अवान्तर कलमों में प्राप्त होता है। अतः मुगली कला काफी प्रवृद्ध एवं प्रोल्लसित हो गयी।

एक प्रश्न यह है कि क्या मुगल कला ने ही Portrait Pain ing का प्रारम्भ प्रदान किया—नहीं। चित्र-फलक-चित्रण महाभारत की कहानी से स्पष्ट है। चित्र-लेखा (प्रथम चित्रकार) ने अपनी सहेली उषा के स्वप्न-युवक का प्रथम फलक-चित्र Portait Painting का श्रीगणेश किया था। बौद्ध इतिहास से भी हम अपरिचित नहीं कि जब भगवान बुद्ध के घोर अनुयायी एवं भक्तप्रवर महाराज अजातशत्रु ने अपने मास्टर के चित्र की प्रार्थना की तो उन्होंने केवल अपनी पट पर पड़ती हुई छाया के चित्र को चित्रित करने के लिये ही स्वीकृति प्रदान की तो तत्कालीन प्रवुद्ध चित्रकार ने उस छाया में इस विधा के चित्र को तूलिका के द्वारा वर्णा-विन्यास में परिणत कर ऐसे चित्र का निर्माण कर दिया। अजन्ता के भी ऐसे Portraits को देखें जिनकी महिमा पर पहले ही कुछ इंगित कर चुके हैं।

इस किञ्चित्कर व्यक्ति-चित्रों के इतिहास पर इस थोड़े से उपोद्‍घात के अनन्तर हम यह अवश्य मानेंगे कि मुगलों की चित्र-कला ने इस चित्र-विधा पर बड़ी भारी उन्नति की। राजाओं, महाराजों, नवाबों, रानियों, दरबारियों, के वैयक्तिक चित्रों में जो आभा प्रदर्शित की है, वह सर्वप्रमुख इन चित्रों की विशेषता है। पूरा आकार-प्रतिबिम्बन इह प्रमुख विशेषता के साथ महापुरुष लाञ्छन (मण्डल-प्रभा) तथा राज-चिन्ह आदि भी इन चित्रों के बड़े अकर्षाधायक अंग हैं। इन मुगल-कालीन चित्रों में नर्तकियों, वेश्याओं, साधुओं, सन्तों, सिपाहियों, दरबारियों सभी के वैयक्तिक चित्रों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह मुगल चित्र-कला यथानाम मुगलकला नहीं है इसे हम राष्ट्रीय चित्र-शाला के नाम से पुकार सकते हैं और इसकी अभिख्या अन्तर्राष्ट्रीय कीर्ति-प्रस्तर पर मूल्यांकन हो सकती है।

१८वीं शताब्दी (१७६० ई०) में जब यह मुगल-कला मुगल-साम्राज्य साथ ह्रास को प्राप्त हुई, तो यहां के कुछ समझदार कला-प्रेमियों ने इसके

पुनरुत्थान के लिए प्रयत्न किया। कला का पुनरुत्थान जब इस आधुनिक युग में प्रारम्भ हुआ तो इस में सबसे बड़ी प्रेरणा रसास्वाद-आदर्श (Aesthetic Ideal) की ओर था। अवनीन्द्र नाथ टैगोर को ही इस उद्भावना का श्रेय है। इस प्रकार बंगाल के साथ साथ दिल्ली, लखनऊ, पंजाबी पहाड़ी इलाके—पंजाब खास कर लाहौर तथा अमृतसर, पटना इन उत्तरापथ प्रदेशों के साथ साथ दक्षिण भारत में भी जैसे औरंगाबाद, दौलताबाद, हैदराबाद और निकोंडा में भी यह आधुनिक कला अपने पुनरुत्थान पर पहुंच गई। तारानाथ ने अपने चित्र-कला-इतिहास में दक्षिण के प्रसिद्ध-कीर्ति तीन चित्र-कारों में जय, अजय तथा विजय का नामोल्लेख किया है। इनके बहुत से अनुगामी भी थे। दुर्भाग्य-वश इनके समय के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं उपस्थित होता। आगे चलकर इस दक्षिण भारत में दो प्रसिद्ध चित्र-पीठ पनप उठे जिनको तन्जौर और मैसूर के नाम से कीर्तित करते हैं।

अवनीन्द्र नाथ ने यद्यपि इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न अवश्य किया, परन्तु मुझे यह कहने में संकोच नहीं है, कि उन्होंने अपनी पुरानी थाती अर्थात शास्त्रीय सिद्धान्त एवं परम्परागत कला-प्रक्रिया इन दोनों को चन्द्र-हस्त देकर योरप के अनुगामी होने का बीड़ा उठाया। इस कदम ने भारत की चित्र-कला को इस नवीन सम्प्रदाय ने एक प्रकार से धूल-धूसरित कर दिया। पौर्वात्य एवं पाश्चात्य इन दोनों कलाओं की अपनी अपनी मूल भित्तियां थी और दोनों में काफी मौलिक भेद भी थे। अतः इन दोनों का मिश्रण कला-सिद्धान्त एवं कला-प्रक्रिया की दृष्टि से यह बहुत बड़ा गलत कदम था। अतः इस युग में हमारे पुराने चित्र नहीं रहे। मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि आज जहां भी विश्वविद्यालय अथवा चित्र-विद्यालय अथवा कला-विद्यालय की ओर जाइये वहां सभी स्थानों पर न तो किसी को प्राचीन चित्र-शास्त्रीय सिद्धान्तों का ज्ञान है न आस्था है। वे भी पश्चिम के पीछे परछाईं की दौर प्रयास कर रहे हैं। यह सब विडम्बना है। आशा है आज नहीं तो कल वे अपने इस पुराने अत्यन्त गूढ़ पारिभाषिक ज्ञान का सहारा लेकर ही अपनी कला को विश्व के सामने रखने में समर्थ हो सकेंगे।

साहित्य-निबन्धनीय चित्र-कला के इतिहास पर एक सिंहावलोकन

उपोद्घात :—ग्रीक माइथोलोजी में म्यूजाज आफ फाइन आर्टस् भूतल पर एक के बाद एक नहीं उतरीं । अतः हमारे देश में भी महामाया भगवती सरस्वती तथा महामायिक भगवान् नटराज शिव भी क्या एक के बाद दूसरे स्वर्ग से भूतल पर उतरे ? ताण्डव नृत्य अतिप्राचीन है । काव्य, नाट्य, संगीत भी अतिप्राचीन है । तथैव वास्तु, शिल्प एवं चित्र भी उतने ही प्राचीन हैं । ये ललित कलायें सभ्यता एवं संस्कृति के अभिन्न अंग हैं । अतः पुरातत्वीय उपोद्घात में हमने संकेत किया है कि यह मनोरम-कला चित्र-कला—क्या साहित्यिक क्या पुरातत्वीय दोनों स्तरों पर एक प्रकार से समानान्तर सुदूर अतीत से चली आ रही है ? पुरातत्व स्तर से इसकी समीक्षोपरान्त, अब हम साहित्यिक-निबन्धनीय इतिहास पर आते हैं हमने अपने अंग्रेजी के ग्रन्थ में जो निम्न आकूत प्रस्तुत किया है उसको पाठक एवं विद्वान् दोनों ही अवश्य ही समर्थन करेंगे—

If the savages could work sculruture and build branch-houses, *prepare implements*, paint the cavewalls (their refuse) and do many other things, painting and allied arts must have been the time-honoured companions in the progress of civilisation throughout the ages.

अस्तु अब हम वैदिक वाङ्मय से प्रारम्भ करते हैं ।

वैदिक वाङ्मय :—ऋग्वेद की बहुत सी ऋचाओं में चित्र-कला की स्पष्ट भावनायें प्राप्त होती हैं । उपनिषदों में बहुत से ऐसे वाक्य प्राप्त होते हैं जैसे छान्दोग्य में इसी का ४ ४. पढ़ें तो वहां पर रक्त, शुभ्र, श्याम वर्णों पर यद्यपि उनकी प्रोज्ज्वलता से ऐदम्पर्य नहीं परन्तु 'रूप' से है जो कि चित्र-कला का प्रमुख अंग है ।

पाली वाङ्मय—विनय-पिटक में वर्णित राजा प्रसेनजित के विलास-भवन में चित्रागारों के बड़े सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं । विनय-पिटक का समय ईसवीय पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी है । संयुत्त-निकाय में पट्ट-चित्रों परचित्रित पुरुष एवं स्त्री चित्रों के सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं । त्रिविध चित्र-प्रकारों पर यह सदर्भ अति प्राचीन माना जा सकता है । जातक-साहित्य में भी इस प्रकार के बहुत से सन्दर्भ प्राप्त होते हैं । अब आइये रामायण और महाभारत की ओर ।

रामायण एवं महाभारत—आदि-कवि वाल्मीकि-कृत रामायण पढ़िये,

जिस में कोई भी ऐसा विमान, सौध, प्रासाद का वर्णन बिना चित्र-भूषा के नहीं पाया गया है। राज-भवनों के विन्यास में चित्रागार अभिन्न अंग थे। महाभारत में *कुमारस्वामी ने लगभग १०० चित्र-सन्दर्भों का संकलन किया है। तारानाथ* को इस सम्बन्ध में हम ने इस ग्रन्थ में दो तीन बार स्मरण किया है। तारानाथ तिब्बती इतिहास - लेखक १७वीं शताब्दी में पैदा हुए थे, जिन्हों ने चित्र-कला को अति-प्राचीन माना है अर्थात् देवों की चित्रकला, यक्षों की चित्रकला तथा नागों की चित्रकला।

पुराण—पुराणों में चित्र-कला के सम्बन्ध में असख्य संदर्भ भरे पड़े हैं। *पुराणों की चित्र-कला के शास्त्रीय प्रतिपादन में सब से बड़ी देन पुराणों की है।* महा-विष्णु-पुराण के विष्णु-धर्मोत्तर के चित्र-सूत्र से सभी कला-विज्ञ परिचित हैं।

शिल्प-शास्त्र—शिल्प-शास्त्रीय चित्र-प्रतिपादन में हम इस अध्ययन के प्रथम स्तम्भ में पहले ही सकेत कर चुके हैं। अब आइये कवियों और काव्यों पर। वैसे तो प्रायः सभी नाटकों तथा काव्यों में चित्र-कला के सम्बन्ध मे बहुत से सन्दर्भ प्राप्त होते हैं परन्तु कालानुरूप हम केवल कवि-पुंगवों को लेते हैं जो निम्नतालिका से विवेच्य हैं :—

१. कालिदास	२. बाणभट्ट	३. दण्डी
४. भवभूति	५. माघ	६. हर्ष-देव
७. राजशेखर	८. श्रीहर्ष	९. धनपाल
१०. सोमेश्वर सूरि		

कालिदास—कालिदास के तीनों नाटकों में तीनों प्रमुख कलाओं का पूर्ण प्रतिबिम्बन प्राप्त होता है। मालविकाग्नि-मित्र नृत्य का, विक्रमोवर्शीय संगीत का तथा अभिज्ञान-शाकुन्तल चित्रकला का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तीनों नाटकों से उद्धृत निम्न अवतरणों को पढ़िए, जिन से पूरे का पूरा शास्त्र एवं तदनुप्राणित कला करामलकवत् दिखाई पड़ती है। चित्राचार्य, चित्रागार, चित्र-प्रकार, वर्तिका-नैपुण्य, चित्र-भूमि-बन्धन, वर्ण-विन्यास, तूलिका-लेखन, छाया-कान्ति, क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त, चित्रों में मुद्रा-विनियोग आदि आदि सभी विषयों पर ये उदाहरण साक्षात् मूर्तिमान् चित्र-विधान के प्रत्यक्ष निदर्शन हैं :—

चित्रशाला

'चित्रशाला गता देवी प्रत्यग्रवर्णरागा चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति'—माल. १

'विद्युत्वन्त ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः......प्रासादास्त्वां तुलयितुमलम्.—मेघ०

चित्राचार्य

'चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति'—माल०

चित्र

(क) फलक-चित्र (Portraits) .—

'तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथञ्चिद्बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च॥'—रघु०

'बाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश।'—रघु०

'सखि! प्रणम भर्तारं, यः पार्श्वतः पृष्ठतः दृश्यते।'—माल०

(ख) भावगम्य-चित्र :—

'मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।'—अभि०

(ग) याथातथ्य-चित्र :—

'अहो राजर्षेर्वर्तिकानिपुणता। जाने मे सखी अग्रतो वर्तत इति'—अभि०

(घ) प्रकृति-चित्र :—

'कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्'॥—अभि०

(ङ) पत्रालेखन-चित्र :—

'रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम्।
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य॥—मेघ०

(च) अंग-लेखन-चित्र :—

'हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम्॥'

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
चकार बाणैरसुरांगनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥

भूमि-बन्धन (पट्ट-चित्रीय) :—
'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥'—मेघ०

भूमि-बन्धन (कुड्य-चित्रीय)—
चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभंगाः ।
नखांकुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥—रघु०

वर्तना-प्रक्रिया

(अ) भूमि-बन्धन :—
'ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम् ।
रघुः शशाङ्कार्धमुखेन पत्रिणा शरासनज्यामलुनाद्बिडौजसः ॥

(ब) प्रण्डकवर्तन एवं मानसिक-कल्पन :—
'चित्रे निवेश्य परिकल्पित सत्त्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥'

तूलिका-उन्मीलन

'उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥—कुमा० १.३२

क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त

'स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु'—अभि० ४

वर्तिका

दे० अभि० शा० 'वर्तिका[illegible]' ।
दे० अभि० शा० 'वर्तिको[illegible]' अंक ६।

चित्र-द्रव्य

देखिये प्रभि० शा० प्र० ६ — 'वर्णिका-करण्ड'—A Colour Box to preserve colours in it.

चित्र-वर्णाः—शुद्ध-वर्णाः

पीतासितारक्तसितैः सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम् ।
समलगन्धर्वपुरोदयभ्रम बभार भूम्नोत्पतितैरितस्ततः ॥'—कुमा०
'नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां स्वजलकणिकादोषमुत्पाद्य सद्यः।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशो जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥'—मेघ०
'स्विन्नांगुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः ।
अश्रु च कपोलपतितं लक्ष्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात् ॥'—अभि०

चित्र-मुद्रा

व्यूहास्थितः किञ्चिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः ।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रे स विनीयमानः ॥—रघु० १३.५१
'स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम्' —कु० ३.
तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः ।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥—रघु० १९.३२

चित्र्यावयव

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः सालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥'—रघु० १.१३
युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः ।
वपुः प्रकर्षादजयद् गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥—रघु० ३.३४
वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जंघे शुभे सृष्टवतस्तदीये ।
शेषांगनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्यमुत्पाद्य इवास यत्नः ॥—कुमा० १.३५
दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ॥

मध्यः पाणिमितो नितम्बिजघनं पादावरालांगुलीः ।
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः श्लिष्ट तथास्या वपुः ॥—माल० २.३

चित्र-प्रतीकावलम्बन

"राजा—वयस्य ! अन्यच्च, शकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतमत्र विस्मृतमस्माभिः ।

विदूषकः—किमिव ?

सानुमती—वनवासस्य सौकुमर्यास्य च यत् सदृशं भविष्यति ।

राजा—कृतं न कर्णापितवन्धन सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमल मृणालसूत्र रचितं स्तनान्तरे ॥—अभि०

'इयमधिकमनोज्ञा वल्केलेनापि तन्वी
किमिक हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्'—अभि० १.

'सखि, रोचते ते ऽयं मुक्ताभरणभूषितो
नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेशः'—विक्र० ७.

'वेणीभूतप्रतनुसलिलासावतीतस्य सिन्धुः ।
पाण्डुच्छाया तटरुहतरूभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः ॥

सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती ।
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥'—मेघ०

'त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः ।
वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं गजाजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च ॥– कुमा० ५.६७

'आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिन्हदुकूलवान् ।
आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥—रघु० ११.२५

'सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारैर्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायैः ।
हरिरिव युगदर्घैर्दोर्भिरंशैस्तदीयैः पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः ॥'
—रघु० १०.८६

'वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ।'—मेघ०

'सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः ।'—मेघ०

'न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः ॥—कुमा० १

चित्र–विषय–क्षेत्र–उद्देश्य

'सखि ! तदा ससंभ्रममुत्कण्ठिताहं भर्तृरूपदर्शनेन त्वया न वितृष्णास्मि

यथाच विभावितश्चित्रगतदर्शनो भर्ता।'—माल० ४

'अये ! अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनश्चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरण-विनियोगं करोति।"—अभि० ४

'प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः समधिकतररूपाः शुद्धसंतानकामैः।
'अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः।"
—रघु० १८.५३

चित्र-दर्शन (Philosophy of the Fine Arts)

'यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यरेखया किञ्चिदन्वितम्॥'—अभि०

'चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता॥'—माल० २.

'पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य॥'—माल० १

बाण-भट्ट

हमने अपने इस अध्ययन में पहले ही लिख दिया है कि 'बाणोच्छिष्टं जगत्-सर्वम्' का क्या अर्थ है ? बाण-विरचिता दिव्या कादम्बरी तथा राजसी हर्षचरित—इन दोनों महाकाव्यों में चित्रों का विलास पद पद पर दिखाई पड़ता है। बाण का वर्ण-चित्रण, वर्ण-भेद शिल्प-रत्न के निम्न उद्घोष का पूर्ण प्रमाण है :—

'जङ्गमाः स्थावरा वा ये सन्ति भुवनत्रये।
तत्तत्स्वभावतस्तेषां करणं चित्रमुच्यते॥'

बाण-भट्ट ने अपनी जीवनी पर (देखिये ह. च.) जो लिखा है, उसमें बाण के साथियों की तालिका देखिये, उसमें चित्रकृद्वीर-वर्मा का उल्लेख है। अतः उनका पर्यटन बिना चित्रकार के पूर्ण नहीं था।

बाण-भट्ट के राज-भवनों के वर्णन में जो चित्र-शालायें वर्णित हैं, वे विमान-शैली पर निर्मित प्रतीत होती हैं। नारद-शिल्प में जो चित्र-शाला का शास्त्रीय विवेचन है, उसी के आधार पर ये दिखाए हैं। निम्न उद्धरणों को पढ़िये, जिन में, चित्र-विषय, चित्र-प्रकार, भूमि-बन्धन, द्रव्य-प्रक्रिया, वर्ण-

विन्यास आदि आदि सभी शास्त्रीय सिद्धान्त मूर्तिमान् दिखाई पड़ते हैं :

चित्र-शाला-निर्माण

'सरासुरसिद्धगन्धर्वविद्याधरोरगाध्यासिताभिश्चित्रशालाभिः
.........दिव्यविमानपंक्तिभिरिवालंकृता ।'—का. पृ. ६६

चित्र-शिल्पाचार्य

'सकलदेशादिश्यमानशिल्पिसार्थागमनम् ।'—ह. च. १४२
'सितकुसुमविलेपनवसनसत्कृतैःसूत्रधारैः ।'—ह. च. १४२

चित्र-प्रकार

कुड्य—'चित्रलेखादर्शितविचित्रसकलत्रिभुवनाकाराम् '—का. १७६
'आलेख्यगृहैरिव बहुवर्णचित्रपत्रशकुनिशतमशोभितैः'—का. २४७
'प्रविवेश च द्वारपक्षलिखितरतिपतिदैवतम् ।'—ह. १४८
'सुप्तया वासभवने चित्रभित्तिचामरग्राहिण्योऽपि चामराणि चालयाञ्चक्रुः ।'
—ह. १२७
'आलेख्यक्षितिपतिभिरप्यप्रमणद्भिः सतप्यमनचरणौ ।'—ह. १३६
'दिवसावसानेषु—चित्रभित्तिविलिखितानि चक्रवाकमिथुनानि ॥'—का. ४४६

फलक: (Portraits) :—
प्रत्यग्रलिखितमङ्गल्यालेख्योज्ज्वलितभित्तिभागमनोहराणि' ।—का. १३६
'चतुरचित्रकरचक्रवाललिख्यमानमङ्गल्यालेख्यम् ॥—ह. १४२
'चित्रावशेषाकृतौ काव्यरोपनाम्नि नरनाथे ।'—ह. १७५
'प्रविशन्नेव—चित्रवति पटे—कथयन्तं यमपट्टिकं ददर्श'—ह. १५३

पट-चित्र :—
'वासभवने मे शिरोभागनिहितः कामदेवपटः पाटनीयः ।'—का. ३३६

पट्ट-चित्र :—
'यमपट्टिका इवाम्बरे चित्रमालिखन्त्युद्गीतकाः ।'—ह. १३८

शिला-चित्र :—
'यत्र च स्नानार्थमागतया—विलिखितानि—त्र्यम्बकप्रतिबिम्बकानि
.... वन्दमाना ।'—का. ३११

चित्र-द्रव्य-वर्ण-कूर्चक

वर्तिका—कालाञ्जन-वर्तिका :—

कपोलेह्योन्मीलनकालाञ्जनवर्तिका ।'—का. ४५५

मणंसुधाकूर्चकैरिव करैर्धवलितदशाशामुखे चन्द्रमसि ।'—का. ५२७

कूर्चक — 'इन्दुकरकूर्चकैरिवोक्षालिताम् ।'—का २४६

वर्ण-शुद्ध-कूर्चक :—'वही' ।

तूलिका :—'अवलम्बमानतूलिकालाबुकांश्च...'—ह. २१०

वर्ण-पात्र (वर्ण-करण्डक) :—'मलाबु' ।

चित्र-प्रक्रिया-आधार—भूमि-बन्धन

कुड्य-भूमि-बन्धन :—

'उत्थापिताभिनवभित्तिपातयमानबहलवालुकाककण्ठकालेपाकुलाले-पकलोकम् ।'—ह १४२

'उत्कूर्चकैश्च सुधाकर्परस्कन्धैरधिरोहिणीसमारूढैर्धवलीक्रियमाणप्रासाद-प्रतोलीप्राकारशिखरम् ।'—ह

चित्र-फलक-बन्धन :—

'आलिखिता चित्रफलके भूमिपालप्रतिबिम्बम्'—का. १७२

प्रमाण एवं अण्डक-वर्तन :—

'वत्सस्य यौवनारम्भसूत्रपातेरखा ।'—का. ४६६

छाया-कान्ति—चित्रोन्मीलन

'कपालेस्योन्मीलनकालाञ्जनवर्तिका ।' —का. ४५५

'प्रातश्च सद्युन्मीलित चित्रमिव चन्द्रापीडशरीरमवलोक्य ।'—का. ५४८

पत्र-लेखनादि :—

'उभयतश्च—पुरन्ध्रिवर्गेण समधिष्ठितम् ।'—१४१

'बहुविधवर्णकादिग्धांगुलीभिर्ग्रीवासूत्राणि च—समन्तात्सामन्तसीमन्तिनी-भिर्व्याप्तम्—ह. १४३

चित्र-वर्ण-विन्यास-बाहुल्य

मूल-वर्ण—शुद्ध-वर्ण:—

शुभ्र-वर्ण :—'हरितालवर्षावशातदेहः'

'हंसधवला धरण्यामपतज्ज्योत्सना'

'हिमकरसरसि विकचपुण्डरीकसिते'

'अभिनवसितसिन्दुवारकुसुमपाण्डरैः'

'कर्णिकारगौरेण वोध्रकञ्चुकच्छन्नवपुषा'

'बकुलसुरभिनिःश्वसितया चम्पकावदातया'

'दन्तपाण्डरपादे शशिमय इव'

'पीयूषफेनपटलपाण्डरेण'

'शंखक्षीरफेनपटलपाण्डरम्'

'विकचकेतकीगर्भपत्रपाण्डर रजःसंघातम्'

रक्त-वर्ण :—

'तस्य चाधरदीधितयो विकसितबन्धूकवनराजयः'

'कुङ्कुमपिञ्जरितपृष्ठस्य चरणयुगलस्य'

'कुसुम्भरागपाटलं पुलकबन्धचित्रम्'

'रुधिरकुतूहलिकेसरिकिशोरकलिह्यमानकठोरघातकीस्तबके'

'लोहितायमानमन्दारसिन्दूरसीम्नि'

'माञ्जिष्ठरागलोहिते किरणजाले'

'बालातपपिञ्जरा इव रजन्यः'

'पारावतपादपाटलरागः'

हरित-वर्ण :—

'शुकहरितैः कदलीवनैः'

'मरकतहरितानां कदलीवनानाम्'

'तरुणतरतमालश्यामले'

भूरा (gray) वर्ण :—

'कृष्णाजिनेन नीलपाण्डुभासा—धूमपटलेनेव'

'रासभरोमधूसरासु'

'वनदेवताप्रासादानां तरूणां—तपोवनाग्निहोत्रधूमलेखासु'

'कपोतकण्ठकर्बुरे—तिमिरे'

'धूमरोदरधूसरे रजसि'

भूरा (brown) वर्ण :—

'गोरोचनाकपिलद्युतिः'

'हरितालकविलपववेणुविटपरचितवृतिभिः।'

'सन्ध्यानुबन्धताम्रे परिणततालफलत्विषि कालमेघमे दूरे'

'धूसरीचनुः क्रमेलककचकपिला. पासुवृष्टयः'

'गोधूमधामाभिः स्थलीपृष्ठैरधिष्ठिता'

श्याम-वर्ण :—

'करम्महिषमषीमलीमसि तमसि'

'गोलांगूलकपोलकालकायलोम्नि नीलसिन्धुवारवर्णे शाखिनि'

'चाषपक्षत्विषि तमस्युदिते'

शबल-वर्ण :—

'आचममनशुचिशचीतिमुच्यमानार्चनकुसुमनिकरशारम्'

'आभरणप्रभाजालजायमानानीन्द्रधनुःसहस्राणि।'

'पाकविशरारुराजमाषनिकरकिर्मीरितैश्च'

'शबलशार्दूलचर्मपटपीडितेन'

'तिर्यङ् नीलधवलायुकशाराम्।'

मिश्र-वर्ण—अन्तरित वर्ण :—

स्कन्धदेशावलम्बिना कृष्णाजिनेन नीलपाण्डुभासा तपस्तृष्णानिपीतेनान्तर्निपतता धूमपटलेनेव परीतमूर्तिः'

'सरस्वत्यपि शप्ता किञ्चिदधोमुखी धवलकृष्णशारा दृष्टिमुरसि पातयन्ती'

'आकुलाकुलकाकपक्षधारिणा कनकशलाकानिर्मितमप्यन्तरगतशुकप्रभाश्यामायमानं मरकतमयमिव पञ्जरमुद्वहता चाण्डालदारकेणानुगम्यमानम्'

'आमत्तकोकिललोचनच्छविर्नीलपाटलः कषायमधुरः प्रकाममापीतो जम्बूफलरसः'

शरीरामय—चित्रवर्ण (anatomical delineation) :—

चक्षुः कुरङ्गकैर्ग्रीणावद् वराहैः स्कन्धपीठं महिषैः प्रकोष्ठबन्धं व्याघ्रैः पराक्रमं केसरिभिर्गमनं—माघवगुप्तम्

'सद्य एव कुन्तली किरीटी कुण्डली हारी केयूरी मेखली मुद्गरी खंगी च भूत्वावाप विद्याधरत्वम्'

'देवताप्रणामेषु मध्यभागभङ्गो नातिविस्मयकर.'

'भङ्गभङ्गवलनान्योन्यघटितोत्तानकरवेणिकाभिः'

दण्डिन

दसकुमार-चरित्र का निम्न वाक्य पढ़िए, जिस में भूमि-बन्धन और वर्ण-विन्यास का प्रतिबिम्बन प्रत्यक्ष है :—

मणिमुद्गात् वर्णवर्तिका मुद्धृत्य ....

—दश० च० उ० २

भवभूति

भवभूति के उत्तर-राम-चरित में प्राकृतिक चित्रों की भरमार है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि Landscape Artist के लिए जो Principles of Perspective विशेष महत्व रखते हैं, उनके पूर्ण प्रतिबिम्ब यहा पर दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए श्रृंगवेर पुर के निकट इङ्गुदी—पादप का वर्णन, भागीरथी गंगा का वर्णन, चित्रकूट के मार्ग पर स्थित श्याम बट-वृक्ष का वर्णन, प्रस्रवण-पर्वत का भव्य वर्णन, पञ्चवटी की पृष्ठ-भूमि पर शूर्पणखा के चित्र का विलास-वर्णन, पम्पा-सरोवर के वर्णन—ये सब वर्णन एक-मात्र काव्य-मय नहीं हैं; ये पूरे के पूरे चित्र-मय हैं।

माघ

माघ को तो कालिदास और भवभूति से भी बढ़कर पण्डित-मण्डली ने जो निम्न युक्ति से परिकल्पित किया है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

यह ठीक है या नहीं ? परन्तु इन के विरचित शिशुपाल-वध के तृतीय सर्ग के ३६वें श्लोक को पढ़िए, जिस में भूमिबन्धन के लिए कितना सुन्दर मार्मिक विधान है। प्रतिश्लक्ष्णता अर्थात् बहुत चमकता चिकना एवं आलेख्य कर्म के लिए भूमि-बन्धन समीचीन नहीं—

यस्यामतिस्वच्छतया गृहेषु विधानुमानेऽयमथवनुवन्तः ।
चुचुर्युवानः प्रतिबिम्बभाग सजीव चित्रा इव रत्नभित्तीः ॥

हर्षदेव—हर्षवर्धन

इन के तीनों नाटक-नाटिकाओं—नागानन्द, रत्नावली, प्रियदर्शिका से सभी परिचित ही हैं। बाण के 'अलाबु' कालिदास के वर्णिका-करण्डक का हम उल्लेख कर ही चुके है। हर्षदेव की रत्नावली को पढ़िए :-

"गृहीतिसमुद्गकचित्रफलवर्तिका"

इस में षड्-चित्रांगो में वर्ण-पात्र, चित्र-फलक तथा चित्र-लेखनी इन दोनों पर पूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है।

राजशेखर

राजशेखर की काव्य-मीमांसा में विशेष कर उसके बाल-भारत में निर्देशित इस सन्दर्भ में चित्र-वर्ण-रसायन पर बड़ा ही पारिभाषिक वैशिष्ट्य प्रतीत होता है। अब आइये श्रीहर्ष की ओर—

श्रीहर्ष का समय ११वी तथा १२वीं शताब्दी

उत्तर-मध्यकालीन-चित्रकला का साहित्यिक-निदर्शन इतिहास उद्दाम तथा तीव्र गति से उल्लसित प्रस्तुत करता है। चित्र-कला में वर्ण-विन्यास को अक्षर-विन्यास में जो परावर्तन प्रारम्भ हुआ, वह श्रीहर्ष के नैषधीय-चरित महाकाव्य के निम्नलिखित संदर्भों में प्राप्त होता है। यहां पर 'ॐ' इस शब्द के दोनों दल बिन्दु तथा अर्धचन्द्र—चारों के साथ दमयन्ती के दोनों भौंहों (दोनो दल), तिलक (बिन्दु), अर्द्ध-चन्द्र वीणाकोण से तुलना की गई है। इसी प्रकार इस निम्नोद्धृत श्लोक में विसर्ग की कितनी सुन्दर समीक्षा एवं तुलना है :—

शृंगवद्बालवत्सस्य बालिकाकुचयुग्मवत्
नेत्रवत्कृष्णसर्पस्य स विसर्ग इति स्मृतः ।

अब हम चित्र-शास्त्रीय-सिद्धान्तों तथा चित्र प्रक्रिया की पृष्ठ-भूमि में नैषध के नाना उद्धरणों को पेश करते हैं, जिनमें चित्र-प्रकार, चित्र-प्रक्रिया, विशेष कर मान—प्रमाण, अण्डक-वर्म, चित्र-वर्ण, वर्ण-विन्यास एव शरीरावयव—मुख, नासा, चिबुक, कर्ण, ग्रीवा, केश, नितम्ब, गुल्फ, एड़ी तथा अंगुलियां—

सभी पर बड़े ही प्रौढ़ वर्णन प्राप्त होते हैं। श्री हर्ष के इन निदर्शनों में सबसे बड़ी विशेषता वज्र-चित्रकारी, मुद्रा-भंगिमा विशेष सूक्ष्म हैं।

चित्र प्रकार

कुड्य-चित्र—'ते तत्र भैम्यारचरितानि चित्रे चित्राणि पौरैः पुरि लेखितानि।
निरीक्ष्य निन्युर्दिवस निशां च तत्स्वप्नसंभोगकलाविलासैः ॥१०.३५॥

द्वार-चित्र—पुरि पथि द्वारगृहाणि तत्र चित्रीकृतान्युत्सववाञ्छयेव।
नभोऽपि किर्मीरमकारि तेषां महीभुजामाभरणप्रभाभिः ॥१०.३१॥

प्रेमी-प्रेमिका-चित्र—प्रियं प्रिया च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीला गृहभित्तिकावपि।
इति स्म सा कारुवरेण लेखित नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते। ।१.३८॥

चित्रमें योज्यायोज्य

'भित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमा यत्र तस्युरितिहाससंकथाः।
पद्मनन्दसुतारिरसुतामन्दसाहसहसन्मनोभुवः' ॥१८.२०॥

वर्तना

सूत्रपात-लेखा—गौरीव पत्या सुभगा कदाचित्कर्तयमप्यर्धतनूसमस्याम्।
इतीव मध्ये विदधे विधाता रोमावलीमेचकसूत्रमस्याः ॥७.८३॥
अपांगमालिख्य तदीयमुच्चकैरदीपि रेखाजनिताञ्जनेन मा।
आपाति सूत्रं तदिव द्वितीयया वयः श्रिया वर्धयितुं विलोचने ॥१५.३४॥
हस्त-लेखा—पुराकृतिःस्त्रैणमिमां विधातुमभूद्विधातुः खलु हस्तलेखः।
येयभवद्भावि पुरन्ध्रिसृष्टिः सास्यै यशस्तज्जयजं प्रदातुम्' ॥७.१५॥
अस्यैव सर्गस्य भवत्करस्य सरोजसृष्टिर्मम हस्तलेखः।
इत्याह धाता हरिणेक्षणायां किं हस्तलेखीकृतया तयास्याम् ॥७.७२॥
हस्तलेखमसृजत् खलु जन्मस्थानरेणुकमसौ भवदर्थम्।
राम रामपरीकृततत्तल्लेखकः प्रथममेव विधाता ॥२१.६६॥

वर्ण-विन्यास

चार मूल रंग—'विरहपाण्डिम, राग, तमोमषीशितम तन्निबपीतिम वर्णकैः
दश दिशः खलु तद्दृगवल्पर्यात्लिपिकरी नलरूपविचित्रिता : ॥४.१२॥

'पीतावदातारुणनीलभासा देहोपदेहात्किरणैर्मणीनाम् ।
गोरोचनाचन्दनकुंकुमैणनाभीविलेपान्पुनरुक्तयन्तीम् ॥१०.६७॥
विभिन्न मिश्र वर्ण—न्यस्य मन्दिरयु स राज्यमादरादारराध मदनं प्रियासखः।
मेकवर्णमणिकोटिकुट्टिमे हेमभूमिभृति सौधभूधरे ॥८.३॥
वर्ण-विन्यास—'स्थितिशालिसमस्तवर्णता न कथं चित्रमयी बिभर्तु या ।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा ॥२.९८॥

शरीरावयवज्ञान

ऋणीकृता किं हरिणीभिरासीदस्याः सकाशान्नयनद्वयश्रीः ।
भूयोगुणेयं सकला बलाद्यत्ताभ्योऽनयाऽलभ्यत विभ्यतीभ्यः ॥
नासीदसीया तिलपुष्पतूणं जगत्त्रयव्यस्तशरत्रयस्य ।
श्वासानिलामोदभरानुमेया दधद्विबाणी कुसुमायुधस्य ॥
बन्धूकबन्धूभवदेतदस्य मुखेन्दुनानेन सहोज्जिहाना ।
रागश्रिया शैशवयौवनीया स्वमाह सन्ध्यामधरोष्ठलेखा ॥
विलोकितास्या मुखमुन्नमय्य किं वेधसेयं सुषमासमाप्तौ ।
धृत्युद्भवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागङ्गुलियन्त्रणेव ॥
इहाविषादेन पथातिवक्रः शास्त्रौघनिष्यन्दसुधाप्रवाहः ।
सोऽस्या श्रवः पत्रयुगे प्रणालीरेखेव धावत्यभिकर्णकूपम् ॥
ग्रीवाद्भुतैवावटुशोभिताऽपि प्रसाधिता माणवकेन सेयम् ।
मालिन्यतामप्यवलम्बमाना सुरूपताभागखिलोर्ध्वकाया ॥
कवित्वगानप्रियवादसत्यान्यस्या विधाता व्यधिताधिकण्ठम् ।
रेखात्रयन्यासमिषादमीषां वासाय सोऽयं विबभाज सीमाः ।
रज्यन्नखस्याङ्गुलिपञ्चकस्य मिषादसौ हैठेलपद्मतूणे ॥
हैमैकपुङ्खास्ति विशुद्धपर्वं प्रियाकरे पञ्चशरी स्मरस्य ।
चक्रेण विश्वं युधि मत्स्यकेतुः पितुर्जितं वीक्ष्य सुदर्शनेन ।
जगज्जिगीषत्ययमुना नितम्बमयेन किं दुर्लभदर्शनेन ॥
भुविचित्रलेखा च तिलोत्तमास्या नासा च रम्भा च यदूरुसृष्टिः ।
दृष्टा ततः पूरयतीयमेकानेतकाप्सरः प्रेक्षणकौतुकानि ॥
धानेन तन्व्या जितदन्तिनाथौ पादानराजौ परशुद्धपार्ष्णी ।
जाने न शुश्रूषयितुं स्वमिच्छू नतेन मूर्ध्ना कतरस्य राज्ञः ॥

एष्यन्ति यावद्गणनाहिगन्तान्नृपाः स्मरार्ताः शरणं प्रवेष्टुम् ।
इमे पदारत्ने विधिनापि सृष्टास्तावत्य एवागुलिपत्र लेखाः ॥
प्रियानखीभूतवतो मुदेव दयाद्विधिः साधुददत्वमिन्दोः ।
एतत्पदच्छद्मसरागपद्मसौभाग्यं कथमन्यथा स्यात् ॥

तल-चित्र (Mosaic Floor-painting)

कुत्रचित् कनकनिर्मिताखिलः क्वापि यो विमलरत्नजः किल ।
कुत्रचिद्रचितचित्रशालिकः क्वापि चारिस्थरविर्धैन्द्रजालिकः ॥'—१८.११

पत्र-भंग-चित्रण

स्तनद्वये तन्वि पर तथैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य ।
अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीनां पत्रना समाप्तिम् ॥''—३.११८

हस्त-लेख

दलोदरे काञ्चनकेतकस्य क्षणान्मसीभावुकवर्णलेखम् ।
तस्यैव यत्र स्वमनङ्गलेख लिलेख भैमीनखलेखिनीभिः ॥१६३

चित्र-मुद्रा

क्रमोद्गता पीवरताधिजंघं वृक्षाधिरूढं विदुषी किमस्याः ।
अपि भ्रमीमगिभिरावृतांगं वासो लतावेष्टितकप्रवीणम् ॥—७.९७

चित्रकार

'चित्रतत्तदनुकार्यविभ्रमाध्यायनेकविधरूपरूपकम् ।
वीक्ष्य य वहु धुन्वशिरो जराजातको विधिरकल्पि शिल्पिराट् ॥—१८.१२

सोमेश्वर-सूरि—इन के यशस्तिलक-चम्पू में न केवल चित्र-शास्त्रीय सिद्धान्तों एवं प्रक्रियाओं का ही पूर्ण प्रोल्लास प्राप्त होता है, वरन् जिस प्रकार बाण की रचनाओं से तत्कालीन चित्र-कला-सेवन एक प्रकार से दैनिक-चर्या थी, उसी प्रकार 'यशस्तिलक' के पन्नों में तत्कालीन चित्र-कला के सामाजिक, वैयक्तिक एवं गार्हस्थ्य सेवन पर भी पूरा प्रकाश प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में चित्र-कला का एक नया विकास प्रारम्भ पाया जाता है, जिसको हम पत्रलेखन की संज्ञा से पुकार सकते हैं। पत्रलेखन से तात्पर्य लता-विच्छित्ति-चित्रण है जो नरों, नारियों, पशुओं एवं पक्षियों के अंगों पर चित्रणीय हैं। कालिदास ने ही सबसे पहले इस

परम्परा का अपने मेघदूत में श्रीगणेश किया था, 'रेवा द्रक्ष्यसि......आदि'।

परन्तु पुनः इन का पुनरुत्थान 'यशस्तिलक' के सन्दर्भों से प्राप्त होता है। यहां पर वे कालिदास से भी आगे बढ गए हैं। उन्होंने शंख, स्वस्तिक, ध्वजा, नन्द्यावर्त आदि लाञ्छनों से गज की भूति को विकसित किया है यह पत्रालेखन एक प्रकार से बडा ही विरला है। आगे चल कर नायिकाओं के अंग-प्रसाधन में, शृंगार में अगों की भूति-प्रदर्शनार्थ नाना अंगोपांग, अन्तरांग प्रसाध्य हैं। निम्न लिखित उद्धरण पढ़िए :

'ऊर्ध्वनखरेखालिखितनिखिलदेहप्रसादम्'

अस्तु, इस थोड़े से साहित्य-निबन्धनीय एवं ऐतिहासिक सिंहावलोकन के उपरान्त अब हम चित्रकला के अन्तिम स्तम्भ पर आते हैं।

ग्रन्थ-चित्रण—चित्रकला को हम तीन धाराओं में बहती हुई पाते हैं। पहली हुई पुरातत्वीय, दूसरी हुई साहित्यिक। अब इस तीसरी धारा को हम ग्रन्थ-चित्रण के रूप में विभावित कर सकते हैं। समरागण-सूत्रधार का यह निम्न-प्रवचन इस तीसरी धारा की ओर भी संकेत करता है।

"चित्र हि सर्वशिल्पना मुख लोकस्य च प्रियम"

यह धारा विशेषकर गुजरात मे पनपी और इसके निदर्शन हस्त-लिखित जैन-ग्रन्थ ही मूर्धन्य उदाहरण हैं। जैन-चित्र-कल्पद्रुम से ही नही, वरन् अन्य अनेक जैन-हस्त-लिखित-चित्रित-ग्रन्थो से भी यही प्रमाण प्रस्तुत होता है। हीरानन्द शास्त्री ने अपने Monograph (Indian Pictorial Art as developed in Book Illu-tiutions) में भी यही प्रमाण पूर्ण रूप से परिपुष्ट किया है।

द्वितीय खण्ड

अनुवाद

प्रथम पटल

प्रारम्भिका

द्वितीय पटल

राज-निवेश एवं राज-उपकरण

तृतीय पटल

शयनासन

चतुर्थ पटल

यन्त्र-घटना

पंचम पटल

चित्र-लक्षण

षष्ठ पटल

चित्र एवं प्रतिमा—दोनों के सामान्य अङ्ग

प्रथम पटल

प्रारम्भिका

१. वेदी
२. पीठ

विषयानुक्रमणी—शेषांश

वेदी-लक्षण

वेदियां चार हैं जो पुरा ब्रह्मा के द्वारा कही गयी है उन्ही का अब हम नाम, संस्थान और मान से वर्णन करते हैं ॥१॥

पहली चतुरश्रा, दूसरी सर्वभद्रा, तीसरी श्रीधरी और चौथी पद्मिनी नाम से स्मृत की गई है ॥२॥

यज्ञ के अवसर पर, विवाह में और देवताओं की स्थापनाओं, सब नीराजनों मे तथा नित्य-बलि-होम मे, राजा के अभिषेक मे और शक्रध्वज के निवेशन मे राजा के योग्य ये बनायी गयी हैं और वर्णों के लिये भी यथाक्रम समझनी चाहियें ॥३-४॥

चतुरश्रा वेदी चारो तरफ से नौ हाथ होती है। आठ हस्त के प्रमाण से सर्वभद्रा बतायी गई है। श्रीधरी वेदी का मान सात हाथ समझना चाहिए और शास्त्रज्ञों ने नलिनी नाम की वेदी का छह हाथ का विधान किया है ॥५-६॥

चतुरश्रा वेदी को चारो ओर चौकोर बनाना चाहिए और सर्वभद्रा को चारो दिशाओ मे भद्रों से सुशोभित करना चाहिए, श्रीधरी को बीस कोनो से युक्त समझना चाहिये और नलिनी यथानाम पद्म के संस्थान को धारण करने वाली समझना चाहिये। अपने अपने विस्तार के तीन भागों से उन सब की ऊचाई करनी चाहिये तथा मन्त्र-पुरस्सर इष्टकाओं के द्वारा उन का चयन करना चाहिए ॥७-१०॥

यज्ञ के अवसर पर चतुरश्रा, विवाह मे श्रीधरी, देवता के स्थापन मे सर्वभद्रा वेदी का निवेश करना चाहिए। अग्नि-कार्य-सहित नीराजन मे तथा राज्याभिषेक मे पद्मावती वेदी कही गई है और शक्रध्वज-उत्थान में भी इसी का विधान है ॥११॥

चतुर्मुखी वेदी का विशेष यह है कि चारों दिशाओं में सोपानों से चतुर्मुखी बनाना चाहिए। उसे प्रतीहारों से युक्त और अर्धचन्द्रों से उपशोभित चार खम्भों से युक्त, चार घड़ों से शोभित तथा सुवर्ण, रजत, ताम्र अथवा मृत्तिका से बने हुए कलशों से सुशोभित करना चाहिए। और वे घड़े प्रत्येक कोने

पीठ-मान

अब देवों के और मनुष्यों के पीठ का प्रमाण कहा जाता है। एक भाग की ऊंचाई वाला पीठ कनिष्ठ (छोटा) पीठ, डेढ़ भाग वाला मध्यम और दो भाग की ऊंचाई वाला उत्तम—इस प्रकार पीठ की ऊंचाई कही गई है ॥१–२½॥

महेश्वर, विष्णु और ब्रह्मा का पीठ उत्तम होना चाहिए और अन्य देवों का पीठ बुद्धिमान के द्वारा वैसा नहीं करना चाहिए और ईश्वर का (राजा का) पीठ इच्छानुसार विचक्षण स्थपतियों के द्वारा बनाना चाहिये ॥२½–३॥

जिस पीठ पर ब्रह्मा और विष्णु का निवेश करना चाहिए वहां सब जगह ईश्वर का निवेश किया जा सकता है। ऐसा करने पर दोष नहीं और देवों की पीठ की ऊंचाई एक भाग से प्रकल्पित है। जिस का जिस विभाग से वास्तु-मान विहित है उसका उसी भाग से पीठ की ऊंचाई भी करनी चाहिए। मनुष्यों के घरों के पीठ देव-पीठों के तुल्य (बराबर) करने चाहिए अथवा देवों के पीठ अधिक करने पर देवता लोग वृद्धि करते हैं ॥३–७½॥

पुर के मध्य भाग में ब्रह्मा जी का उत्तम मन्दिर निर्माण करना चाहिए, उसको चतुर्मुख बनाना चाहिए, जिस से वह सब पुर को देख सके। सब वेश्मों से तथा राज-प्रासाद से भी इसे बड़ा बनाना चाहिए ॥७½–८॥

और देव-मन्दिरों से राज-प्रासाद अधिक भी प्रशस्त कहा गया है क्योंकि लोकपालों में श्रेष्ठतम पाचवां लोकपाल राजा कहा गया है ॥९॥

इस प्रकार से देवों के इन सम्पूर्ण पीठों का वर्णन किया गया। अब ब्राह्मणादि के क्रम से चारों वर्णों के पीठों का वर्णन करता हूं ॥१०॥

३६ अंगुल की ऊंचाई का पीठ ब्राह्मण के लिये प्रशस्त कहा गया है और अन्य वर्णों के पीठ चार चार अंगुल से छोटे हों ॥११॥

चारों वर्णों के पीठों और गृहों को विप्र भोग करता है और तीन वर्णों का क्षत्रिय, दो का वैश्य और शूद्र केवल अपने पीठ का भोग करता है ॥१२॥

इस प्रकार पीठों का विभाग गृह-स्वामी का कल्याण चाहता हुआ और राजा की समृद्धि के लिए स्थपति परिकल्पित करे ॥१३॥

प्रमाण के अनुसार स्थापित किये गये देव पूजा के योग्य होते हैं ॥१३३॥

ब्रह्मा, विष्णु, शंकर तथा अन्य देवों के पीठों का जो नियत प्रमाण कहा गया है वह सब वर्णित किया गया। तदनन्तर विप्र आदि वर्णों का भी पीठ-प्रमाण बताया गया। इस लिए कल्याण चाहने वाले स्थपतियों के द्वारा उस सम्पूर्ण पीठ-मान की योजना करनी चाहिए ॥१४॥

द्वितीय पटल

१. राज-निवेश
२. राज-भवन

राज-निवेश

चौंसठ पद पर प्रतिष्ठित पुर-निवेश यथाविधान, यथाङ्गोपाङ्ग का विधान करने पर अर्थात् यहा पर परिखाओ, प्राकारो, गोपुरो, अट्टालको के निर्माण करने पर, गलियो का विभाग तथा चारो और चबूतरो का विभाग कर लेने पर और क्रमशः अन्दर और बाहर बताए हुए देवताओ की स्थापना करने पर पूर्व दिशा मे जल-बहुल प्रदेश मे अथवा पूर्व मे आगे के दरवाजे के उन्नत प्रदेश पर यश, श्री, विजय वाले मैत्र-पद-अधिष्ठित यथा-वर्णक्रमायात समान चारों कोने वाले शुभ पुर के मध्य भाग से ऊपर दिशा मे स्थित राजा के महल को बनाना चाहिये ।।१-४।

दुर्गो मे राज-महल ऊपर दिशाओ मे भी अथवा जहा उचित भू-प्रदेश प्राप्त हो वहा निविष्ट किया जा सकता है और वहा पर विवस्वत, भूधर अथवा अर्यमा के किसी अन्यतम निर्दिष्ट पद-निवेश विहित माना गया है ।।५।।

दो सौ तैंतालीस चापों से युक्त पद मे ज्येष्ठ प्रासाद कहा गया है, और मध्यम प्रासाद एक सौ बासठ और अन्तिम एक सौ आठ का होता है ।।६।।

ज्येष्ठ पुर मे ज्येष्ठ राज-निवेश का विधान है, मध्यम मे मध्यम और छोटे मे छोटा है ।।७।।

यह राज-मार्ग पर आश्रित होता है, और इस के वास्तु-द्वार का मुख पूर्व की ओर होता है। चारो ओर प्राकारो एव परिखाओ से रक्षित, सुन्दर कान्ति वाले, अङ्गभ्रमो, निर्यूहो अर्थात् भवन-विच्छित्तियों एव सुदृढ अट्टालको से युक्त इक्यासी पदो से विभक्त नृप-मन्दिर का निर्माण करना चाहिए। इसी युक्ति से अन्य दिशाओ मे आश्रित पदो पर निर्माण करना चाहिये, इसका गोपुर-द्वार भल्लाट-पद-वर्ती इष्ट माना गया है ।।८-१०।

उस पुर के द्वार के विस्तार की ऊचाई के समान कल्याणकारी महेन्द्र-द्वार महीधर शेष नाग पर निवेश्य कहा गया है। वैवस्वत मे पुष्पदन्त, अर्यमा मे गृहक्षत, और दूसरे प्रदक्षिण पदों मे अपरतः इसी प्रकार से अन्य दूसरी अपनी अपनी दिशाओ मे द्वारो का निर्माण करना चाहिए। सब आभिमुख्य होने पर वे सब गोपुर-द्वार प्रशस्त कहे गये है ।।११-१३।।

उन नगर द्वारों में बीग गर्गों को छोड़कर गर्दाय, जयन्त और मुख्य के पदों पर पक्ष-द्वारों का निर्माण करना चाहिए। अथ च उसी प्रकार से वितथ में प्रदक्षिण भ्रमों का निर्माण करना चाहिए ॥१४-१५ ॥

देवताओं के पद समूहों में पुर के समान वास्तु-पद के विभक्त होने पर मेंय पद पर राजा के निवेश के लिए पूर्व-मुख प्रमुख पृथ्वी-जय प्रासाद का यथावत निवेश करना चाहिए ॥१५ ½-१६॥

श्रीवृक्ष, सर्वतोभद्र, अथवा मुक्तकोण इनमें से जिस किसी को राजा चाहे उस शुभ-लक्षण राज-प्रासाद का निर्माण करावे ॥१७॥

अब आइये नाना-विध राज-प्रासाद-निवेशों का सविस्तर वर्णन किया जाता है। शालायें एवं कम-चारियों के अपने अपने पृथक् पृथक् निवेशों के साथ राज-गृह निवेश्य होता है। प्राची दिशा में आदित्य भगवान् सूर्य्य के पद से सश्रित राज-गृह होता है। सत्य मे धर्माधिकरण-व्यवहार निरीक्षण का न्यास विहित है और मृग में कोष्ठागार और अम्बर में मृग एवं पक्षियों का निवास बनाया गया है ॥१८-१९ ॥

अग्नि की दिशा से प्रारम्भ कर वायु की दिशा की ओर रसोई, पूषा में सभाजनाश्रय तथा भोजन-स्थान का निवेश बताया गया है ॥२०॥

सावित्र्य में वाद्यशाला और सविता में बन्दि-गणों का निवास बनाया गया है। वितथ में नर्मों का एवं उनके योग्य अस्त्रों का विधान विहित है। सोना, चांदी के कामों का गृहक्षत में निवेश करना चाहिए। दक्षिण दिशा में गुप्ति कोष्ठागार बनाना चाहिये ॥२१-२२॥

प्रेक्षा-सगीत और वास-वेश्म गन्धर्व में स्थापित करने चाहिए। रथ-शाला और हस्ति-शाला का निर्माण वैवस्वत में करना चाहिए ॥२३॥

पश्चिमोत्तर भाग में वापी का निर्माण करना चाहिए ॥२४½॥

गन्धर्व के बाहर वायु और सुग्रीव के पदों में प्राकार के वलय में आवृत अन्तःपुर का स्थान बनाना चाहिए। अथच अन्तःपुर के गोपुर-द्वार का निवेश जय पर तथा उसका मुख उत्तराभिमुखीन बनाना चाहिए। भृङ्ग में कुमारी-भवन तथा क्रीडा एवं दोला गृहों का भी निवेश करना चाहिये। स्थपति के द्वारा अपराङ्मुख वाले ऐसे प्रासाद का भी निर्माण करना चाहिए। मृग में नृप का अन्तःपुर और पित्र्य में अवस्कर अथच यथास्थान राजाओं की स्त्रियों का उपस्थान भी इन्द्र-पद में कहा गया है ॥२४½-२७ ॥

सुग्रीव पद में आश्रित अरिष्टागार कल्याणकारी होता है एवं उसका

निवेश जयन्त तथा सुग्रीव पदों में विशेष विहित है ॥ २८ ॥

मनोहर अशोक-वन के स्थान के लिए एवं धारा-गृह एवं लता-मण्डपों से युक्त लता गृह भी यहीं पर होने चाहिए। सुन्दर लकड़ी के पर्वत, वापियां, पुष्प-वीथियाँ भी होनी चाहिए। पुष्पदन्त में पुष्प-वेश्म तथा अन्तःपुर के कर्मादिक निवेश करने चाहिए ॥२९—३०॥

वरुण के पद में वापी और पान-गृह बनाने चाहिए। असुर में कोष्ठागार, शोष में आयुध-गृह विहित बताये गये हैं। ॥३१॥

रौद्र-नामक सुन्दर पद में भाण्डागार का निर्माण करना चाहिए और पाप-यक्ष्मा के पद पर उलूखल, शिलायन्त्र-भवन, अर्थात् ओखली और चक्की के स्थान बनाने चाहिए ॥३२॥

राजयक्ष्मा में लकड़ी के काम वाला घर कल्याणकारी होता है। वायु-दिशा में रोग-पद पर औषधियों का स्थान होना चाहिए। विद्वानों के द्वारा नागों का स्थान नाग के पद पर शुभ कहा गया है और मुख्य में व्यायाम, नाट्य और चित्रों की शालाओं का विधान बताया गया है ॥३३-३४॥

भल्लाट-नामक पद में गौवों का स्थान तथा क्षीर-गृह होने चाहिए। सौम्य के उत्तर-प्रदेश में पुरोहित का स्थान कहा गया है। अत: यहीं पर राजा का अभिषेचन-स्थान तथा दान, अध्ययन और शान्ति के स्थान भी विहित बताये गये हैं। भूधर अर्थात् शेष-नाग के पद पर चामर तथा छत्र के घर एवं मन्त्र-वेश्म भी प्रतिष्ठाप्य है और यहीं पर बैठ कर राजा को अपने अधिकारियों के कार्यों का निरीक्षण करना चाहिए। ३५-३७½॥

उत्तर मार्ग में आश्रित घोड़ों की वाजि-शाला होनी है, और वह महीधर के पद पर ही दक्षिणामुखी यथोचित रूप से राज-प्रासाद के अनुरूप सर्वत्र वाजिशाला बनानी चाहिए। राजा अपने प्रासाद में जब प्रवेश करता है तो दक्षिण में वाजिशाला पड़नी चाहिए और वाम भाग में गजशाला पड़नी चाहिए। चरक नामक पद में राज-पुत्रों के घरों का निर्माण करना चाहिए, और यहीं पर इन लोगों की पाठशालाओं का निवेशन भी करना चाहिए। अदिति में नृप की माता का निवेशन अदिति के स्थान में करना चाहिए। यहां पर पृथक् स्थान पर पालकी और शय्या के घर अलग अलग कहे हैं ॥३७½—४१½॥

राजाओं के हाथियों की शालाओं का निर्माण आप पद पर उचित कहा गया है। यहीं पर गजों के अभिषेचनक स्थान विहित है ॥४१½—४२½॥

आपवत्स के पद पर हंस, क्रौंच, सारस पक्षियों से कूजित, और जहां पर

कमल-वन खिले हुए है, ऐसे स्वच्छ सलिल वाले तालाबों का निर्माण करना चाहिए ।।४२½–४३½।।

चाचा, मामा आदि के घर दितिपद में होना चाहिए ।

राजा के अन्य सामन्त आदि ऊंचे अधिकारियों के भी घर यही पर विहित हैं ।।४३½–४४½।।

ऐशानी दिशा में अनल-स्थान पर ऊंचे ऊंचे खम्भों एवं उत्तङ्ग वेदिकाओं से युक्त अच्छी अच्छी मणियों से बने हुए सुन्दर देव-कुल का निर्माण करना चाहिये ।।४४½–४५½।।

पर्जन्य के पद पर ज्योतिषी का घर कहा गया है ।।४५।।

सेनापति को विजय देने वाले घर का निर्माण जयाभिध-पद पर करना चाहिए तथा इस भवन को अर्यमा के पद में प्राकार-समाश्रित द्वार प्रशस्त कहा गया है । और यही पर पूर्वदक्षिणाभिमुखीन शास्त्र-कर्मान्त शास्त्र-भवन भी उचित है ।।४६–४७½।।

राज-प्रासाद-निवेश में इन्द्र-ध्वज-युत ब्रह्मा का स्थान किसी भी निवेश्य के लिये वर्जित बताया गया है । इसी स्थान पर केवल अशुभ वेश्मों का विधान है और यही पर असुखावह गवाक्ष एवं स्तम्भा-शोभिनी शालाओं का भी विधान विहित है ।।४७½–४८।।

राज-प्रासाद की रक्षा के लिये यथादिक्-प्रभवा सभा का निवेश बताया गया है । साथ ही साथ राज-प्रासादों के सम्मुख गजशालायें अनिवार्य हैं; अथवा पृष्ठ-भाग में भी विहित हैं ।।४९–५०½।।

इस प्रकार के शास्त्रानुकूल विधान के अनुसार देव प्रसाद तुल्य राज भवन का जो राजा अनुष्ठान करता है वह सप्तद्वीप-सप्तसागर-पर्यन्ता मही का प्रशासन करता है तथा अपने पराक्रम से सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है ।।५१।।

राज-गृह

१०८ कर अर्थात् हस्त वाला ज्येष्ठ, ९० हस्त वाला मध्यम, ७० हस्त वाला निकृष्ट राज-वेश्म बताया गया है अतः महान विभूति एवं सम्पदा को चाहने वाला इससे हीन मान से राज-वेश्म का निर्माण न करावे ॥१—२½॥

क्षेत्र के चौकार बना लेने पर, दश भागों में विभाजित कर आदि कोण में आश्रित दीवाल आधे भाग में कही गयी है ॥२½—३½॥

चार खम्भों से युक्त मध्य में चार भाग वाले अलिन्द का निर्माण करे और बाहर का अलिन्द बारह खम्भों से आवृत निर्माण करे। तदनन्तर बीस श्रेष्ठ खंभों से युक्त दूसरा अलिन्द होता है और तीसरा भी २८ खंभों वाला होता है और ३६ खंभों से चौथा अलिन्द विहित है। इस प्रकार से पृथ्वी-जय नामक राज-वेश्म में १०० खंभे विद्वानों के द्वारा बताये गये है ॥३½—६½॥

इस के चार दरवाजे होते हैं जो कि पञ्चशाल-द्वार विहित है। उसके चारों निर्गम (निकास) प्रत्येक दिशा में होते है, वे सब बराबर होते हैं। और इसी प्रकार से चारों दिशाओं में भद्राओं का निवेशन विहित है ॥६½—७॥

बीच की दीवाल के आधे से तीनों भद्रों में दीवाल होती है, प्रत्येक भद्र में २८, २८ खम्भे कहे गये है ॥८॥

मुख-भद्र वेदिकाओं और मत्तवारणों से युक्त कहा गया है। क्षेत्र-भाग का उदय आदि भूमि के फलक तक कहा गया है ॥९॥

आदि भूमि की ऊंचाई के आधे में इस का पीठ कल्पित होना चाहिए। नव भागों से ऊंचाई करके एक भाग में कुम्भिका बनानी चाहिए ॥१०॥

चारों भागों में आठ अंश से युक्त स्तम्भ-निर्माण करना चाहिए; पाद-युक्त एक भाग से उत्तालक बनाना चाहिए ॥११॥

पाद-रहित भाग से हीर-ग्रहण करना चाहिए। स्तम्भ में युक्त सपाद एक भाग का पट्ट निर्मेय है। पट्ट के आधे से जयन्तियों का निर्माण करना अभिप्रेत है। अन्य भूमियों पर यही क्रम है, परन्तु निर्मित भाग की ऊंचाई में आधा छोट

दिया जाता है अर्थात् तलभूमि से ऊपर की भूमियों का ह्रास आवश्यक है। पन्द्र भाग का प्रमाण वाला नवा तल सच्छाद्य होता है। वेदिका का नीचे का छाद्य साढे तीन भागों का प्रमाण वाला और वह कण्ठ से युक्त बनाना चाहिए जिससे वेदिका ढक जाए अथ च उस का कण्ठ बीच मे डेढ भाग में बनाना चाहिए ॥१२—१५॥

वेदिका का विस्तार अर्धसप्तम भागों से करना चाहिए और वेदिका के ऊपर घण्टा साढे चौदह भाग से, पाद सहित दो भागों से कण्ठ, पाच से पट्ट, चार से दूसरा और फिर तीन से तीसरा शोभा के अनुसार इच्छानुसार वेश्म-शीर्ष देना चाहिए। क्षेत्र-भाग के बराबर चूलिका का कलश बनाना चाहिए ॥१६—१८॥

भूमि की ऊचाई के आधे से अन्तरावकाश में तल होना चाहिए और उसका सुशोभित पीठ जैसा अच्छा लगे वैसा बनाना चाहिए। इसकी खुरवरण्डिका ढाई भाग से, जघा चार भाग से, उसके बाद छाद्य-प्रवृत्त करे ॥१६—२०॥

एक पाद कम दो भागो से छाद्य-पिण्ड बनाया गया है और इसके ऊपर हस नाम का निर्गम चार हाथ वाला बनाया गया है ॥२१॥

उसके बाद दूसरा छाद्य एक पाद कम एक भाग से, प्रासाद की जघा चार भागों से प्रकल्पित करें ॥२२॥

चौथी भमिका के सिर पर फिर शृण्डो का विवेश करे और शेष भूमिकाए क्षण-क्षण प्रवेश से बनानी चाहिये। पूर्वोक्त प्रकार से वर्णित क्रम से घण्टा सहित और कलशों से युक्त वेदिका होनी चाहिए और रेखाओ की शुद्धि से सब शृङ्ग ठीक तरह से बनाना चाहिए ॥२३—२४॥

ऊचाई के आधे के तीन भाग करके और फिर तीसरे भाग के दस भाग करें—वामन, आनपन, कुबेर, अपराजिता, हसपृष्ठ, महाभोगी, नारद, शम्बुक, जय और दशवा अनन्त, स्थपति शृङ्ग की रेखाओं की प्रसिद्धि के लिए इन उदयों का निर्माण करें ॥२५—२७३ ॥

इस प्रकार अंतर्वेदिका, जाल और मत्तवारणो से शोभित वितर्दिकाओं और निर्यूहों से युक्त, चन्द्रशाला से विभूषित, समृद्धि और बहुविध उस पृथ्वी-जय नाम का प्रासाद निर्माण करे ॥२७½—२८॥

जो बडे बडे प्रासाद कहे गये है वे बराबर ऊंचाई वाले बनाने चाहियें। अथवा कोण से ऊचाई के आधे से छोटे हो यह क्रम है ॥२६॥

आगे भाग से ऊंचाई क्षेत्र-विस्तार युक्त दूसरा प्रासाद कहा गया है। इसका नाम विभूषण (श्रोमी-विभूषण) है ॥३०॥

जिन में बहुत से निकर हो, उन से आगत दिया जाता है। पद्मिनी

रेखा अथवा दूसरी रेखा से या फिर तीसरी रेखा में सञ्चरण बताये गये हैं। दस भाग वाले क्षेत्र में दस तरह से भूमि का उदय करना चाहिए। कम और अधिक विभक्त क्षेत्र होने पर यथोचित करना चाहिए ॥३१–३२½॥

अब क्रम-प्राप्त मुक्तकोण नामक प्रासाद का लक्षण कहा जाता है ॥३३॥

क्षेत्र के चौकोर कर लेने पर द्वादश भागों में विभाजित करने पर इस के मध्य भाग को चार स्तम्भों से विभूषित करना चाहिए, एक भाग से अलिन्द १२ स्तम्भों से युक्त होता है और इसी के समान दूसरा अलिन्द भी बीस घरों से आश्रित कहा गया है। तीसरा अलिन्द २८ घरों से और चौथा अलिन्द ३६ से, ४४ घरों से पाँचवा कहा गया है ॥३४–३७½॥

आधे भाग से दीवाल बनवावे, छेद भाग को छोड़कर फिर तीन भाग करे। उस से प्राग्रीव का दैर्घ्य और विस्तार बनावे। इस के विस्तार और निर्गम एक भाग से भद्र का निर्माण करे। उससे एक भाग छोड़ कर इस का दूसरा भद्र होता है। भाग-निर्गम और विस्तार का सभी दिशाओं में यही क्रम है ॥३७½-३९॥

५४ स्तम्भों से युक्त एक एक भद्र युक्त होता है और इस के मध्य में १४४ स्तम्भे स्थित हैं अथवा २१६ दोनों मिला कर इस प्रकार से सब घरों की संख्या ३६० (१४४+२१६=३६०) हुई। यहां पर शेष निर्माण पृथ्वी-जय के समान ही इष्ट होता है ॥४०–४२½॥

सम्पूर्ण निकायों में तीसरी भूमिका के ऊपर आसनों का निर्माण करना चाहिए। यह विशेष यहां पर फिर बता दिया गया है ॥४२½–४३½॥

इसी प्रकार सर्वतोभद्र संज्ञक तथा चतुर्मुख-संज्ञक राज वेश्मों में यही विधान करना चाहिए। और यही गृहरेखा-प्रसिद्धि के लिए क्रम है ॥४३½–४४½॥

श्रीवत्स के भी मध्य में मुक्तकोण के समान स्तम्भ आदि प्रकल्पन करें। छेद भाग को छोड़ कर तीन भागों से विस्तृत एक भाग से निकला हुआ इसका प्राग्रीव होता है और इस का भी मुक्तकोण के समान ही मध्य भद्र का विधान है। यह विधि सम्पूर्ण दिशाओं में है। शेष पूर्ववत् है। हर एक भद्र में ३० इक गुण स्तम्भे होते हैं सब घरों की संख्या १२० होती है और इसी प्रकार से सब स्तम्भों की संख्या २६४ होती है ॥४४½–४८॥

सर्वतोभद्र-नामक वेश्म का अब लक्षण कहते हैं। चौकोर क्षेत्र को १४ भागों में विभाजित करने पर चार स्तम्भों से विभूषित और इसका चतुरस्र एक भाग वाला कहा गया है और द्वादश खंभों से युक्त प्रथम अलिन्द, बीस से दूसरा

२८ स्तम्भों में तीसरा, ३६ से चौथा, ४४ से पांचवा, ५२ में छठा प्रलिन्द विहित है। सब ओर से सुदृढ़ और घन आधे भाग से दीवाल कही गयी है ॥४९—५३॥

डेढ़ भाग को छोड़ कर तीन भागों में विस्तृत कर्ण का प्राग्ग्रीवक विहित है और एक भाग से निर्गम ॥ ५४ ॥

भाग-निर्गम-विस्तृत इसका भी भद्र करना चाहिए। दो भागों से निकला हुआ मध्य में भद्र बनाना चाहिए। इसका भी बीच में तीन भागों से विस्तृत भद्र होना चाहिए। एक भाग से निर्गम, अन्तर भाग से निर्गत कहा गया है। भाग-विस्तार से युक्त दूसरा भद्र प्रकल्पित करना चाहिए। भद्रों के प्रकल्पन में यह विधान सब दिशाओं में बताया गया है ॥५५–५७॥

इस राज-प्रासाद के मध्य भाग में स्तम्भों की संख्या १९६ होनी चाहिए और इन सभी भद्रों में १६० खम्भे होवें। इस प्रकार सब स्तम्भों की संख्या ३५६ होती है। परन्तु इसकी जंघा तीन भूमिकाओं वाली बतायी गई है ॥५८-६०½॥

शत्रु-मर्दन नामक राज-वेश्म का अब लक्षण कहते हैं। पृथ्वी-जय के समान मध्य में इसकी दीवाल उसी प्रकार होनी चाहिए। डेढ़ भाग को छोड़ कर एक भाग से आयत और विस्तृत और उस के बीच में तीन भागों से विस्तृत भद्र बनावे और इसी प्रकार तीन भागों से निकला हुआ भद्र बनावे। दोनों ओर का भद्र आयति और विस्तार में तीन भागों से विस्तार और एक भाग से निर्गम विहित है। वहां पर भी मध्य भद्र एक भाग से आयत और विस्तृत यही क्रम इस की सिद्धि के लिए सभी दिशाओं में करनी चाहिए ॥६०½—६४॥

इसकी ऊपर की भूमियां पृथ्वी जय के समान ही करनी चाहिये और प्रति भद्र ४४ स्तम्भों से युक्त कहा गया है ॥६५॥

इसके मध्य में सब सुदृढ़ और शुभ खभे बनाये जायें। इस तरह इसमें २७६ खभें होते हैं ॥६६॥

इन पांचों राज-भवनों का ८०० हाथों का उत्तम मान, उत्सेध और विस्तार विहित है। अतः कल्याण चाहने वाले के द्वारा यह मान सम्पादित किया जाना चाहिए। मध्यम एवं अधम का मान पृथ्वी-जय में बता ही दिया गया है ॥६७–६८½॥

अब राजाओं के क्रीड़ा के लिए और पांच भवन बताये जाते हैं। पहला है क्षोणी-विभूषण, दूसरा पृथिवी तिलक, तीसरा प्रताप वर्धन, चौथा श्री-निवास और पांचवां लक्ष्मी-विलास। इस प्रकार से ये पांच राज-वेश्म वर्णित किये

गये हैं ॥६८½—७०½॥

क्षेत्र के चौकोर करने पर दश भागो मे विभाजित कर मध्य मे चार खम्भो वाला चतुष्क बनाना चाहिए। बाहर का अलिन्द एक भाग और अन्त मे अग-अग्र से आयत, तीन भागो से विस्तृत कर्ण-प्रासादों का निर्माण करना चाहिए। उनके मध्य में पड-दारुक होना चाहिए। आधे भाग के प्रमाण से युक्त दीवाल और उसका चतुष्क बहिर्भाग-निष्क्रान्त और भद्र में एक भाग से विस्तृत तीन प्राग्रीवों से युक्त, और एक भाग के अलिन्द से वेष्टित और आधे भाग की भित्ति से वेष्टित होता है। इस प्रकार यह मनोहारी अवनि-शेखर (क्षोणी-विभूषण) राज-प्रासाद होता है। ७०½—७४॥

क्षेत्र के चौकोर कर लेने पर १२ भागो मे विभाजित कर मध्य मे एक भाग से चतुष्क और दो भागो से बाहर के दो अलिन्द, कर्णो मे नवकोष्ठक-प्रासादो का सन्निवेश करें और उनके अन्दर पड्दारुक का सन्निवेश भी अनिवार्य है। तब बाहर सब तरफ आधे भाग से दीवाल बनानी चाहिए। भद्र में एक भाग से आयत चारो दिशाओ मे भाग-निष्क्रान्त होना चाहिए। और इस का चतुष्क एक भाग वाले अलिन्द से वेष्टित कहा गया है और इसकी तीन भद्रायें भाग-विस्तार और निर्गम वाली बनाना चाहिए और वे आधे भाग को भित्ति से वेष्टित हो। ऐसा विधान है—कर्ण कर्ण मे विस्तीर्ण, भाग निर्गत २ भद्र चाहियें। इस प्रकार का राज-प्रासाद भुवन-तिलक नाम से सकीर्तित किया गया है॥७५—८०½॥

क्षेत्र को चौकोर कर लेने पर उस को १२ भागों मे बाट लेने पर चार खम्भो वाला चतुष्क मध्य मे एक भाग से निर्मित करें और उसके बाहर वाला अलिन्द एक भाग से और दूसरा भी एक भाग से। कर्णो मे नवकोष्ठक-प्रासादो का विनिवेश करें और उसके अन्दर पड्दारुको को लगावे। उसके बाद बाहर सब तरफ आधे भाग से दीवाल बनावें। भद्र मे एक भाग से आयत भद्र विनिष्क्रान्त चार खंभो वाला चतुष्क होता है और वह एक भाग वाले दो अलिन्दो से परिवेष्टित होता है। तीन भागो से विस्तृत एक भाग विनिर्गत बाहर का भद्र होता है। दोनो तरफ दोनो भद्र एक भाग से बराबर करने चाहियें और भद्र के चारों तरफ बाहर की आधे भाग से भित्ति कही गई है। चारो दिशाओ मे इस प्रकार विधान कहा गया है और यह प्रासाद विलास-स्तवक के नाम से प्रसिद्ध है ॥८०½—८६॥

कर्ण के दो दो प्राग्रीव और शाला के दो प्राग्रीव जब इसके हों तो

इसका नाम कीर्ति-पातक कहा गया है ॥ ८७ ॥

इसी की पीठ पर चारों तरफ आठ निर्मुक्त शालाओं से परिवेष्टित एवं शालायें एक दूसरे से सम्बन्द्ध कर्ण-प्रासादों से युक्त शालोज्झित कोनों से युक्त प्रासादों में सुन्दर भुवन-मण्डन जानना चाहिए ॥८८—८९॥

तल-छन्द ये बताये गये, जो जधा, संवरण आदि और भूमि-मान आदि सब पृथ्वी-जय के समान होते हैं ॥९०॥

अब क्षोणी-भूषण वेश्म का लक्षण कहता हूं ॥ ९१½ ॥

५५ हाथों से कल्पित चौकोर भूमि को आठ भागों में विभक्त कर, चार खभों से युक्त चतुष्क बताया गया है और इसका अलिन्द पहला १२ खम्भों से और दूसरा २० और तीसरा २८ से युक्त होता है ॥९१½–९३ ॥

भित्ति के डेढ भाग को छोड कर एक भाग से निर्गत, पांच भाग से विस्तीर्ण भद्र कहा गया है और दूसरा मध्य भद्र भी तीन भागों से विस्तृत और एक भाग से निर्गत बनाना चाहिए। उसके आगे के भद्र एक भाग से विस्तृत और एक भाग से निर्गत कहे गये हैं। इस प्रकार से इसकी सिद्धि के लिए यह विधि सब दिशाओं में बतायी गयी है। सारदारु में निर्मित एवं १८ हाथ के प्रमाण से ६४ मध्य-स्तम्भों से युक्त प्रत्येक भद्र का निर्माण करे। इस तरह यहां पर सब जगह खंभों की संख्या १३६ होती है। इसके चार दरवाजे करने चाहियें जो धन, लक्ष्मी और कीर्ति के वर्धन करने वाले होते हैं ॥९४—९८॥

अब पृथिवी-तिलक का लक्षण कहा जाता है। ४० हाथ वाले क्षेत्र का तीन भागों में विभक्त कर भीतर के चार खभों से मण्डित एक भाग में चतुष्क और अलिन्द भी बारह खभों से युक्त एक भाग वाला होता है और दूसरा अलिन्द बीस से और इसकी भित्ति एक पाद वाली (पादिका) कर्ण में तीन भागों से निर्गत आयत प्रासाद (कर्ण-प्रासाद) कहा गया है ॥९९-१०१॥

एक भाग निर्गत एवं विस्तृत इसके दोनों भद्रों का निर्माण करना चाहिए। कर्ण और प्रासाद के मध्य में पांच भागों से विस्तृत और एक भाग से निर्गत मध्य भद्र कहा गया है। तीन भाग से विस्तीर्ण एक भाग से निर्गत मध्य में दूसरा भद्र बताया गया है। इस प्रासाद के भीतर ३६ खभे और भद्रों पर २०८ खभे बताये गये हैं॥१०२—१०४॥

अब इसके बाद श्रीनिवास का लक्षण कहता हूं। इसका मध्य पृथिवी-तिलक के समान परिकीर्तित किया गया है। सपाद भाग छोड कर तीन भाग से विस्तृत, एक भाग से निर्गत इसका पहला भद्र होता है। उस के भी मध्य

भाग वाला दूसरा भद्र एक भाग से निर्गत एवं विस्तृत, सुदृढ़ दश खंभो से युक्त कहा गया है। सभी दिशाओं मे इसी प्रकार की भद्र-कल्पना की जानी चाहिए। इकट्ठी सख्या से इसके ७६ खम्भें होते है॥ १०५—१०८॥

अब इसके बाद प्रताप-वर्धन का लक्षण कहा जाता है। साढे अट्ठाईस हाथो से विभक्त होने पर मध्य मे चार घरो (खम्भो) से सम्भृत और भागैर्विहित चतुष्क और इसका अलिन्द १२ खभो से युक्त एवं भागैर्विहित बताया गया है। इसकी भित्ति पादिका होती है और इसका भद्र भाग-निर्गम-विस्तार वाला चार स्तम्भो से भूषित होता है। इसकी सिद्धि के लिए समग्र दिशाओं मे यही विधि करनी चाहिए। बाहर भीतर के ३२ स्तम्भ कहे गये है और सभी घरों (खंभो) की गणना ६४ कही गयी है॥१०९—११३½॥

अब लक्ष्मी-विलास का ठीक तरह से लक्षण कहता हू। प्रताप-वर्धन की तरह ही इसका मध्य प्रकल्पित करें। प्रताप-वर्धन के समान ही सब तरह से यह कहा गया है। परन्तु इसके भद्रो के कोनो मे ही पार्श्व-भद्र करना चाहिए और दोनों पार्श्वों मे भी भद्रो का सन्निवेश कहा गया है। इन भद्रो का निर्गम एक भाग का होता है—यह विशेष कहा गया है। इसका भद्र १० खम्भो से और मध्य भद्र १६ धरो से विहित बताया गया है। चारों दरवाजे इच्छानुसार क्षणमध्यग और अपने पद मे सुशोभित दूसरा दरवाजा बनावे॥११३½—११७॥

अब विशेष उल्लेखनीय विधि यह है कि साढे छै भूमियो से क्षोणी-भूषण का निर्माण करे और पृथिवी तिलक-सज्ञक वेश्म साढे आठ भूमियो से, श्रीनिवास साढे पाच भूमियो से, लक्ष्मी-विलास भी साढे पाच भूमियो से तथा प्रताप-वर्धन साढे चार भूमियो से विनिर्मेय है॥ ११५-१२०½॥

राजाओ के पृथ्वी-जय आदि निवास-भवन और क्षोणी-विभूषण आदि विलास-भवन जो राजाओ ने निवास और विलास के लिए कहे गये है उन पृथ्वी-जय आदि राज-वेश्मो के दरवाजो का अब मान कहा जाता है॥ १२०½—१२२½॥

५४ अंश सहित तीन हाथ से विस्तृत द्वार का उदय अर्थात् ऊंचाई कही गयी है; उससे आधे से उसका विस्तार और उसके उदय के तीसरे भाग से खंभो का पिण्ड कहा गया है॥ १२२½-१२३॥

सपाद, सचतुष्कर, सत्ताइसवां गृह-भाग राज-वेश्मो की पहिली भूमि कही गयी है॥ १२४॥

भूमि की ऊचाई के नौ भाग से विभक्त करने पर उसके चार अशो मे निर्गम,

दो अंशों से छाद्यक और पाद क्रम से ऊँचाई विहित बतायी गयी है ॥ १२५ ॥

इसी प्रकार से भीतर की ज़मीन छाद्यक-उच्छ्राय-निर्गत हर्ग्यग्रहण-पिण्डाग्र-बाहल्य करने पर वह प्रशस्त होती है। उसका अपना ही बाहल्य पादक्रम विस्तृत कहा गया है। अन्तरावगिरा के समान मदला का विनिर्गम बनाया गया है। अपने निर्गम से उसकी पाद-सहित ऊँचाई होती है और इसकी भूमि की ऊँचाई के नवे अंश के पाद से इसका पिण्ड इष्ट होता है। तीन भाग से कम भूमि के नौ अंशों से मदला का विस्तार कहा गया है। लुमा-मूल का विस्तार स्तंभों का आधा कहा गया है। वह तीन अंश से अग्रभाग में विस्तीर्ण और आठ से मूल में विहित बतायी है ॥ १२६-१३०½ ॥

मनीषियों ने तुम्बिनी, लम्बिनी, हेला, हान्सा कोला मनोरमा तथा पाध्माता—ये सात लुमाय बताई है। उनमें से तुम्बिनी सीधी होती है और पाध्माता वर्णगा बताई गयी है। क्रमशः अन्तराल में पाँच अन्य लुमायें कही गयी हैं ॥१३०½ १३२½॥

स्तम्भ में छाद्य धरने के लिए दृढ़ शुभ मदला रखे। स्तम्भ के अभाव में फिर उसके कुड्य-पट्ट पर बुद्धिमान रखे। मल्ल-नामक छाद्य में सात अथवा पाँच या तीन लुमायें कही गयी है। इनके कोनों में इनके अलावा अन्य प्राञ्जल और सम बनानी चाहिये। छाद्य में कहीं से कहीं कहीं उनको मत्स्य-आमन-अलङ्करण से विभूषित बनाना चाहिए। ये विद्याधरों से युता और कहीं पर गजतुण्डिका-युता (सूड वाली) बनाना चाहिए ॥१३२½—१३५½॥

इस सकुम्भिक-स्तम्भ का उदय तीन प्रकार से विभाजित कर अन्त में दो भ। को आधे आधे चार भाग करे। वहाँ पर पादक्रम भाग से राजितासनक अलङ्कृत होता है और उसके बाद उत्कालक-सहित साधिभागा वेदी विनिर्मित होती है ॥१३५½—१३७½॥

यहाँ पर कूटागार के तुल्य अर्धार्ध से आमन-पट्टक बनाना चाहिए। वह अभीष्ट विस्तार वाला एक भाग से ऊँचा मत्तवारण होता है और अपने उदय के तीसरे भाग से टेढ़ा इसका निर्गम होता है ॥१३७½-१३८॥

रूपकों से घोर करग्र आदि और सुपुत्रों से भी सुशोभित इस का सुन्दर पत्रों से निचित वेदिका आदि शुभ होती है और उसको लोहे की शलाकों और नालों से दृढ़ कर देना चाहिए ॥१३९-१४०½॥

इन निरूपित पृथ्वी-जय-प्रभृति १६ राज -निवेशों के जो स्थपति लक्षण सहित परिमाण जानता है, वह राजा के सन्तोष का भाजन बनता है ॥१४१॥

राज-निवेश-उपकरण

१. सभाष्टक
२. गज-शाला
३. अश्व-शाला
४. नृपायतन

सभाष्टक—आठ सभा-भवन

आठ प्रकार की सभायें (सभा भवन) होती है—नन्दा, जया, पूर्णा, भाविना दक्षा, प्रवरा और विदुरा ॥१॥

क्षेत्र को चौकोर कर, सोलह भागो में विभाजित कर मध्य में चार पद हो और सीमालिन्द एक भाग वाला हो। उसी प्रकार आदि का आलिन्द और उसी प्रकार प्रतिसर नामक अलिन्द भी विहित हैं। और प्राग्रीव नामक तीसरा अलिन्द क्षेत्र के बाहर चारो दिशाओ में होना चाहिए ॥२—३॥

राज-भवन की चारो दिशाओ मे सभा-भवन बनाने चाहियें। क्रमशः नव नन्दा, भद्रा, जया, पूर्णा ये सभायें होती है ॥४॥

क्षेत्र को षड् भागों में विभाजित करने पर कर्ण-भित्ति का निवेशन करे, तो प्राग्रीव वाली भाविना नाम की पाचवी सभा होती है। इन पाचो सभाओ मे ३६ स्तम्भो का निवेशन करे और प्राग्रीव मे सम्बन्धित स्तम्भो को इन से अलग अलग विनिवेशित करे ॥ ५—६ ॥

दक्षा नाम वाली छठी सभा चारो तरफ से तृतीय अलिन्द से वेष्टित कही गयी है और प्रवरा नाम की सातवीं यह सभा द्वारो से युक्त परिकीर्तित की गयी है। प्राग्रीव और द्वार से युक्त आठवी विदुरा नाम की सभा कही गयी है। इस तरह इन आठो सभाओ का लक्षण बताया गया है ॥ ७—८ ॥

इस प्रकार से आठो सभाओ का ठीक तरह से दिशा-सम्बन्धित अलिन्द-भेद से लक्षण बताया गया है। उसी प्रकार से द्वार और अलिन्द के संयोग के जानने पर राजाओ का स्थान-योग भी सम्पादित होता है॥ ९ ॥

गज-शाला

अब गज-शालाओं का लक्षण कहता हूं ।।१।।

चौकोर क्षेत्र बना कर फिर आठ भागों में विभक्त कर मध्य में दो भागों में विस्तृत हाथी का स्थान बनावे । प्रासाद के समान क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम और अधम गजशालाओं के भागों का प्रकल्पन करे ।।१—२।।

उसके बाहर एक भाग में अलिन्द और उसके भी बाहर दूसरा अलिन्द, एक भाग में भित्ति का निर्माण भी दूसरे अलिन्द से बाहर करना चाहिये ।।३।।

उस गजशाला के दरवाजे पर दो कर्णों का निर्माण करना चाहिये और दूसरे अलिन्द के सहारे कर्ण-प्रासादिका का निर्माण करना चाहिए ।।४।।

दीवाल में चारों दिशाओं में दो दो गवाक्षों का निर्माण करना चाहिए । अग्रभाग में प्राग्रीव होना चाहिए । इस शाला का नाम सुभद्रा बताया गया है ।।५।।

जब इसी शाला के सामने दो पक्ष-प्राग्रीव होते हैं, तब इस शाला का नंदिनी नाम चरितार्थ होता है । यह हाथियों की वृद्धि के लिये शुभ कही गयी है ।।६।।

इसी शाला के दोनों तरफ जब दोनों प्राग्रीवों का सन्निवेश किया जाता है तो गज-शाला का यह तीसरा भेद सुभोगदा नाम से परिकीर्तित किया जाता है ।।७।।

इसी शाला के पीछे जब दूसरा प्राग्रीव निर्माण किया जाता है तो गजशाला का यह चौथा भेद हाथियों को पुष्टि देने वाली भद्रिका नाम से विख्यात होती है ।।८।।

पाचवी गज-शाला चौकोर होती है और वह वर्धिणी नाम से कीर्तित होती है । इसके अतिरिक्त छठी गजशाला प्राग्रीव, अलिन्द, निर्यूह से हीन बतायी गयी है । धान्य, धन और जीवन का अपहरण करने वाली , यह प्रमारिका नाम की शाला होती है । इस लिए इस का वर्जन किया गया है और अन्य सब गज-शालाओं का सकल मनोरथ-सम्पादन के लिए निर्माण करना चाहिए ।।९—१०।।

वास्तु-शास्त्र मे इस प्रमारिका नाम की जो शाला कही गई है वह जीवन, धन और धान्य के नाश का कारण होती है। इस लिए उसको न बनाए और जो श्रेष्ठ शालायें कही गई हैं उनको जीवन और धन की वृद्धि के लिए अवश्य बनावें ॥११॥

अश्व-शाला

अब अश्व-शाला का लक्षण विस्तार-पूर्वक कहता हूं । अपने घर की वास्तु अर्थात् राज-प्रासाद के गन्धर्व-संज्ञक पद में अथवा पुष्पदन्त-संज्ञक पद में घोड़ों के रहने के लिए स्थान बनावे ॥१–२½॥

ज्येष्ठा शाला सौ अरत्नियों (हाथों) के प्रमाण की, मध्यम ८० और अधम ६० की कही गई है ॥२½–३½॥

सुपरिष्कृत प्रदेश में मांगलिक स्थान पर घोड़ों का शुभ स्थान बनाना चाहिए। यह प्रदेश ऐसा हो जिसका स्थल-प्रदेश अर्थात् मैदान काफी बड़ा हो, वह स्थान गुप्त हो, सुन्दर और शुचि होना चाहिए, बराबर चौकोर, और स्थिर भी विहित है ॥३½—४॥

नीचे के गुल्म अर्थात् क्षुद्र झाड़ियों और सूखे वृक्षों, चैत्य और मन्दिर तथा वावी और पत्थरों से वर्जित प्रदेश में घोड़ों के स्थान का सन्निवेश करे।

निम्नग, कांटों से रहित (शल्य-हीन) पूर्वाभिमुख जल-सम्पन्न प्रदेश में ठीक तरह से देखदाख कर उसका निर्माण करे ॥५-६॥

ब्राह्मणों के द्वारा बताये गये किसी शुभ दिन स्थपतियों के साथ भूमि के विभाग को देख कर सुभग एवं शुभ वृक्षों को लाना चाहिए जिनकी लकड़ी से अश्व-शाला के संभार प्रतिष्ठाप्य होंगे। ऐसे वृक्ष नहीं लाने चाहियें जो श्मशानों में, देवतायतनों में अथवा अन्य निषिद्ध स्थानों में उत्पन्न हुए हों ॥७—८॥

गृह-स्वामी के घर के समीप प्रशस्त वृक्षों को लाकर फिर प्रशस्त और अप्रशस्त भूमि की परीक्षा करे ॥९॥

श्मशानों में, वावी प्रदेशों में, ग्रामों में और धान्य के कूटने वाले स्थलों में और विहार-स्थानों में घोड़ों का निवेशन-स्थान नहीं बनाना चाहिए ॥१०॥

गावों में और धान्यस्थलों में अश्व-शाला के निवेशन करने से स्वामी को पीड़ायें प्राप्त होती हैं। श्मशान में वाजि-वेश्म-निवेशन में मनुष्यों की मृत्यु कही गयी है ॥११॥

विहारों और वल्मीकों में बनाया गया अश्व-स्थान अनर्थकारी, तथा

तपस्वियों के लिए नित्य सताप-कारी और विनाश-कारी होता है ॥१२॥

चैत्य में उत्पन्न होने वाले वृक्षों के द्वारा निर्मित वाजि-सदन देवोपघात का जन्म करने वाला, स्त्रियों का नाश करने वाला और भूतों का भय देने वाला होता है ॥१३॥

काँटे वाले पेड़ों से विहित होने पर स्वामी के लिए रोग-कारक होता है। फटी हुई और उन्नत जमीन पर करने से वह क्षयावह होती है ॥१४॥

नीची भूमि में बनाया गया वाजि-मन्दिर क्षुधा और भय का कारण कहा गया है। इस लिए उसको प्रशस्त भूमि में घोडों की वृद्धि के लिए करना चाहिए ॥१५॥

शुभ और रमणीय, मनोज्ञ और चौकोर स्थान में बनाया गया वाजि-सदन सद्य: कल्याण-कारक होता है। स्थपति वाजियों का निवेशन इस प्रकार करें कि मालिक के निकलने पर उसके वाम पार्श्व में घोड़े हों। अन्त:पुर-प्रदेश (रनिवास) के दक्षिण भाग पर उसका निर्माण करना चाहिए जिस से राजा के अन्त:पुर में प्रवेश करने पर दाएं तरफ उनका हिनहिनाना सुनाई पड़े ॥१६–१८॥

स्वामी के हित के लिए घोड़ों की शाला उचित करनी चाहिए और उस का मुख (दरवाजा) तोरण-सहित पूर्व की ओर या उत्तर की ओर बनावे। १६॥

प्राग्रीव से युक्त चार शालाओं वाला और खुला हुआ, दस अरत्नि ऊंचा और आठ अरत्नि विस्तृत, नागदन्तों (खूंटियों) से शोभित सामने आधी कुड्य से युक्त हो, वहा पर इस प्रकार के वाजि-स्थान की कल्पना करे और वहा पर घोडों के थाने बनाने चाहिए जो पूर्व-मुख हों अथवा उत्तर-मुख हो। आयाम में एक किष्कु और विस्तार में तीन किष्कु ॥२०-२२॥

उनके ऊपर के भागों को लम्बे, ऊँचे और चौकोर बनाना चाहिए। उन में आगे से ऊँची सुख-संचार भूमि की प्रकल्पना करे। सूत्र के मध्य-भाग में एक हाथ स्थान चारों तरफ मजबूत, बराबर, चिकने और घने फलकों से बिछा दें। ॥२३—२४॥

धातकी, अर्जुन, पुन्नाग, कुकुम आदि वृक्षों से विनिर्मित आठ अंगुल ऊँचे आधे आधे हाथ विस्तृत बिना छेद वाले दोनों पार्श्वों पर लोहे से बद्ध और संघत जन्तु-रहित लकडियों से शुभ निर्यूहों से खूब विस्तीर्ण घास अथवा भूसे का स्थान होना चाहिए। वह एकान्त में सुसमाहित और तीन किष्कुओं में ऊँचा होवे ॥२५—२७॥

खाने की नाद दो हाथों के प्रमाण की बनानी चाहिए। यह विस्तार और ऊँचाई में बराबर; बिना दुर्गन्धि और सुपलिप्त होना चाहिए ॥२८॥

स्थान स्थान पर तीन खूटे बनाने चाहियें । जिन मे दो, घोड़े के पाच अगों के निग्रह (पञ्चाङ्गी-निग्रह) के लिए बनाये जाते हैं। एक पीछे बाधने के लिए सुगुप्त परिकल्पन करे । हस्ति-शाला के चारों कोनो पर चार हाथ छोड़कर इन सभी स्थानो मे घोडो का निवेशन करे ।।२७-३१३।।

छूटे हुए इन स्थानो पर वलि, होम, स्वस्ति-वाचन तथा जप कराना चाहिए ।।३१।।

ग्रीष्म ऋतु मे पृथ्वी को मूत्र सींच देना चाहिए और वर्षा ऋतु मे उस स्थल को जल और कीचड से व्याप्त नही होने देना चाहिए और शिशिर ऋतु मे वह ढका हुआ होना चाहिए जिसमे यहा पर बिना किसी संकोच और सकीर्णता के घोड़े बैठ सके । उन्हें इस तरह से बाधे कि वे एक दूसरे का स्पर्श न कर सकें। और सभी प्रकार की बाधाओ से वे अपने का वर्जित समझें ।।३२-३३।।

दक्षिण-पूर्व दिशा मे वह्नि का स्थान प्रकल्पन करे और जल का कलश इन्द्र की दिशा (पूर्व) मे समाश्रित कर के रक्खे ।।३४।।

ब्राह्मी दिशा मे घास अथवा भूसे का स्थान बनाना चाहिए और वायव्य दिशा में श्रोदूखल का स्थान बनाना चाहिए ।।३५।।

नि श्रेणी, कुश और फलक से ढके हुवे कुर्वे, कुद्दाल, उद्दाल, गुडक, सुक्तयोग और खुर, कच-ग्रहणी, सींग और फर्श, नादी और प्रदीप ये सब सभार वाजि-शाला के उपयोगी कहे गये है ।।३६-३७।।

सुख-सचार-वस्तुओ के सग्रह का स्थान नैऋत्य कोण मे होना चाहिए। अग्नि के उपद्रव की रक्षा के लिये और वध और छेद के उपयोगी पदार्थों, जल, दीपादिकों को पास ही मे बुद्धिमान् रक्खे । जल लाने के लिए घड़े अलग रखने चाहियें । हस्तवासी, शिला, दीप, दर्वी, फल और जूते (उपानह्), पिटक, चित्र-विचित्र पिटक और नाना प्रकार की वस्तिया और इसी प्रकार के अन्य वस्तुओं को प्रयत्न-पूर्वक रखें । आगे के खभे मे सन्नाह आदि का भाण्ड रक्खें ।।३८-४१।।

पूर्व-मुख पद मे उत्तर दिशा मे घोडे का स्थान दें अथवा मित्र और वरुण के पूर्वाभिमुख पद मे उसे स्थापित करें । इस व्यवस्था से बहुत से घोडे हो जाते हैं और वे पुष्टि को प्राप्त करते हैं क्यो कि वह दिशा पूजनीय एव प्रशसनीय प्रकीर्तित की गयी है ।।४२-४३।।

होम, शान्ति-कर्म और दान जो धार्मिक क्रियायें कही गयी है उनमे स्वय इन्द्र से अधिष्ठित पूर्व दिशा प्रशस्त कही गयी है ।।४४।।

उस दिशा मे सूर्य अपनी स्वाभाविक दिशा मे उदय होता है। फिर वह

घोडो के पीछे से क्रमशः पश्चिम दिशा की तरफ जाता है। कल्याणार्थियों को घोडो का पूर्व-मुख स्नान, सजावट (अधिवासन), पूजा तथा अन्य श्रेष्ठ मागलिक कार्य करने चाहियें ॥४५-४६॥

ऐसा करने पर राजा को भूमि, सेना, मित्र और यश वृद्धि को प्राप्त होने है। इसलिए प्राची दिशा ही प्रशस्त कही गयी है ॥४७॥

वाछित अर्थ को देने वाला स्वामी की वृद्धि करने वाला ग्राम का स्थान दक्षिणाभिमुख शाला मे विहित है। सूर्य के पद मे बनाया गया घोडो का स्थान होता है क्योकि वह दिशा अग्नि से अधिष्ठित कही गयी है और अग्नि घोडो की आत्मा कही गयी है। वहा पर बधा हुआ घोडा अजर और बहुभोक्ता होता है और उत्तर-मुख वाले वाजि-सदन मे भी घोडे कल्याण प्राप्त करते है। इस प्रकार से घोडो के स्थित होने पर सूर्य दहिने उदय होता है फिर उन को दहिने करके अस्त होता है। घोडो के वाम भाग से निकलता है। इसलिए उनको उत्तराभिमुख स्थापित करना चाहिये। उनको इस प्रकार से बाँधे जिस से चन्द्र और सूर्य के सम्मुख हिनहिनाये। राजा जय, सिद्धि, पुत्र और आयु को प्राप्त करता है और अश्व नीरोग रहते है और सन्तति को बढाते है ॥४८-५३॥

दक्षिणाभिमुख उनको कभी न करे, क्योकि दक्षिण दिशा पितृ-कार्य के लिए कही गयी है। अतः वह इस काम के लिए वर्जित है। इसी दिशा मे सब प्रेत प्रतिष्ठित हैं और सूर्य बाये में उदय होता है और दक्षिण मे अस्त होता है ॥ ५४-५५ ॥

चन्द्रमा पीछे हो जाता है जिससे घोड़े देव-पीडा से पीडित होते हैं और विविध ग्रहो के विकारो से अशान्ति-विह्वल वे बेचारे पीडित होते है। भय और व्याधियों से दुःखित वे घास को नही खाने की इच्छा करते हैं और मालिक की पराजय, अतुष्टि, अनर्थ उपस्थित करते है इसलिए कभी भी उनको दक्षिणाभिमुख न बाधें ॥५६-५८॥

पश्चिम दिशा मे अर्थात् पश्चिमाभिमुख घोडो को बाँधने पर सदैव सूर्य पृष्ठ-भाग मे उदय होता है और सामने से अस्त होता है। इस तरह तत्-पृष्ठ-वर्ती स्वामी की विजय नही होती और इन्द्र के पृष्ठ-वर्ती होने के कारण और सूर्य की प्रतिकूल दिशा होने के कारण देह को विनाश करने वाली व्याधिया उन घोडो के लिए शीघ्र ही कुपित होती है। उन से वे घोड़े घबराते हैं, कापते है, और जन से डरते हैं और घास को नही खाते हैं और सब प्रकार से पृथ्वी

को छोड़ते है ॥ ५९-६१ ॥

आग्नेयी-दिशाभिमुख यदि घोड़े बाधे जाते हैं तो रक्त-पित्त से उत्थित अनेक रोगो से वे पीडित होते हैं और वे स्वामी को बंधन, वध, हरण, शोक देने वाले होते हैं। घोडों के लिए भी वहां पर अग्नि से जल जाने का भय होता है ॥ ६२-६३ ॥

स्वामी को पराजय, विघ्न और देह का संशय प्राप्त होता है, यदि नैर्ऋत्य दिशा में घोडे बाधे जाते हैं और तब भोजन और पान का अभिनन्दन नही करते है और अपने पैरो से बार बार पृथ्वी को फाडते हैं। मनुष्यो, पक्षियो और पशुओ को देख कर बार बार हेषन करते हैं और नैर्ऋती दिशा के दोनो तरफ स्थित होकर अपने शरीरो को घुमाते हैं तथा इन से राक्षस लोग कुपित होकर इनका नाश करते हैं ॥ ६४-६७½ ॥

यदि ये अज्ञान-वश वायव्याभिमुख बाधे जाते हैं तब वात रोगो से वे प्रतिदिन पीडित होते है। स्वामी का कलेवर चलायमान होने लगता है और उसके नौकरो के लिए क्लेश होता है। मनुष्यो की मृत्यु होती है और दुर्भिक्ष का भय पैदा होता है ॥ ६७½-६९½ ॥

ऐशान्याभिमुख बधे घोडे नाश प्राप्त करते है। सूर्योदय के अभिमुख बद्ध वाजियो के लिए यह आदेश करना चाहिए कि ब्राह्मी-दिशाभिमुख जब घोडे बाधे जाते है तो वे घोडे दिव्य-ग्रहो से बचते हैं और व्याधियो से चिन्तनीय हो जाते है। वहा पर स्वामी के लिए कव्य और हव्य की क्रियायें विजयावह नहीं कही गयी हैं। वहा पर घोडे ब्राह्मणो के लिए ताप-कारक हो जाते है। ॥६९½-७२½॥

शाला के प्रत्येक वश के पीछे घोडे का स्थान इष्ट नही होता है क्योंकि स्वामी के लिए वह अजीर्ण-कारक और घोडे के लिए नाश-कारक कहा गया है। इसलिए सर्वथा प्रशस्त स्थान मे उनको बसाना चाहिए ॥७२½-७३½ ॥

स्वस्थ घोडो के पास एक क्षण के लिए भी रोगी घोडो को नहीं बाधना चाहिए क्योंकि रोगो के सक्रमण से स्वस्थ घोड़े भी रोगी हो जाते हैं ॥७३½—७४ ॥

वाजि-शाला के पूर्व मे भेषज-मन्दिर निर्माण कराना चाहिए और उसी के बायें तरफ सब सामग्री के रखने के लिये स्टोर बनाना चाहिये। घोडो की दवाई के लिए भाण्डो का विनिक्षेप करे और साथ ही साथ अगदो, औषधियो, तैलो, वर्तियो और लवणो का भी सग्रह अनिवार्य है ॥ ७५-७६ ॥

भेषजागार के पास अरिष्ट-मन्दिर बनवाना चाहिए। रोगी घोड़ों के लिए व्याधित-भवन भी बनाने चाहिये ॥ ७७ ॥

ये चारों वेश्म पूर्व-निर्दिष्ट वेश्म के समान सुगुप्त एवं सम्बद्ध विहित करें। चूने के बंध से मजबूत दीवालों से प्राग्रीव और उच्च तोरण के सहित ये चारों विशाल (बिना शाला) और सुगम बनवावें और इस प्रकार के वेश्मों में घोड़ों को स्थापित कर उनका परिपालन करे ॥ ७८--८०½ ॥

आयतन-निवेश

यहाँ पर आयतन का अर्थ सम्भवतः छोटा मन्दिर या छोटा राज-प्रासाद है। इस प्रकार से राज-प्रासाद के कर लेने पर अथवा भूमि के क्लृप्त होने पर अनुजीवी यदि देव-प्रासादों पर अपने प्रासादों का नृप-प्रासाद की परिधि में निर्माण करना है तब उन के दिग्भाग, विन्यास, स्थान एवं मान का क्रमशः सब लोगों की वृद्धि के लिए वर्णन किया जाता है ॥१–२॥

राजाओं के आयतन के श्रेष्ठ, मध्यम और अधम तीन भेद होते हैं। इन तीनों आयतनों का क्रमशः मान दश-शत चाप, अष्ट-शत चाप तथा षट्-शत चाप होता है ॥३॥

इस प्रकार राजा के आयतन के चारों ओर चौकोर क्षेत्र बना कर वहाँ पर स्वामि-वत्सल वीर अपने तीन प्रकार के आयतन बना सकते हैं। राजा के जो लोग सम्मत हैं और वृद्ध हितैषी लोग हैं अथवा जो कुल में पैदा हुए हैं तो अनुजीवियों के आयतनों का क्रमशः १२ अंश से हीन प्रमाण से निर्माण करना चाहिए ॥४–५॥

उसी के वाम भाग पर दुगुने उत्सेध एवं दुगुने अन्तर से दश अंश से हीन प्रमाण से नैर्ऋत्य दिशा में राजा के प्रासादों को तथा राजा की सब पत्नियों के प्रासादों का विज्ञ एवं विद्वान निवेश करें ॥६–७½॥

पश्चिम दिशा में आठ भाग से हीन श्वसुरों के आयतन बनवाने चाहियें, पुनः सौम्य दिशा में वायव्य-कोण की ओर क्रमशः ९ अंश से हीन मन्त्री, सेनाध्यक्ष, प्रतीहार और पुरोहित—इन सब के प्रासाद क्रमशः बनाने चाहिएं। इन्हीं के पूर्व-भाग में स्थित राज-माता का निवेश करना चाहिए और वह ग्यारह अंश से हीन बनवाना चाहिए ॥७½–१०½॥

ईशान दिशा का अवलम्बन कर के एन्द्र-पद की अवधि तक देवों के समान बहिनों, सभा लोगों और कुमारों के क्रमशः आयतन बनाने चाहिए। आग्नेय कोण में द्विज-मुख्यों के निवेशन बनाना चाहियें। पुरोहित का प्रासाद राज-मन्दिर से

दक्षिण दिशा में आठ अश-हीन बनाना चाहिए ॥१०½–१२॥

सामन्तों, हस्तिपकों, भटों और परिजनों के क्रमश: आयतनों का यथाभाग निर्माण करना चाहिए। मर्मवेध-प्रदेश-स्थित अथवा द्वार-वेध-स्थित और स्वस्थ नान्तरित आयतनों का निर्माण हित-कामना रखने वाले व्यक्ति को नहीं बनवाना चाहिए ॥१३-१४॥

अनिन्दों के द्वारा, गर्भ-कोष्ठों के द्वारा, सीमा के स्तम्भ और गवाक्षों के द्वारा, द्वार-द्रव्य के तल की ऊंचाईयां, प्राग्रीवों, सिंहकर्णों एवं भूषणों के द्वारा उन को नहीं करना चाहिए; क्योंकि जो सम-हर्म्य होगा वही सुखदायक। इस के आधिक्य में राज-पीड़ा और कुल-क्षय होता है ॥१५–१७½॥

जो नियुक्त होगा वह आनन्द नहीं दे सकता। राजा के प्रासाद की परिधि में स्थित किसी भी निवेश को किसी भी द्रव्य से उत्कृष्ट नहीं करना चाहिए। अथवा उसका संस्थान, मान, विस्तार और ऊंचाई से भी उत्कृष्ट नहीं करना चाहिए ॥१७½-१८॥

पूर्वोक्त भागों से कुछ कम शुभ कहलाता है। पारस्परिक अन्तर दुगुने छाद्य से शुभ कहा गया है और बहुत से भवनान्तरों से उसको सुभोग्य बनाना चाहिए। कोष्ठिकाओं (कोठरियां), भोजनागार (रसोई) तथा भाण्डागार (वर्तन रखने के स्थान), उपस्करागार (वस्तुओं को रखने के स्थान) से यह सुभोग्य होता है। ॥१९-२०॥

अन्य अवशेष स्थानों की भी यही क्रिया है। शालाओं से पूर्ण कर देना चाहिए। शुभ-रूप, मनोरम तथा प्रशस्त सब प्रासादों को बनाना चाहिए ॥२१॥

प्राय: राजा के आयतन के निवेश से अपने अन्य आलयों का और सब के अन्य गृहों का निर्माण करना चाहिए; अन्यथा विपरीताचरण से और उलट-फेर से कुल-नाश और महादोष उपस्थित होते हैं ॥२२–२३½॥

इस प्रकार से प्रतिपादित दिशाओं आदि के भेद-योग से जिस राजा के सुर-भवन होते हैं वह अविरत-मुदित-उदित-प्रताप वाला अपने प्रताप से जीती हुई इस पृथ्वी को बहुत काल तक शासित करता है ॥२३½—२४॥

तृतीय पटल

शयनासन

शयनासन-लक्षण

अब शयनासन लक्षण कहूंगा जिस से शुभ और अशुभ का परिज्ञान हो जावे ॥१॥

शय्या : मैत्र मुहूर्त में चन्द्रमा के पुष्य नक्षत्र में स्थित होने पर शुभ दिन देवताओं का सम्यक् पूजन करके कर्म का आरम्भ समाचरित करे ॥२॥

शयनासन-निर्माण में चन्दन, तिनिश, अर्जुन, तिन्दुक, साल और सार, सिरीष, आसन, धनु, हरिद्रु, देवदारु, स्यन्दन, श्रीर, पद्मक, श्रीपर्णी, रुधिपर्णी, सिशपा और भी जो शुभ वृक्ष है, वे प्रशस्त कहे गए हैं ॥३-४॥

गृह-कर्म में जो अनिष्ट वृक्ष कहे गये है, वे शयनासन में भी निन्दित हैं। सोने से, चादी से या हाथी-दात से जड़ी हुई, पीतल से बद्ध शय्याए शुभ कही गई है। विचक्षणों के द्वारा इनका निर्माण कराया जाना चाहिए ॥५-६½॥

जब शयनासन के लिए लकड़ी काटने के लिये प्रस्थान करे तो पहिले निमित्तों को देखें। दधि, अक्षत से भरा हुआ घड़ा, रत्न अथवा पुष्प, सुगन्धित द्रव्य, वस्त्रादि, मछली, घोड़ों का जोड़ा, मत्त हाथी और अन्य इसी प्रकार के शुभों को देख कर शुभ का आदेश करना चाहिए ॥६½—८॥

विबुध आठ यवों से कर्म का अंगुल समुद्दिष्ट किया गया है। इस तरह १०८ अंगुलों की ज्येष्ठ शय्या राजाओं के लिए कही गयी है ॥९॥

१०४ अंगुलों की राजाओं की मध्यम शय्या कहलाती है और कनिष्ठ शय्या १०० अंगुलों की राजाओं के लिए विजयावह बताई गई है ॥१०॥

राजा के लड़के की ९० अंगुल की, मन्त्री की ८४ की, सेनापति की ७८ की और पुरोहित की ७२ की शय्या विहित है ॥११॥

शय्याओं में आयाम के आधे से सब विस्तार कहा गया है अथवा आठ भाग से अथवा छैं भाग से अधिक ॥१२॥

ब्राह्मणों की शय्या ७० अंगुल दीर्घ होनी चाहिए और दो दो अंगुलों से शेष हीन वर्णों की ॥१३॥

उत्तम शयनासन के उत्पल का बाहुल्य तीन अंगुल होना चाहिए, तथा मध्य का ढाई और कनिष्ठ का दो ॥१४॥

ईशा-दण्ड का बाहुल्य उत्पल के बराबर होना चाहिये और उस का विस्तार उत्पल से आधा, चौथाई अथवा एक तिहाई होता है ॥१५॥

शय्या के आधे विस्तार से कुष्य का विस्तार होता है और उस के पायों की ऊंचाई मध्य से हीन दो चार छोड कर विहित है (मध्यहीनौ द्विचतुर्भिनौ) ॥१६॥

मध्य-विस्तार के आधे से मध्य मे बाहुल्य इष्ट है। कोई लोग तीन भाग से हीन, अथवा एक पाद से हीन उसे चाहते हैं ॥१७॥

नीचे के शीर्ष से पावे की मोटाई उत्पल के समान होती है। मध्य मे एक चौथाई अथवा आधी क्रमशः तल में वृद्धि होती है ॥१८॥

अन्य विवरण भी शास्त्रानुकूल विहित है ॥१९॥

उत्सेध के समान दो अगुल से अधिक विस्तार करना चाहिए और उसे पत्तों, कलियों, पत्रपुटों और ग्रास से भूषित करना चाहिए ॥२०॥

चारों ओर शय्या के अंग प्रदक्षिणाग्र करने चाहिए। ऊर्ध्वाग्र सब पाद स्वामी की वृद्धि के लिये होते हैं ॥२१॥

एक ही द्रव्य से उत्पन्न होने वाली अर्थात् निर्मित शय्या श्रेष्ठ कहलाती है और मिश्र द्रव्य वाली प्रशस्त नहीं कही गई है। एक लकड़ी वाली प्रशंसित होती है और दो लकड़ी वाली भयजनक होती है ॥२२॥

तीन लकड़ी से बनी होने पर नियत ही वध है। इस लिये ऐसी शय्या का वर्जन करना चाहिए ॥२३॥

अग्र भाग से युक्त मूल और बाएं हाथ मे युक्त निन्दित कहा गया है। अथवा मूल मूलविद्ध एव एकाग्र मे दो लकड़िया होती है यह भी वर्ज्य है॥२४॥

मध्य मे अगर छेद हो तो मृत्यु-कारक, त्रिभाग मे व्याधिकारक और चतुर्भाग में क्लेश और सिर में स्थित द्रव्य-हानि-कारक होता है ॥२५॥

निर्दोष अंग वाले पर्यङ्क में पाप-स्वप्न नही दिखाई पड़ता है। इस लिये गाठ और कोटर वाला शयनासन नही बनाना चाहिए ॥२६॥

आसन और शयनीय गाठों एव कोटरों से वर्जित होने पर बहुपुत्र देने वाला और धर्म, काम और अर्थ का साधने वाला कहा गया है ॥२७॥

खाट पर आरोहण करने पर यदि वह चलायमान होती है अथवा कापती है तो क्रमशः विदेश-गमन अथवा कलह प्राप्त होते हैं ॥२८॥

इस लिये उसको स्थपति सुश्लिष्ट, निर्दोष, वर्णशालिनी, दृढ, स्थिर

बनाये। ऐसा करने पर स्वामी की मनोरथ-वृद्धि होती है ॥२६॥

निष्कुट, कोलदृक, क्रोडनयन, वत्सनाभक, कालक और बंधक ये संक्षेप में छिद्र कहे गये हैं ॥३०॥

मध्य मे घट के समान सुषिर तथा सकरा मुख वाला निष्कुट नाम से कहा जाता है। कोलाक्ष उड़द के निकलने लायक छिद्र होता है ॥३१॥

आधे आधे पोर से दीर्घ, विवर्ण और विषम छिद्र को महर्षियों ने क्रोडनयन कहा है ॥३२॥

पर्वमित भिन्न वामावर्त वत्सनाभक कहलाता है। कृष्ण-कान्ति वाला कालक तथा विनिर्भिन्न बंधक कहा गया है ॥३३॥

लकडी के वर्ण वाला छिद्र शुभकर नही होता है। निष्कुट मे अर्थ का नाश, कोलदृक मे कुल-विद्रोह, क्रोड-नयन मे शस्त्र से भय, वत्सनाभक मे रोग से भय और कालक मे, बंधक मे—इन दोनो के कीट-विद्ध होने पर शुभ नही होता ॥३४–३५॥

वह सब लकडी जिस मे सब जगह बहुत अधिक गाठे होती है वह अनिष्ट-दायक कही गई हैं ॥३६½॥

आसन—शय्या के लिये कही गई लकडियो से निर्मित आसन बैठने मे सुख-दायक प्रकल्पित किया गया है। उसका पुष्कर और सुदृढ़स्त चार चार अंगुल से गोल होना चाहिये। विस्तार से प्रारम्भ करे जब तक नौ अंगुल न हो जाएं। पुष्कर के व्यास से उसका चौगुना दण्ड बनाना चाहिए ॥३६½-३८॥

पुष्कर के आधे से फलक और उसके समान भूलक-दण्ड और पुष्कर के विस्तार से चार अंश मोटा बनाना चाहिए ॥३९॥

पुष्कर का अंतर्भाग खुदा हुआ गम्भीर इष्ट है। प्रशस्त सार नामक लकडी से इस का निर्माण करे ॥ ४० ॥

अब अन्य फर्नीचरों का वर्णन करता हू।

कंघे—कंघा बड़ा ही चिकना बनाना चाहिए और उसे चिकने तना वाली लकड़ी से बनाना चाहिए। इसकी लम्बाई ८ अंगुल से १२ अंगुल होनी चाहिए। इस का विस्तार लम्बाई से आधा अंगुल सहित ४ भाग होता है ॥४१-४२॥

उसके मध्य मे विस्तार के आठवे अंश से बाहुल्य कहा गया है और उस के एक मे स्थूल-विस्तार वाले दन्तक कहे गये है। दूसरे से आगे की तरफ घन, सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण दन्तको का निर्माण करना चाहिये। मध्य मे तीन भाग को छोड कर दोनो भागो मे दन्तको का निर्माण करना

चाहिये उनके तीन भाग के हर लेने पर यदि कुछ शेष न रहे तो उनसो छोड देना चाहिये । हाथी के दात अथवा आखोट (शाखू) वृक्ष में निर्मित श्रेष्ट कहलाते हैं । मध्यम अन्य शेष लकडियों में और जघन्य अर्थात् निकृष्ट असार- दारु में निर्मित होता है । स्वस्तिक आदि स्थलों में मध्य भाग को अलंकृत करना चाहिए ॥४३-४६॥

यूका आदि के अपनयन के लिये तथा केश प्रसाधन के लिये यह कंघा काम में लाया जाता है ॥४७॥

पादुकाः—दो पादुकाओं की लम्बाई पाद से एक अंगुल से अधिक बनानी चाहिये । लम्बाई के पांच भाग करने पर सामने तीन भाग से पीछे दो भाग से इस प्रकार से इसका संग्रह-विधान है ॥४८॥

तीन अंगुलो की ऊंचाई और चरणों के अनुसार उस का विस्तार, अंगुल और अंगुष्ट के दोनों मध्य भाग मत्स्य आदि से अलंकृत करना चाहिए ॥४६॥

दन्त, सींग आदि से उनकी दोनों खूंटियों का निर्माण होना चाहिए ॥५०३॥

गजेन्द्र दन्त, श्रीखंड, श्रीपर्णी, मेष शृंगिका, शाल, क्षीरिणी, खिर अथवा वेल की लकड़िया खड़ाऊं के लिये प्रशस्त कही गई हैं ॥५०३-५१३॥

इस प्रकार से यहा पर शय्याओ का और आसनो के लक्षण बता दिये और उसके बाद दर्वी और कंकत और पादुकाओं का ठीक तरह से लक्षण बता दिया गया और शुभ और अशुभ संपूर्ण लक्षणो को जान कर विद्वान पूजा को प्राप्त होता है ॥५२॥

चतुर्थ पटल

यन्त्र-घटना

१. यन्त्र-बीज

२. यन्त्र-गुण

३. यन्त्र-प्रकार :

(अ) आमोद

(ब) सेवक

(स) योध एवं द्वारपाल

(य) संग्राम

(र) विमान

(ल) धारा एवं

(व) दोला

यन्त्र-विधान

अलक्ष्य, मध्य घूमते हुये सूर्य एवं चन्द्र मण्डल के चक्र से प्रशस्त इस जगत्रय-रूपी यन्त्र को सम्पूर्ण भूतो (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) तथा बीजो (उपादान कारणो) को सम्प्रकल्पित कर जो सतत घुमाते हैं, वे कामदेव को जीतने वाले (भगवान् शंकर) तुम लोगो की रक्षा करें ॥१॥

क्रम से प्राप्त अब यन्त्राध्याय का वर्णन करता हूं। यह यन्त्र-विधान धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का एक ही कारण है ॥२॥

अपनी इच्छा से, अपने मार्ग से प्रवृत्त महाभूतों (पृथ्वी आदि) का नियमन कर जिस मे नयन होता है, उस को यंत्र कहा गया है। अथवा अपनी बुद्धि से, अपनी स्वेच्छा से प्रवृत्त महाभूतों का जिस से निर्माण-कार्य यमित होता है, उसको यन्त्र कहते है ॥३-४॥

उस यन्त्र के चार प्रकार के बीज कहे गये है—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। इन चारो का आश्रय होने की वजह से आकाश भी पाचवा बीज उपयुक्त होता है ॥५॥

सूत अर्थात् पारे को जो लोग एक अलग बीज मानते है, वे ठीक नही जानते। सूत प्रकृति से वास्तव मे पार्थिव बीज ही है। जल, तेज और वायु की उस मे क्रिया होती है। चूंकि यह पार्थिव है अतः यह पारा अलग बीज नही है। अथच इसके द्रव्यत्व होने के कारण जो अग्नि का उत्पादक होना परिकल्पित किया गया है, तब इस का अग्नि से विरोध नही उत्पन्न होता और पृथ्वी गंधवती होने के कारण और अग्नि से विरोध होने के कारण बलात् इसमें पृथिवीत्व स्थापित हो ही जाता है ॥६-८॥

अथवा पावों महाभूत एक दूसरे के स्वयं बीज होते है तथा और भी बीज होते हैं और इस प्रकार सांकर्य (मिश्रण) से इनके बहुत से भेद होते हैं ॥९॥

यन्त्र नाना प्रकार के होते हैं जैसे स्वयं-वाहक (Automatic), सकृत्प्रेय (Propelling only once), अन्तरित-वाह्य तथा अदूर-वाह्य। पहला भेद स्वयं-वाहक उत्तम कहा गया है और अन्य तीन निकृष्ट। उनमें दूरस्थ, अलक्ष्य, निकट-स्थित की प्रशंसा की गई है। जो अलक्ष्य उत्पन्न होता है और जो बहुतों का साधक कहा गया है, वह मनुष्यो के लिये विस्मय करने वाला दूसरा कहा गया है।

विस्मय-कारी इस वाह्य-यन्त्र मे एक अपनी गति होती और दूसरी वाहक में आश्रित होती है। अरघट्ट-घटी मे आश्रित वीड़े मे से दोनो दिखाई पड़ती हैं। इस प्रकार दो गतियो से वैचित्र्य का कल्पन स्वयं करे और न दिखाई पड़ने वाली जो विचित्रता होती है, वह यन्त्रो मे अधिक प्रशस्त मानी गई है ॥१०—१५३॥

और दूसरा भेद जो कहा गया है वह भीतर से चलाया जाता है। उसे मध्यम कहते है। दो तीन के योग मे अथवा चारो के योग से अंशादि-भाव से भूतो की यह संख्या बहुत बढ जाती है। जो मनुष्य इन सब बातों को ठीक जानता है, वह स्त्रियो का, राजाओ का, विद्वानों का प्रिय होता है। और लाभ, ख्याति, पूजा, यश, मान क्या क्या नही प्राप्त करता है जो मनुष्य इस को तत्वत. जानता है ॥१५३—१८३॥

यह विलासो का एक ही घर, आश्चर्य का परम पद, रति (काम-क्रीड़ा) का आवास-भवन, (निकेतन, घर) तथा आश्चर्य का एक ही स्थान कहा गया है ॥१८३—१६३॥

देवता आदिको की रूप एवं चेष्टा दिखाने से वे लोग (देवता लोग) सन्तुष्ट होते है और उनकी सन्तुष्टि को ही पूर्वाचार्यों द्वारा धर्म कहा गया है। राजाओ आदि के सन्तोष से धन प्राप्त होता है (इस प्रकार धर्म के बाद अर्थ-सिद्धि हुई)। अर्थ में ही काम (इच्छा, मनोरथ आदि) प्रतिष्ठित कहे गये हैं। इसका निर्माण धन-साध्य है और मोक्ष भी इस से दुर्लभ नही ॥१६३—२१३॥

पार्थिव बीज :—यह बीज पार्थिव बीजो से, जल से उत्पन्न होने वाले पदार्थों से, वही तेज से उत्पन्न होने वालो से और वही वायु से उत्पन्न होने वालों से विहित है। आप्य अर्थात् जल सम्बन्धी बीज आप्य बीजो से उसी प्रकार अग्नि सम्बन्धी एवं वायु सम्बन्धी बीजो से विहित है। वह्नि-बीज वायु से उत्पन्न होने वाले और पार्थिव एव वारुण बीजो से भी तथैव विहित है। मारुत बीज वायु, जल, पृथ्वी एवं अग्नि सम्बन्धी बीजो से वैसे ही विहित है। वह्नि से उत्पन्न होने वालो द्वारा भी बीज होता है। वह पारा होता है। वह अनिल मे भी होता है। पार्थिवो का भी और आप्यों का भी जल जलीय बीज होता है। इस प्रकार सब भूतो के सम्पूर्ण बीजो का कीर्तन हुआ ॥२१३—२५३॥

कूड्यंकरण सूत्र, भार-गोलक-पीडन, लम्बन, लम्बकार और विविध चक्र, लोहा, तावा, तार (पीतल,, रागा, सम्वित, प्रमर्दन, काष्ठ, चर्म, वस्त्र—ये सब अपने बीजो मे प्रयुक्त होते है ॥२५३—२७३॥

ऊर्दक, कर्तर, यष्टि, चक्र और भ्रमरक, शृंगावर्त्त और बाण, ये भी बीज और कहे गये हैं ॥२७३—२८३॥

जल के सम्पर्क से उत्पन्न ताप, उत्तेजन, स्तोभ, और क्षोभ इत्यादि पार्थिव बीज के अग्नि-बीज कहे गये है ॥२८½—२९½॥

धारा, जलभार, जल की भंवर इत्यादि पृथ्वी से उत्पन्न जलज बीज कहे गये हैं ॥२९½—३०½॥

जैसी ऊंचाई, जैसी अधिकता और जैसी नीरन्ध्रता (सटा हुआ) और अत्यन्त ऊर्ध्व-गामित्व (ऊंचे जाना) ये लोहे के अपने बीज है ॥३०½—३१½॥

स्वाभाविक वायु, गाढ-ग्राहको के द्वारा प्रेरित होकर पत्थरो से, पक्षियों से, गज-कर्णादिको से भी निर्मित, कम्पित और गलाया हुआ ये वायु पार्थिव भूत मे बीज होता है। काष्ठ (लकडी), चमडा और लोहा जल से उत्पन्न होने वाले बीज मे पार्थिव होता है ॥३१½—३३½॥

दूसरा जल वह भी तिरछा, ऊंचा और नीचा जल-निर्मित यन्त्रो में अपना बीज होता है। ताप आदि पहले कहे हुए वह्नि से उत्पन्न, जल मे से उत्पन्न होते हैं ॥३३½—३४॥

संग्रहीत, दिया हुआ और भरा हुआ और प्रतिनोदित अर्थात् प्रेरित वायु जल-यन्त्रों में बीज बनता है ॥३५ ॥

वह्नि से उत्पन्न होने वालो मे मिट्टी, तांबा, सोना, लोहा आदि तदनुकूल बीज-विचक्षण विद्वान इस वास्तु-शास्त्र में उसे पार्थिव बीज कहते हैं ॥३६॥

वह्नि से वह्नि-बीज, जल से जल और पहिले कहे हुये पत्थर आदि से वायु बीजता को प्राप्त होता है ॥३७॥

प्रत्येयक अर्थात् पदार्थ-सम्बन्धी (Material), जनक, प्रेरक और ग्राहक तथा संग्राहक रूप मे वायु से उत्पन्न होने वालो के द्वारा पार्थिव बीज कहलाता है ॥३८॥

प्रेरण और अभिघात, विवर्त तथा भ्रमण रूप मे वायु से पैदा होने वालो में जलज बीज सम्मत होता है ॥३९॥

ताप आदि से जो पवन से उत्पन्न होने वालो के द्वारा जो होते हैं वे पावक-सम्बन्धी बीज में संगृहीत किए गये है ॥४०॥

प्रेरित, संग्रहीत और जनित रूप में वायु अपना बीज होता है। इसी प्रकार से और भी कल्पना कर ले ॥४१॥

एक भूत अत्यधिक, दूसरा हीन, तीसरा और भी अधिक हीन। इसके अतिरिक्त दूसरा और भी हीन। इस प्रकार विकल्प से इन बीजों के नाना भेद होते हैं। उनको पूर्ण-रूप से कौन कह सकेगा ॥ ४२-४३½ ॥

पृथ्वी तो निष्क्रिया है और उस में जो क्रिया है वह अन्त में बचे हुए तीनों भूतों—वायु, जल, अग्नि में होती है। इस लिए वह क्रिया पृथ्वी में ही प्रयत्न-पूर्वक उत्पन्न करने योग्य है और ऐसा करने पर साध्य अर्थात् उपादान कारण पृथ्वी का स्वयवशातः सन्निवेश होता है ॥४३½—४४॥

यन्त्र-गुण :—यन्त्रों की आकृति जिस प्रकार न पहचानी जा सके, उस प्रकार ठीक तरह से बीज-प्रयोग करना चाहिए।उनकी बहुत सुन्दर जड़ावट और सफाई होनी चाहिए । इस प्रकार यन्त्रों के निम्नलिखित गुण कहे गये हैं—सौश्लिष्ट्य, श्लक्ष्णता, निर्वहण, लघुत्व, शब्द-हीनता और जहां पर शब्द ही साध्य अर्थात् उपादान कारण हो, वहां पर आधिक्य, अशैथिल्य और अगाढ़ता कहे गये हैं। अन्यथा सभी वाहक-यन्त्रों में सौश्लिष्ट्य, अस्खलितत्व, अभीष्टार्थ-कारित्व, लयतालानुगामित्व, इष्ट-काल में अर्थ-दर्शित्व और फिर ठीक तरह से गोपन, अप्रकाशन, अनुल्बणत्व, ताद्रूप्य मसृणत्व (चिकनाहट), चिरकाल-सहत्व—ये सब यन्त्र-गुण हैं ॥४५-४६½॥

पहला भेद बहुतों को चलाने वाला और दूसरा भेद बहुतों से चलाये जाने वाला कहा गया है ॥४६॥

यन्त्रों का न दिखाई पड़ना और ठीक तरह से उनकी जड़ाई होना परम गुण कहा गया है ॥५०½॥

अब इस के बाद यन्त्रों के विचित्र-विचित्र कार्यों का यथाविधि न विस्तार से न संक्षेप से वर्णन करता हूं ॥५०½-५१½॥

किसी की क्रिया साध्य होती है और किसी का काल, और किसी का शब्द, और किसी की ऊंचाई अथवा रूप और स्पर्श । इस प्रकार कार्यवशात् क्रियायें तो अनन्त परिकीर्तित की गई हैं। ५१½-५२॥

क्रिया से उत्पन्न होने वाले भेद हैं—तिरछे, ऊपर, नीचे, पीछे आगे अथवा दोनों बगलों में भी गमन, सरण और पात भेद से अनेक भेद हैं।५३।

जहां तक यन्त्र से काल-ज्ञान की बात है वह काल, समय बताने वाले घटा-ताडनों के भेदों से अनेक भेद वाला होता है। यन्त्रों से उत्पादित शब्द विचित्र, सुखद, रतिकृत भी और भीषण भी होते हैं। उच्छ्राय गुण तो जल का होता है। कहीं पर पार्थिव में भी कहा जाता है ॥ ५४-५५½॥

गीत, नृत्य और वाद्य (गाना, नाचना और बजाना , पटह, वंश, वीणा, कास्यताल (मंजीरा), तृमला, करटा और भी जो बाजे विभावित होते हैं वे सभी यन्त्रों से उत्पन्न होते हैं।५५½-५७½॥

नृत्य में नाटकीय नृत्य होता है, उसके तांडव, लास्य, राज-मार्ग और देशी ये सब भेद यन्त्र से सिद्ध होते है ॥५७½-५८½॥

उसी प्रकार स्वाभाविक चेष्टाये या विरुद्ध चेष्टाये वे भी यन्त्र की सम्यक साधना से निष्पन्न होती हैं ।५८½-५९½॥

पृथ्वी पर रहने वालो की आकाश मे गति, आकाश मे चलने वालो की भूमि में गति, मनुष्यो की विविध प्रकार की चेष्टायें तथा विविध मनोरथ ये सब यंत्र के निर्माण से उत्पन्न होते हैं ॥५९½-६०॥

जिस प्रकार से असुर लोग हारे और जिस प्रकार से देवो के द्वारा समुद्र-मन्थन हुआ और उनका, नृसिह भगवान्-द्वारा हिरण्यकशिपु नामक दैत्य मारा गया, हाथियो का युद्ध और छोडना तथा पकडना और जो नाना प्रकार की चेष्टाय है और विविध प्रकार के धारा-गृह और विचित्र झूलो की केलिया और विचित्र रति-गृह और विचित्र सेना तथा कुटिया एव सेवक (Automatic) तथा विविध प्रकार की सच्ची और झूठी सभायें और इस प्रकार जितनी बाते है वे सब यन्त्र के कल्पन से सिद्ध होती है ।६१-६४॥

शय्या-प्रसर्पण-यन्त्र :— पाच भूमिकाओ अर्थात खण्डो का निर्माण कर पहिले खड मे स्थित शय्या प्रति पहर दूसरे खडो मे प्रसर्पण करती हुई पाचवे खड मे पहुँच जाती है । इस प्रकार के चित्र-विचित्र आश्चर्य, यन्त्र से ठीक सिद्ध होते है ॥६५-६६½॥

नाड़ी-प्रबोधन-यन्त्रः-–शय्यापरिसर्पण-यन्त्र कीर्तित हो चुका है, अब पुत्रि-का-नाड़ी-प्रबोधन-यन्त्र का वर्णन करते है । क्रमशः तीन सौ आवर्त से स्थाली मे यह दन्तो को घुमाती है । उस के मध्य में बनायी हुई पुतली प्रति नाड़ी म जगावे और यन्त्र के द्वारा वह्नि का जल मे दर्शन, वह्नि के बीच से जल का निकलना, अवस्तु से वस्तुत्व, वस्तु से अन्य प्रकार की चीजें दिखाना एक सास मे आकाश जाती है, एक सास में पृथ्वी आती है ॥६६½-६८॥

गोलक-भ्रमण-यन्त्र.—अब गोल-भ्रमण-यन्त्र का वर्णन है, जो सूर्यादि-ग्रहो की गति प्रदर्शन कराती है। क्षीर-सागर के मध्य मे एक सुन्दर शेष-नाग के फरा पर शय्या बनायी जाती है और सूची-विहित गोला सूर्य-ग्रहो की प्रदक्षिणा करता हुआ दिन रात घूमता हुआ ग्रहो के दर्शन कराता है । लकडी के गज आदि रूप अथवा रथिक रूप मे दिखलाया गया मनुष्य नाडी के द्वारा घूम कर वाज की गति से चार कोश तक जाता है ॥ ६९-७१½ ॥

यतनी के द्वारा दीपक मे तेल डालने वाला यन्त्र है। बनी हुई दीपिका-पुत्तलिया ताल की गति मे नाचती हुई धीरे २ दीप मे तेल डालती है। यत्र के द्वारा बनाया गया हाथी वह जाता हुआ नही दिखाई पडता। जब तक पानी दो तब तक वह निरन्तर पानी पीता रहता है। यन्त्र-शुक आदि बनाये गये जो पक्षी बार बार नाचते हैं, पढते है और मनुष्य का आश्चर्य करते है वे सब प्रमोद वितरण करते हैं। यन्त्र के द्वारा बनी पुतली अथवा गजेन्द्र अथवा घोडा अथवा वानर भी ताल से उलटते पलटते नाचते मनुष्य के मन को सुन्दर लगते हैं ॥७१½-७५½॥

जिस मार्ग से खेत धून होना है उस मे वह पानी जाता है और आता है फिर उसी के समान गड्ढे से पुष्करिणियो मे पानी आता जाता है ॥७५½-७६½॥

फलक पर वीन बठती है, दौडती, है ताली बजाती है, और लड़ती है, नाचती है, गाती है, वाम आदि को बजाती है। वायु के बद हो जाने पर फिर छोड़ देने पर यन्त्र की भगियो की जो दिव्य और मानुष्य चेष्टाय होती हैं वे ही केवल नहीं और भी जो कुछ भी दुष्कर होता है यन्त्र के द्वारा सिद्ध होता है ॥ ७६½-७६½॥

यन्त्रो का निर्माण अज्ञानता-वश नहीं बल्कि छिपाने के लिए, नही कहा गया है। उसका कारण यह जानना चाहिये कि यंत्र व्यक्त हो जाने पर फल-प्रद नही होते। इसी लिये यहाँ पर उनका बीज बता दिया गया बल्कि उनकी घटना निर्माण नही बताई गयी। क्योंकि व्यक्त हो जाने पर न तो स्वार्थ-सिद्ध हो सकता है न कौतुक ही हो सकता है और वास्तव मे तो यंत्रो के बीज अर्थात साधन कीर्तन करने मे घटना आदि सभी कुछ कह दी गई है ॥७६½-८१॥

बुद्धिमान् लोगो को, अपनी बुद्धि से जैसा जो यन्त्रो का कर्म होता है, उस को समझ लेना चाहिए और जो यन्त्र देखे गये हैं और जो वर्णित किये गये हैं उन को भी समझ लेना अथवा अनुमान कर लेना चाहिए ॥८२॥

जो यत्र सुन्दर एव सुखद हैं उनको उपदेश के द्वारा बता दिया गया है। यह सब हमने अपनी बुद्धि से कल्पित कर लिया है। अब आगे पुरातनो (आचार्यों) के द्वारा जो प्रतिपादित किया गया है उसको कहता हूं। यन्त्रो के सम्बन्ध मे चार प्रकार का बीज उन लोगो ने कहा। उनका प्रत्येक का विभाग जल, अग्नि, पृथ्वी और वायु के द्वारा बहुत प्रकार का कहा गया है और उनके पारस्परिक मिश्रण एव साकर्य से फिर ये यन्त्र अगणित कहे जाते हैं। ससार में यन्त्रो से बढ कर

और कौन सी आश्चर्य की बात है अथवा इस के अतिरिक्त और कौन सा तुष्टि का साधन है और आश्चर्य-जनक वस्तु है। इस से बढ़ कर कीर्ति का भी कौन सा स्थान है और यन्त्र के अतिरिक्त दूसरा काम-मदन या रति-केलि-निकेतन भी दूसरा नहीं है। इस से बढ़ कर पुण्य अथवा ताप शमन का और कौन सा उपाय है ॥८३—८५॥

सूत्र-धारो के द्वारा योजित बीज-योग अत्यन्त प्रीति देने वाले हो जाते हैं। भ्रान्ति-जनक और विस्मय-कारक लकड़ी से निर्मित दोला (झूला) आदि विस्मय-कारक यन्त्र है। अतः ये यन्त्रो का पाचवा बीज हुआ ॥८६॥

वही आदमी चित्र-विचित्र यन्त्रो का निर्माण करना जानता है जिस में यह समग्र सामग्री होती है—परम्परागत कौशल, उपदेश-युक्त अर्थात् गुरु से प्राप्त शास्त्राभ्यास, वास्तु-कर्म, उद्यम और निर्मल बुद्धि ॥८७॥

जो लोग चित्र-गुणो से युक्त यन्त्र-शास्त्राधिकार वाले इन पाचों बीजो को जानते हैं, अथवा जो इन बीजों को पूर्ण रूप से योजना करते है, उनकी कीर्ति स्वर्ग और भूमि दोनो पर फैलती है ॥८८॥

एक अंगुल से मित (नापा गया) और अगुल के एक पाद से ऊंचा, दो फुट वाला, गोल आकृति वाला, ऋजु, बीच मे छेद वाला, सुदृढ सन्धि वाला और मजबूत तावे से निर्मित उसे सम्पादित करे। लकडी के बने हुऐ पक्षियो मे उसको उनके भीतर क्षिप्त कर निकलती हुई वायु के द्वारा चलने पर सुन्दर शब्द करता है और सुनने वालो के लिए आश्चर्य-कारक होता है ॥८९-९०॥

सुदृढ दो खंडो से सरन्ध्र (छेद-सहित) मध्य भाग मुरज नामक वाद्य-यन्त्र की आकृति के समान निर्मित कर दो कुण्डलो से ग्रस्त कर, बीच मे मृदु पुट देवे और पूर्वोक्त यन्त्र की विधि से इसके उदर के क्षिप्त होने पर शय्या-तल पर स्थित यह यंत्र संचरण मे अनंग-क्रीडा के रसोल्लास करने वाली ध्वनि करता है और इस के शय्या-तल के नीचे रखने पर सुन्दर सुन्दर मनोमोहक विचित्र शब्द छोडता है जिससे मृग-शिशुओं के समान नेत्र वाली नायिकाओं का भय से मान चला जाता है और इन प्रेमासक्तो, दयिताओं को अपने प्रिय के प्रति आसक्ति और अधिक २ काम-क्रीडायें प्रौढ़ि को प्राप्त होती है ॥९१-९३॥

पटह, मुरज, वेणु, शख, विपंची, काहला, डमरु, टिविल, ये वाद्य-यंत्र और मातोद्य-यन्त्र (Instruments by beating) बड़ा ही मधुर और चित्र-रूढ और उन्मुक्त वायु मे भरे हुवे ध्वनि करने मे समर्थ होते हैं ॥९४॥

अम्बरचारि-विमान-यन्त्र :—अब अम्बरचारि-विमान-यन्त्र का वर्णन करते है। छोटी लकड़ी से बनाया गया महा विहंग बना कर और उसके शरीर को दृढ और सुश्लिष्ट अर्थात् खूब सटा और जुड़ा हुआ बना कर उस के अन्दर पारा रक्खे और उस के नीचे अग्नि के स्थान को अग्नि से पूर्ण करे और उसमे बैठा हुआ पुरुष उसके दोनो पक्षो के संचालन से प्रोज्झित वायु के द्वारा भीतर रक्खे हुए इस पारद की शक्ति से आकाश में आश्चर्य करता हुआ दूर तक चला जाता हैं। इसी प्रकार से यह बड़ा दारु-विमान सुर-मन्दिर के समान चलता है और विधि-पूर्वक इसके भीतर चार पारे से भरे हुए दृढ कुम्भो को रक्खे। लोहे के कपाल में रक्खी हुई मन्द वह्नि के द्वारा तपे हुए (तप्त) कुम्भो से उत्पन्न गुण से सन्तप्त और गर्जन करता हुआ पारद की शक्ति से आकाश का अलंकार बन जाता है अर्थात् आकाश मे उड़ जाता है ॥९५—९८॥

सिंहनाद-यन्त्र :—अब लोहे के यन्त्र को खूब ठीक तरह से कसकर और उसके अन्दर पारद को रखकर और फिर वह ऊंचे प्रदेश मे रक्खा हुआ सिंहनाद मुरज (वाद्य-विशेष) की ध्वनि करता है। इस नर-सिंह की महिमा विलक्षण है। इसके सामने मद और जल को छोड़ने वाले हाथियों की घटायें भी इसके गम्भीर घोष को बार बार सुन कर अंकुश की भी परवाह न कर शीघ्र भागने लगते हैं ॥९९-१००॥

दासादि-परिजन-यन्त्र :—आंख, ग्रीवा, नल-हस्त, प्रकोष्ठ (भुजा का मणि-बधन), बाहु, उरु, हस्त की अंगुलियां आदि अखिल शरीर, छिद्रो सहित बना कर और उसकी सन्धियो को खण्डशः घटना करे, कीलों से खूब श्लिष्ट कर लकड़ी से बना कर, चमड़े से गुप्त कर युवक अथवा युवती के रूप का अति-रमणीय रूप बना कर छिद्रगत शलाकाओं और सूत्रों के द्वारा प्रति अंग से विधि-पूर्वक निवेश करे तो वह गर्दन का चलाना, हाथ का फैलाना अथवा समेटना यन्त्र ही करता है और साथ ही साथ हाथ मिलाना, पान देना, जल से सींचना, प्रणाम आदि करना, शीशा देखना, वीणा आदि वाद्य बजाना—यह सब यन्त्र ही करता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त गुणों के चक्र-वश से अपनी बुद्धि से विधि-पूर्वक जृम्भित होने पर इसी प्रकार के अन्य विस्मयावह कार्य करता है ॥१०१—१०५॥

द्वारपाल-यन्त्र :—दारु से मनुष्य को लकड़ी का बना कर और उसको निकेतन-द्वार के ऊपर रख कर, उस के हाथो में दण्डा दे दे तो द्वार मे प्रवेश करने वालों का रास्ता रोकता है ॥१०६॥

योध-यन्त्र :– खड्ग-हस्त, मुदगर-हस्त, अथवा कुन्त-हस्त (भाला लिये) वह दारु-क्लृप्त-पुरुष रात्रि मे प्रवेश करते हुए चोरों को सम्वृत मुख होकर बल-पूर्वक मारता है ॥१०७॥

संग्राम-यन्त्र :– जो चाप आदि, तोप आदि, उष्ट्र-ग्रीवा आदि यन्त्र (तमचे) किले की रक्षा के लिए और राजाओं के खेल के लिए जो क्रीडा आदि यन्त्र हैं, वे सब गुणो के योग से सम्पादित हो जाते हैं ॥१०८॥

वारि-यन्त्रः—अब क्रम-प्राप्त वारि-यन्त्र को कहता हू। क्रीडा के लिए और कार्य-सिद्धि के लिए उसकी चार प्रकार की गति होती है ॥१०९॥

ऊंचे पर रक्खी हुई द्रोणी (कल), प्रदेश से नीचे की तरफ जल जाता है उस को पात-यन्त्र कहते हैं और वह बगीचे के लिए होता है ॥११०॥

दूसरा जल-यन्त्र उच्छ्राय-समपात नामक कहा गया है, जहा पर ऊँचे मे कल से पानी जलाधार-गुण से नीचे की ओर छोडता है ॥१११॥

तीसरा वारि-यन्त्र पात-समुच्छ्राय के नाम से पुकारा जाता है, जहा पर जल गिर कर ऊंचाई से टेढे टेढ़े जाकर छेद वाले खम्भो के योग से ऊंचे जाता है ॥११२॥

अब इस के बाद समुच्छ्राय-नामक यन्त्र वह होता है जहा पर जल गिर कर ऊंचाई मे उठकर टेढे-टेढे, ऊंचे-ऊंचे छिद्रों दारु-खम्भो के योग से गिरता है ॥११३॥

उच्छ्राय-संज्ञा वाला पाचवा वारि-यन्त्र वह कहलाता है जहा पर वापी में अथवा कुंवें मे विधान-पूर्वक दीर्घिका आदि जो बनाई जाती हैं, तो ऊंचे पानी लाया जाता है ॥११४॥

दारुमय-हस्ति :—लकड़ी का हाथी बना कर जो पात्र मे रक्खा हुआ पानी पीता है, उसका माहात्म्य इस उच्छ्राय-नामक यन्त्र के समान कहा गया है ॥११५॥

जलसुरंग-देश से लाया जाता है, नीचे मार्ग से दूर लाया हुआ वह अद्भुत जल-स्थान-समुच्छ्राय करता है ॥११६॥

पञ्च-धारा-गृह:—अब धारा-गृह का वर्णन करते हैं। ये पाच है—पहिला धारा-गृह, दूसरा प्रवर्षण, तीसरा प्रणाल चौथा जलमग्न तथा पांचवा नन्द्यावर्त। प्राकृत जनों अर्थात् साधारण जनता के लिए नही बनाने चाहियें। ये केवल राजाओं के लिये ही बनाने चाहियें। ये उन्हीं के योग्य है। ये मंगलों के दिव्य सदन और तुष्टि और पुष्टि कारक होते हैं ॥११७-११८॥

धारा-गृह—किसी जलाशय के निकट सुन्दर स्थान को चुन कर यन्त्र की ऊंचाई से दुगुनी अथवा तिगुनी नली बनावे। जल के निर्वाहक-क्षम यह नली अन्दर से बहुत चिकनी और बाहर से घनी होनी चाहिए और उस में पानी भर कर शुभ मुहूर्त में धारा-गृह का निर्माण करना चाहिए। सब औषधियों से युक्त और सोने से निर्मित पूर्ण कुम्भों से युक्त सुन्दर २ विचित्र २ गन्ध और मालाओं से युक्त वेद-मन्त्रों के उच्चारण से निनादित, रत्न-निर्मित अथवा स्वर्ण-निर्मित अथवा रजत-निर्मित अथवा कदाचित् शीशम काष्ठ से निर्मित अथवा चन्दन से निर्मित अथवा सालव-प्रधान प्रशस्त वृक्षों से निर्मित, सौ, बत्तिस अथवा सोलह संख्या वाले खम्भों से युक्त उस धारा-गृह का निर्माण करे। अथवा २४ खम्भों से अथवा १२ खम्भों से अथवा अतिरमणीय चार खम्भों से ही भूषित उस धारा-गृह का निर्माण करना चाहिए। धारा-गृह अति विचित्र ग्रग्रीवों वाली शालाओं और विविध जालों से विभूषित, वेदियों से खचित और कपोतालियों अर्थात् कबूतर के अड्डों से सुन्दर बनाना चाहिये। वहां पर सुन्दर २ शालभ-ञ्जिकायें कठपुतलियां दिखलाई पड़ रही हों। अनेक प्रकार के यन्त्र-पक्षियों से शोभा मिल रही हो तथा वानरों के जोड़ों से अनेक प्रकार जम्भक-समूहों से विद्याधर, सिंह, भुजङ्ग, किन्नर और चारणों से रमणीय परम प्रवीण मयूरों से नाचते हुए सुंदर प्रदत्त चित्र-विचित्र पारिजात-पादपों से शोभित और चित्र-विचित्र लताओं, वल्लियों एवं गुल्मों से संच्छन्न, कोकिल-भ्रमरावली हंसमाल (मराली) से मनोहर ऐसा चित्र-विचित्र चित्रित धारा-गृह बनावे ॥११६-१२८॥

सुश्लिष्ट और निविड नली के सम्पूर्ण स्रोत बहने वाले और मध्य में छेद-सहित नाडिका से युक्त नाना प्रकार के रूपों से रमणीय होना चाहिए। सुश्लिष्ट नाडिका के अग्र प्रदेश में खम्भों की तुला वाली दीवाल में आश्रित प्रदेश में वज्रलेपादि (सीमेन्ट आदि) खूब दृढ विलेपन करे। वज्रलेप बनाने का प्रकार यह है : लाक्षारस (लाख), अर्जुन का रस और पत्थर, मेष के सींगों का चूर्ण, इन सबको मिलाकर अलसी और करंजा के तेल से गाढ़ा करे। सन्धियों की दृढ़ता सम्पादन के लिए यह लेप दो तीन बार देना चाहिए परन्तु कदाचित् अधिक मजबूती के लिए दो बार लेप करे और उस पर सन की वरवल से श्लेष्मातक (लसेड़ा) और सिरका के तैलों से प्रलेप करे। उच्छ्राय-यन्त्र से चारों ओर घूमते हुए जल के द्वारा चित्र-विचित्र जल-पात करता हुआ यह यन्त्र क्ष्मापति राजा को दिखावे ॥१२९-१३३॥

इस में हाथियों को जलक्रीडा करते हुए एक दूसरे की सूंड से छोड़े गये सीकरों (जलकणों) से बन्द हो गए हैं नयन जिन के ऐसे जोड़ों को दिखाना चाहिए ॥१३४॥

इस प्रेमास्पद यन्त्र मे वर्षा का अनुकरण करने वाला हाथी दूसरे हाथी को देख कर आख, गण्ड-स्थल, मेहन और हाथो से मद के समान वर्षानुकूल जल को छोड़ता हुआ दिखलाना चाहिए। १३५।

वहा पर कोई ऐसी स्त्री बनावे, जो अपने दोनों स्तनो से दो जल-धारायें निकाल रही हो और वही सजल बिन्दुओ को आनन्दाश्रु-कणों के समान अपनी पलकों से निकाल रही हो ॥१३६॥

कोई स्त्री ऐसी दिखाई जाय, जो अपनी नाभि-रूपी नदी से धारा को निकाल रही हो और कोई अंगुलियो की नखाग्रुओ के समान धाराओ से सिंचन कर रही हो। इस प्रकार के आश्चर्य-कारक स्वभाव-चेष्टायें और बहुत से रमणीय क्षोभो का निर्माण कर के स्थपति राजा के लिए मनोरंजन करे। ॥१३७-१३८॥

उसके मध्य मे निर्मल स्वर्ण और मणियो से निर्मित सिंहासन बनाना चाहिए और उस पर नरपति, अवनिपति, श्रीपति, देव (अर्थात् राजा जो) बैठें ॥१३९॥

कभी २ इस मे उसको स्नान करावे और मंगल-गीतों से अपने आनन्द को बढ़ाता हुआ वादित्र और नाट्य-निपुणों (गाने वालो, बजाने वालों, नकल करने वालो) से सेवित वह राजा साक्षात् इन्द्र के समान आनन्द का भोग करे ॥१४०॥

जो राजा भीषण गर्मी मे स्फुट जल-धारा वाले इस धारा-गृह मे सुख-पूर्वक बैठता है और विविध-प्रकार की जल-कारीगरी को देखता है वह मर्त्य नही वरन पृथ्वी पर निवास करने वाला साक्षात् सुरपति इन्द्र है ॥१४१॥

प्रवर्षण :—पहिले की तरह मेघो के आठ कुलो (पुष्करावर्तकादि) से युक्त दूसरा जल घर बनावे। बरसती हुई धाराओं के निकरों (समूहो) के कारण इसका नाम प्रवर्षण पड़ा है ॥१४२॥

इस मे मेघो के प्रतिकूल मे दिव्य अलंकार धारण करने वाले सुदृढ़ एवं सुन्दर तीन चार अथवा सात विधि-पूर्वक पुरुषो का निर्माण करे ॥१४३॥

फिर चौथे समोच्छ्राय-यन्त्र से उन टेढ़ी नाली वाले उन पुरुषो को विमल जलो से पूरित करे ॥१४४॥

पुरुषों के सम्पूर्ण सलिल-प्रवेश वाले छेदों को बंद कर तदनन्तर उनके जल निकालने वाले अंगों को खोल दे ।।१४५।।

पुरुष-द्वार-प्रतिरोध और मोचनों से टेढ़े नल से निकले हुए पानी आश्चर्य-कारक पात मे आश्चर्य-कारक स्वेच्छापूर्वक जल को छोड़ते हैं। ।।१४६।।

इस प्रकार इन जल-धारण करने वाले सब पुरुषों से अथवा दो से अथवा तीन से महान् आश्चर्य विधायक स्वेच्छापूर्वक प्रवर्षण करावे ।।१४७।।

यह नाना आकार वाला, रति-पति कामदेव का प्रथम कुल-भवन विचित्र पदार्थों का निवास और मेघो का एक ही अनुकरण ग्रीष्म मे जल के पात से सूर्य के ताप का शमन करने वाला किन लोगों के नयनों का आनन्द दायक नहीं होता (अर्थात् सभी के लिये होता है) ।।१४८।।

प्रणाल —अब प्रणाल-नामक जल घर का वर्णन किया जाता है। एक, चार अथवा आठ अथवा बारह अथवा सोलह खभो से दुतल्ला मनोहर घर बनावे। सब दीवालो से युक्त चोकोर चार भद्रों से युक्त ईली-तोरण-युक्त पुष्पकाकार इसे बनाना चाहिये। उसके ऊपर बीच मे एक सुदृढ प्रागण-वापी बनावे और उसके बीच मे कमलो से सुशोभित कर्णिका का निर्माण करे और उसके चारो कोनो पर वापी के मध्य भाग मे खिले हुए कमल पर लगाये हुए आखो वाली, अलंकार धारण किये और विभिन्न शृंगार किये रमणीय दारू-दारिकाओं का निर्माण करना चाहिये ।।१४९–१५२।।

पूर्वोक्त यन्त्र के क्रम से पद्मासन पर राजा के बैठने पर फिर घड़ो के निर्मल जल से आँगन की वापी को भरे और फिर उस वापी को भर कर फिर उस जल को उसके निकट पट्ट-गर्भों में ले जाया जाय। पुनः उस मे सुगन्धि की योजना करें। मुख के कपडे से समुत्कीर्ण रूप वाले चित्र-विचित्र नासिका, मुख, कान, नेत्र, आदि अखिल अंगों से जल छोडा जाता है। प्रणाल-नाम का यह अद्भुत धारा-भवन जिस राजा के अंगण प्रदेश मे स्थित होता है अथवा जो स्थपति अपनी चतुर बुद्धि से इसका निर्माण करता है, ये दोनो ही (राजा और राज) संसार मे बड़े यशस्वी होते हैं।।१५३–१५६।

जलमग्नः— चोकोर, बहुत गहरी, सुदृढ, मनोरम वापी बनावे फिर उसका घर जमीन के नीचे, शिल्पियों को स्थिर करके, निर्माण करे। सुरंग मे निवेशित द्वार से सुन्दर पुरुषों के द्वारा ऊपर जल लाया जावे ।।१५७-१५८।।

चित्राध्याय में वर्णित क्रम से फिर चित्र से अलंकृत इसका मध्य भाग वरुण-वास के समान बनावे ॥१५९॥

उस कपड़े के नाल से उत्पन्न उन नल वाले ऊपर निकले हुए कमलों मे सछिद्र कर्णिका-स्थित सूर्य-किरणो के द्वारा विकास कराया जाय ॥१६०।

निर्मल कमलों तक गिरते हुए जल से उसे पूरा किया जाय और इसी विधि से ठीक तरह से सुन्दर भवन का निर्माण करके नाना सजावट से युक्त आँगन का तोरण-द्वार बनावे और चारो दिशाओं मे लम्बी चौडी शालाये बना कर शोभा करे। बनावटी मछली, मगर और जल-पक्षियों से युक्त और कमलो से युक्त उस वापी को इस तरह मे बनावे कि मानो ये सब जीव-जन्तु एव पक्षी सच्चे ही हों ॥१६१—१६३॥

सामन्त लोग प्रधान पुरुष राजा की आज्ञा प्राप्त कर आश्रय लेने वाले दूसरे रास्तों मे आये हुए दूत यहा पर एकान्त मे बैठें ॥१६४॥

तदनन्तर पूर्वोक्त मार्ग से निरूपित विभिन्न रूपो की जल-क्रीडा को देख कर मुदित नृपति पर्यंकारोहण करे ॥१६५॥

वहां पर जल-भवन मे वारांगनाओं से चारो तरफ घिरे हुए राजा का पाताल-गृह मे जिस प्रकार भुजगेश्वर शेष-नाग का प्रमोद होता है उसी के समान उसका अत्याधिक आनन्द वाला प्रमोद होता है ॥१६६॥

नन्द्यावर्तः—पूर्वोक्त वापिका मे मध्य भाग मे चार खम्भो से निर्मित मोती-मूंगो से युक्त पुरुष और लटभ का निर्माण करे। वापी के चारों ओर खूब निकलते हुए पानी से सुदृढ पुष्पक को भर कर अन्दर स्वस्तिक दीवालों से चारों ओर शोभा करावे। पूर्वोक्त जल-योग मे कान तक पानी भरा कर जल-क्रीडा के लिये उत्कण्ठित राजा पुष्पक पर जाए और फिर वहा पर विदूषको और वार-विलासिनियों के साथ उस दीवाल के अन्दर होकर जल में डूबने और निकलने को क्रीडा करे ॥१६७—१७०॥

एक जगह डूबते हुए, दूसरी जगह पानी से मार कर नष्ट होते हुए केलि करने वाले सहायको के साथ राजा खूब खेलता है और आनन्द लेता है ॥१७१॥

वापी-तल में स्थित, लज्जा से झुके हुए कर-पल्लव से अपने स्तन-भाग को ढके हुए, शरीर से गाढावसक्त वस्त्र वाली जलरोध को छोड़ने वाली ऐसी प्रणयिनी को जो आदमी देखता है, वह धन्य है ॥१७२॥

दोला-यन्त्र :—जो पांचवां बीज-संयोगात्मक यन्त्र-भ्रमणक-कर्म कीर्तित किया गया है ; अब दारू-निर्मित उस रथ-दोला आदि के विधान को ठीक तरह से कहता हूं । उनमें वसन्त, मदन-निवास, वसन्त-तिलक, विभ्रमक तथा त्रिपुर नाम वाले ये पांच झूले कहे गए हैं ॥१७३—१७४॥

वसन्त :—ऋजु, सुदृढ़ एक सूत्र वाले चार खम्भों को खचित करे, भूमि-वश उनके अवकाश बराबर हों और सुश्लिष्ट तथा पीठगत हों । प्रासाद की उक्त दिशा में अर्थात् प्रकार से आठ हस्तों से उस का दैर्घ्य सम्पादन करे और उसके आधे से गहरा रमणीय भूमि-गृह बनावे ॥१७५-१७६॥

उस के गर्भ में भ्रम-सहित, पीठ-सहित और छादक तुलाओं से ग्रस्त लोहे का खम्भा स्थापित करे ॥१७७॥

पीठ के ऊपर खूब मजबूत विभक्त कुम्भिका स्थापित कर, फिर उस को धनुष की ऊंचाई में आठ भद्रों से घेरे । इसके उपरान्त इसके ऊर्ध्व भाग में ऋजु स्वेच्छा पूर्वक भूमिका की ऊंचाई बनावे और वेष्टन के ऊपर पट्टयुत स्तम्भ-शीर्ष रक्खे । हीर-ग्रहण तक मदला गज-शीर्षिका बनानी चाहिए । वह खूब मजबूत हो, प्रयत्न से बनाई गई हो और मनोज्ञ हो ॥१७८—१८०॥

पट्ट के ऊपर असीम क्षेत्र के मान (प्रमाण) से मयिया (चतुष्किका) बनावे और उसके ऊपर मजबूत तल-बन्ध निर्माण करे ॥१८१॥

तदुपरान्त क्षेत्र में युक्ति से उठाए हुए, सुन्दर बारह खम्भों से रूपवती-कोणस्थिति से अधिक, पहली भूमि बनावे ॥१८२॥

उस के मध्य में गर्भ-स्तम्भ-प्रतिष्ठित भ्रम की रचना करे और पश्चात् क्षेत्र-मान से उसको वस्त्रों से ढक दे ॥१८३॥

रथिका के शिखा के अग्र-भागों में फलकावरण के ऊपर स्तम्भ के मध्य पांच भ्रम-चक्रों का न्यास करे ॥१८४॥

इस के ऊपर पुष्पक की आकृति की सुशोभित भूमि का निर्माण करे, उस आधार मध्य का स्तम्भ होता है और उस के सिर पर बनाये हुए कलश सुशोभित होते हैं। खम्भ के नीचे घुमाए जाने पर अर्ध-भूमिका उसमें खूब घूमती है। वह अर्धभूमिका चक्र-यन्त्र से ऊपर ऊपर रथिका-भ्रमर से युक्त हो कर घूमती है ॥१८५—१८६॥

इस प्रकार वसन्त-रथिका-भ्रम-नामक झूले में बैठी हुई वार-विलासनियों के परिभ्रमण से उत्पन्न अधिक विभ्रम वाला नयनोत्सव जो

स्वर्ग में कहा गया है, वैसा ही वसन्त के समय भ्रमल कीनिवला यह धाम राजा के लिये होता है। १८७।

मदन-निवास :—इसके बाद बिना नीव के एक स्थिर, खम्भे का आरोपण कर फिर इसके ऊपर चार हाथ ऊंची भूमिका बनावें ॥१८८॥

मध्य मे भ्रमरक-युक्त बनावें और शेष पहले के समान यहा पर भी निवेश करें और स्तम्भ में पुष्पक को भी कलश से ऊंचा और शिथिल न्यास करे। उस के ऊपर चार आसनो से युक्त ग्रीवा का निर्माण करे और फिर वहा पर बड़े बड़े दो घण्टा-स्तम्भो का निर्माण करे ॥१८९-१९०॥

इस प्रकार पुष्पक-भूमिकाओं के भीतर बैठा हुआ गुप्त जन तब तक भ्रामक यन्त्र-चक्र-समूह को क्रमशः चलावे जब तक रथिका पर बैठी हुयी मृगनयनिया पुष्पक मे सब की सब काम-वासना के कौतूहल से अर्पित आखो वाली घुमाई जाने लगे ॥१९१॥

वसन्त-तिलक :—इस के बाद अब चार कोनो पर ऋजु एवं सुदृढ चार खम्भो को निवेशित करे और भूमि के अनुसार बराबर अन्तर पर पृष्ठ-भूमि पर उन्हें स्थापित करे। उनके ऊपर तलान्तर-सयुक्त भूमिका बनानी चाहिए और प्रत्येक दिशा मे स्थापित पहले की तरह वहा पर चार रथिकायें बनाई जाती हैं। उस के ऊपर सुश्लिष्ट दारु-सधानित अर्ध-भूमि का निर्माण करना चाहिए। उस का मध्य भाग भ्रमरक-युक्त और मत्तवारण-युक्त एवं रूपको युक्त होना चाहिए ॥१९२-१९४॥

परस्पर यन्त्र के परिघट्टन से चलायमान अखिल चक्रो की रथिकाओं के भ्रमण से सुन्दर इस वसन्त-तिलक झूले को देख कर सुर-मन्दिरो के भूषायमान कौन विस्मय को प्राप्त नही होता ॥१९५॥

विभ्रमक :—पहली रंगभूमि बना कर चौकोर चार-भद्रा वाली रूपवती भूमि का निर्माण करे ॥१९६॥

इस के भद्रो से प्रत्येक कोने पर भ्रमर-संयुत होते हैं और भूमि के ऊपर आठ आसन वाले भ्रमरों का निर्माण करे ॥१९७॥

बाहर भीतर और बहुत सी चित्र-विचित्र शुद्ध रेखाओं को खचित करे। फिर पीठो मे मध्य-भाग मे स्थित दूसरी भूमिकाओ का निर्माण करे ॥१९८॥

पीठ के मध्य-भाग मे स्थित परस्पर निकट योजित चक्रों से सब भ्रमर

शीघ्रता से घूमने लगते हैं। स्वर्ग मे बैठने के समान झूले पर बैठा हुआ वह राजा वारि-विलासिनियो के द्वारा सम्भृत चित्र-विचित्र विभ्रम से श्रोहर्ष को प्राप्त करता है तथा उसकी कीर्ति तीनो लोको मे समुल्लसित होती हुई समाती नहीं है ॥१९९—२००॥

त्रिपुर :—अब क्षेत्र को चौकोर बना कर आठ अंशो से विभाजित कर शेष कोणो के द्वारा चौकोर भद्र का कल्पन करे ॥२०१॥

उस मे दुगुनी भूमिकाओ की भाग-संख्या से इसका ऊर्ध्व-भाग निर्मित करे। वहा पर भूमिका की ऊंचाई चार अंश की हो। २०२।

वहा पर आठ, छै, चार भागो मे वर्जित ऊपर २ भूमिकायें क्रमशः होती हैं और उन मे से तीन अर्ध-समुत होती हैं। दोपाश मे उच्छ्राय-युक्ता चतुरश्रायता घण्टा बनानी चाहिए। तीसरी और चौथी भूमि का निर्माण ६ और ४ भागो के विस्तार स करना चाहिए। प्रथम भूमि मे रंग, दूसरी भूमि में कोनों मे रथिकाय और वहा पर भद्रो की आकृति से युक्त रमणीय दोला भी हो ॥ २०३—२०५ ॥

तीसरी भूमि मे भद्रो में अतिरमणीय रथिकायें बनानी चाहिएं। कोनों में आसन और अन्य अर्ध-वास्तुक में भी भ्रम का न्यास करे ॥२०६॥

चार आसन वाले दोला-रथिक में आठ आसन वाला भ्रम होता है। आसन से यहां पर अभिप्राय है कि वह युवती का एक स्थान होवे। २०७।

जो सब आसन भ्रमण सम्मुख घूमते हैं वे सारे के सारे आसन एक प्रकार से भ्रम ही हैं ॥२०८॥

यष्टि के ऊर्ध्व भाग में भ्रम के नीचे एक चक्र को योजित करे और उसी प्रकार यहा पर आसनो में लघु चक्रो का नियोजन करे ॥२०९॥

लघु चक्राकार वृत्त मे (चौकोर गोले मे) कीलो को लगाना चाहिए और वह समान अन्तर पर सभी छोटे चक्र के वृत्त दिखाई पड़ने चाहिएं ॥२१०॥

रथिका का ऊपर का चक्र भ्रम-चक्र से विनियोजित करे और इस में दो चक्रों से युक्त चार यष्टियां टेढी २ लगावें ॥२११॥

रथिका-यष्टि-भ्रम में सात यन्त्रों को द्वितीय भूमि के ऊपर और तृतीय भूमि के अन्तर में करना चाहिए ॥२१२॥

आसन की आधार-यष्टियो के नीचे समान अन्तर पर रथिका-चक्रो से योजित चार परिवर्तकों का निर्माण करे ॥२१३॥

उसी प्रकार द्वितीय भूमि दोला-गर्भ मे दो समानान्तर यष्टियो का निर्माण करना चाहिए, जिस में एक २ पहिया लगा हो और इनका दक्षिण और उत्तर के चक्रों मे न्यास करे। इसी प्रकार नीचे भू-कोण तक जाने वाली रथिका-समूह के अग्र-चक्र मे लगी हुई दो दो पहियो वाली चार यष्टियो का दूसरी दिशाओं के चक्रों में न्यास करे। प्रान्त के दोनो चक्रो में कोनो की रथिका-चक्र मे योजित दोला के गर्भ में जाने वाली दूसरी दो यष्टियां तिरछी बनानी चाहिए। पूर्व-भद्र में सोपानो से शोभित द्वार-निर्माण करे और नीचे गर्भ के पश्चिम भाग में देवता-दोला का निवेश करे ॥२१४—२१७॥

इच्छानुसार छोड़ा जाने वाला चक्र-भ्रम विधान-पूर्वक ठीक तरह से जानकर शीघ्र चलने वाला अथवा मन्द चलने वाला प्रयोजित करे ॥२१८॥

संक्षेप से जहां तक हो सका हमने इस प्रकार से भ्रम-मार्ग कीर्तित किया। दूसरों में उसी तरह भ्रम-हेतु के लिए ठीक तरह से करना चाहिए ॥२१९॥

दृढ और चिकने स्तम्भ-आदि द्रव्यो के विन्यासो मे कल्पित सुश्लिष्ट सन्धि-बन्ध वाला बड़े मुख्य-स्तम्भों से धारण दिया गया, तिलको से परिवारित और चारों तरफ सिंहकर्णों से युक्त, अपने चित्रो से विचित्र रूप वाला त्रिपुर नाम का दोला ठीक तरह से बनावे ॥२२०-२२१॥

बुद्धि से निर्मित और पूर्व यंत्रों से युक्त जो मनुष्य इस यंत्राध्याय को ठीक तरह से जानता है, वह वाञ्छित मनोरथों को ठीक तरह से प्राप्त करता है और प्रतिदिन राजाओं के द्वारा पूजित होता है ॥२२२॥

जिस राजा के भुज-स्तम्भों से प्रतिबद्ध (रोकी गयी) वृति वाला यह सम्पूर्ण द्वादश राज-मण्डल इच्छा से घूमता है वह श्रीमान् भुवन मे एक ही राम नाम के राजा ने इस यन्त्राध्याय को अपनी बुद्धि से रचित यन्त्र-प्रपंचों के साथ बनाया है ॥२२३॥

पंचम पटल

चित्र-लक्षण

१. चित्रोद्देश
२. चित्र-भूमि-बन्धन (Background)
३. चित्र-कर्माङ्ग—लेप्यादि-कर्म
४. चित्र-प्रमाण :—
   (अ) अण्डक-वर्तन
   (ब) मानादि
५. चित्र-रस तथा चित्र-दृष्टियां

अथ चित्रोद्देश-लक्षण

अब इसके बाद हम लोग चित्र-कर्म का प्रपंच करते हैं, क्योंकि चित्र ही सब शिल्पों का प्रधान अंग तथा लोक प्रिय-कर्म है ॥१॥

चित्रोद्देश :—पट्ट पर अथवा पट पर अथवा कुड्य (दीवाल) पर चित्र-कर्म का जैसा सम्भव है और जिस प्रकार की वर्तिया, कृत-बन्ध और लेखा-मान होते है, वर्णों का जैसा व्यतिक्रम, जैसा वर्तना-क्रम, मान, उन्मान की विधि, तथा नव-स्थान-विधि, हस्तो का विन्यास—उन सबका प्रतिपादन किया जाता है। स्वर्गियों का, देवादिको का, मनुष्यो का तथा दिव्य-मानुष-जन्मा व्यक्तियों का, गण, राक्षस, किन्नर, कुब्ज, वामन एवं स्त्रियो का विकल्प आकृति-मान और रूप-संस्थान, वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली, वीरुध, पाप-कर्मा व्यक्ति, शूर, दुर्विदग्ध धनी, राजा, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्रजाति, क्रूर-कर्मा मानी, रंगोपजीवी-इन सब का वर्णन किया जाता है। सतियो का, राज-पत्नियो का रूप, लक्षण, वेष-भूषा (नैपथ्य), दासियों, सन्यासिनियो, राड़ो, भिक्षुणियो आदि अथच हाथियो, घोडों मकर, व्याल, सिंह तथा द्विजों का भी वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार रात दिन का विभाग और ऋतुओं का भी लक्षण तथा योज्यायोज्य-व्यवस्था का भी प्रतिपादन आवश्यक है। देवों का प्रविभाग और रेखाओ का भी लक्षण, पाच भूतों का लक्षण और उनका आरम्भ भी बताया जायेगा। वृक आदि हिंसक जन्तुओं, पक्षियो और सब जल-वासियो के चित्र-न्यास-विधान का अब लक्षण कहता हूँ ॥२-१२॥

चित्राङ्ग:—जिसे चित्र-कर्म में वर्ता जाता है उसके सब अंगो का सविस्तार वर्णन किया जाता है। पहला अंग वर्तिका, दूसरा भूमि-बन्धन, तीसरा लेख्य, चौथा रेखा-कर्म, पाचवां वर्ण-कर्म, छठा वर्तना-क्रम, सातवा लेखन और आठवां रसावर्तन ॥१३—१५॥

चित्र-कर्म का यह संग्रह जो क्रमशः सूत्रित करता है वह कभी मोह को नहीं प्राप्त होता है और वह कुशल चित्रकार होता है ॥१६॥

अथ भूमिबन्धन-लक्षण

अब वर्तिका का लक्षण और भूमि-बन्धन का लक्षण वर्णन किया जाता है ॥½॥

गुल्मों के अन्तर मे, शुभ क्षेत्र मे पद्मिनी मे, नदी के तट पर, पर्वतों के कक्षों मे, वापिका और वनों के अन्तर मे और वृक्षों के मूलों मे जहाँ पर भौम लवण-पिण्ड हो, इन क्षेत्रो मे जो मृत्तिका स्थिर, सुश्लिष्ठ (चिकनी) पाण्डर तथा शर्करामयी होने पर मृदु एवं चित्र-बन्धोपयोगिनी हो इस प्रकार क्षेत्रानुसार मृत्तिका शुभ बताई गई है। उसको कूट कर पीसे फिर कल्क बनावे। भात का अर्थात् शालिभक्त का पूर्वोक्त भाग वहाँ पर देना चाहिये। ग्रीष्म-ऋतु मे सातवा भाग, शीतकाल मे पाँचवा, शरद् मे छठा और वर्षा में चौथा भाग ग्रहण करे। वर्तिका-बन्धन के लिये इस प्रकार की मृत्तिकायें दृढता को प्राप्त होती हैं। पुन. कल्क-बन्धन मे पूर्ण कौशल की अपेक्षा होती है। रेखा-वर्तन मे—शिक्षा-काल मे, वर्तिका दो अंगुल के प्रमाण से बनाई जाती है। कुछ रेखाओं मे वर्तिकायें तीन अंगुल की बताई गई हैं। जहाँ तक पट-चित्र मे रेखाओं का प्रश्न है, उन मे चार अंगुल के प्रमाण से करना चाहिये ॥१-६½॥

भूमि-बन्धन :—अब भूमि-बन्धन-क्रिया का वर्णन करूंगा। भूमि-बन्धन अर्थात् pictorial back-ground मे विशेष कर जो आवश्यक एवं अनिवार्य सामग्री होती है उसी से भूमि-बन्ध किया जाता है। पूर्ण नक्षत्र-वारो मे और मागल्य दिवसो मे वास करके कर्ता, भर्ता और शिक्षक नाना वर्णं के सुगन्धित कुसुमो से और सुगन्धित धूपा से पूजन करके उसका आरम्भ करें। सर्व-प्रथम मान-उन्मान-प्रमाण के अनुरूप भूमि आदि सब सामग्री का निक्षेप एव साधन जुटाकर पहले भूमि का विधान करे पुनः सम्यक् आलोचन करके बुद्धिमान को फिर इस भूमि-क्रिया का आलोचन करके पश्चात् बन्धन-विधान करना चाहिये। करक के आचरण में गेहूँ के तंडुल के सदृश अथवा तादृश मृत्तिका पीसकर कल्क बनाना चाहिये। फिर उसका पिण्ड बनाकर उसको धूप में सुखाना चाहिये। सुखाने के साथ साथ उसे क्षपण भी करे तथा गोला भी बनाता रहे। इस प्रकार

से चारों कोनों में इसे सात दिन तक घिसना चाहिये फिर हाथ से उसे मलना चाहिये जिससे यह भौम लवण-पिण्ड हो जावे । अथवा शिक्षिका-भूमि पर स्वर-बन्धन का निर्माण करना चाहिये । तथा पूर्वोक्त कल्क के निर्यास में दन्धन को फेंकना चाहिये । ग्रीष्म काल में पाव भाग से प्रशस्त कहा गया है; शरद् में ३½ अंशों से विधान है। अथच वर्षा-काल मे एक भाग के प्रमाण से देना चाहिये यह निश्चित क्रम है । पाचो भाग के प्रमाण से ग्रीष्म में विधान है । पूर्वोक्त विधान से भूमि मे बन्धन करना चाहिये । और रोमकूर्च (बुरुश) से सूखी मूगी का क्रमशः लेप करना चाहिये । इस प्रकार विचक्षणो को जल से हस्त-लाघव देना चाहिये । इस प्रकार से बनाया गया शिक्षिका-भूमि बन्धन श्रेष्ठ कहलाता है ॥१६½—२३॥

कुड्य-भूमि-बन्धनः—अब कुड्य-भूमि के बन्धन का यथावत् वर्णन करते हैं । स्नुही-वास्तुक, कूष्माण्ड, कुद्दाली —इन वस्तुओं को लाए, अपामार्ग अथवा गन्ने के रस में अथवा दुग्ध में उनको सात रात तक रक्खे । शिशपा, सन और निम्बा तथा त्रिफला और बहेडा इन का यथालाभ समान समान भाग लेकर और कुटज का कषाय-क्षार-युक्त सामुद्रिक नमक से पहले कुड्य (दीवाल) को बराबर बनाकर फिर इन कषायों से सीचे । फिर स्थूल पाषाण-वर्जित चिकनी मिट्टी लाकर दुगना न्यास करके, वालुका-मृदा (वालुकामयी मिट्टी) का क्षोदन करना चाहिये । फिर ककुभ, माष (उडद), शाल्मली श्रीफल इनका रस कालानुसार देना चाहिये । पूर्वकालानुसार से जिस प्रकार का भूमि-बन्धन बताया गया है उसी प्रकार का सब बालू मे एकत्र करके पहले हाथी के चमडे की मोटाई के बराबर दीवाल को लेपे।, पुनः उसे दर्पण-सदृश चिकना एवं प्रस्फुटित कर देवे । विशुद्ध, विमल, स्निग्ध, पांडुर, मृदुल, स्फुट- प्रथम प्रतिपादत कट-शर्करा (भुरभुरी मिट्टी) को विधि-पूर्वक कूट कर और घिसकर कल्क बनाना चाहिये और पूर्वोक्त प्रकार से भक्त-भाग का लेपन और निर्यास करना चाहिए, अथवा उसे कटशर्करा के साथ देना चाहिये । इस प्रकार विचक्षण लोग कुड्य् का लेपन करते हैं । हल से हस्त-मात्र लेपन कर कट.शर्करा देनी चाहिये । इस विधि से कुड्य-बन्धन उत्तम सम्पन्न होता है ।२४—३५॥

पट्ट-भूमि-बन्धन :—अब इस समय पट्ट-भूमि का निबन्धन वर्णन करूंगा । नीम के बीजों को इकट्ठा करके उनके मल को त्याग कर इस प्रकार से उनका छिलका निकाल कर अथवा शालि-तंडुलो को इन दोनो मे से एक को पीसकर बर्तन में पकावे । बंधन से पट्ट को लेपकर पूर्वोक्त-विधान समाचरण करे ।

पूर्वोक्त प्रकार से कटशर्करा को निर्यासित करके फिर पानी से पट्ट को भिगोकर पट्ट का आलेखन करे। इस विधि से चित्र-कर्म में बंधा प्रशस्त होता है अथवा दूसरी विधि से पट्ट-भूमि-बन्धन करना चाहिये। तालादि-पत्रों के निर्यास-समुचित बनाकर तदनन्तर निर्यासयुत कटशर्करा तीन बार देना चाहिये। इस प्रकार से यह पट्ट-भूमि-बन्धन विशेष-रूप से प्रयत्न पूर्वक बनावें।

पट-भूमि बन्धन :—जैसा पट्ट-भूमि-बन्धन में गोमय आदि निर्यास का विधान है उसी प्रकार पट-भूमि-बन्धन भी विहित हैं

"यथा पट्टे तथैव स्याद् भूमिः बन्धः पटेऽपि सः।

इस प्रकार से हमने चित्राङ्ग-विशेष—वर्तिका एवं भूमि-बन्धन के सब साधनों एवं साध्यों का लक्षण-पुरस्सर वर्णन किया। जो शिल्पी इस चित्र-क्रिया में कौशल से कर्म करता है वह विधाता की इस सृष्टि में बड़ी कीर्ति पाता है ॥३६—४४॥

लेप्यकर्मादिक-लक्षण

मृत्तिका और लेखा के लक्षण के साथ अब लेप्य-कर्म का वर्णन किया जाता है ॥ ½ ॥

वापी, कूप, तड़ाग,पद्मिनी, दीर्घिका, वृक्ष-मूल, नदी-तीर और उसी प्रकार गुल्म-मध्य-मे तत्वपूर्वक मृत्तिकाओं के क्षेत्र बताये गये है ॥१½—२॥

उक्त मट्टियों के रंग विभिन्न प्रकार के होते हैं :—सित (सफेद), क्षौद्र-सदृश गौर और कपिल ये चिकनी मिट्टियां ब्राह्मण आदि वर्णों मे क्रमश. प्रशस्त मानी जाती हैं ॥ ३ ॥

यथाशास्त्रानुकूल स्थूलपाषाण-वर्जित मृत्तिका लेनी चाहिये ।

शाल्मली (सेमल), माष (उडद), ककुभ, मधूक (महुआ) तथा त्रिफला इन वृक्षो का रस उस मिट्टी पर डाल कर और बालू को भी मिला कर घोड़े के सटा-लोम अथवा गौओं के रोम या नारियल का वकला देना चाहिये और मिट्टी मे मिला कर कूटना चाहिए अथवा उससे दूनी भूसी मिलानी चाहिये और जितनी बालुका हो उतनी ही मिट्टी मिलानी चाहिए। मिट्टी मे कपास के दो भाग मिलाने चाहिएँ। इन सब को एकत्रित करके तीसरा मिट्टी का भाग ऊपर फेंकना चाहिए। तदनन्तर पूर्वोक्त कटशर्करा को रखकर कल्क बनाना चाहिए और उसे कपड़े से ढक देना चाहिए।

लेप्य-कर्म मृत्तिका-निर्णय के लिये शिल्प-कौशल के साथ साथ आवश्यक विधान भी अनिवार्य है। ब्रुश से कट-शर्करा का लिम्पन, मृत्तिका-क्वाथादि अन्य उपादान भी मानादि के साथ २ भी उपादेय हैं

शास्त्र-प्रतिकूलाचरण से कर्ता का नाश भी प्राप्त होता है ॥४—१२½॥

अब लेखा का लक्षण ठीक तरह से बताया जाता है। पहला कूर्च अथवा कूर्चक, दूसरा हस्त-कूर्चक, तीसरा भाग-कूर्चक चौथा चल्ल-कूर्चक, पाचवा वर्तना-कूर्चक ये पांच प्रकार के कूर्चक (ब्रुश) बताये गए है।

बैल के कान के रोमो से बना हुआ कूर्चक बुद्धिमान मनुष्य को धारण करना चाहिए।

अथवा उसे वल्कलों से अथवा खरकेशरों से बनाना चाहिए। कूर्चक सिद्ध-हस्त के द्वारा जो बनाया जाता है वह प्रशस्त होता है।

तन्तु से कूर्चक विलेखा-कर्म में श्रेष्ठ होता है। पहला वट-वृक्ष के अंकुर के आकार वाला और दूसरा पीपल-वृक्ष के अंकुर के आकार वाला और तीसरा प्लक्ष के अंकुर के आकार वाला, पुनः चौथा उदुम्बर (गूलर) वृक्ष के अंकुर के आकार वाला बताया गया है। वटांकुर-सदृश आदि कूर्चक से मोटी लेखा नहीं बनाना चाहिए और प्लक्ष के अंकुर के समान छोटी लेखा नहीं होनी चाहिए। पीपल के अंकुर के समान जहाँ पर विद्वान लोग लेखा करते हैं वहाँ गूलर (उदुम्बर) के अंकुर के आकार वाला कूर्चक लेप्य-कर्म में प्रशस्त माना जाता है। बाँस का कूर्चक भी चित्र-कर्म में प्रशस्त माना गया है। कूर्चक के दण्ड में वास्तव में वेणु (बाँस) की ही लकड़ी विशेष श्रेष्ठ मानी गयी है ॥१२½–२२½॥

लेप्य-कर्म संक्षेप से बताया गया। पुनः मिट्टी की संस्कार-विधि बताई गई। अथच यहाँ पर ठीक तरह से विलेखनी और कूर्चक की पाँच प्रकार की रचना सम्यक् प्रकार से वर्णन की गई है ॥२३॥

अथाण्डक-प्रमाण-लक्षण

अब प्रक्रम-प्राप्त अण्डक-वर्तना का वर्णन किया जाता है तथा जातिभाव आदि से सम्बन्धित का प्रमाण भी वर्णित किया जाता है ॥१॥

टि० द्वितीय श्लोक भ्रष्ट है अतः अननूद्य ।

शास्त्रानुकूल प्रमाण से गोले का प्रमाण उत्तम बताया गया है । उसी के अनुसार मान और उन्मान बनाना चाहिये ॥२—३॥

मुखाण्डक अर्थात प्रधान अण्डक का विस्तार छै भाग समित विहित है और दो भाग संमित लम्बाई विहित है। सात गोले बनाने चाहियें और इसी प्रकार से बाकी का संस्थान इस प्रधान अण्डक के निर्माण से चित्र-कर्म में उत्तम बताया गया है । तीन कोटि का वृत्त आलेखन करके और अण्डक क्रमश बनाने चाहियें । नाना-विध अण्डकों का निर्माण चित्र-कर्म में आवश्यक है । अण्डक का अर्थ है बादामा । बिना पहिले सोच-विचार के चित्र-न्यास असंभव है । आधे गोले के आयाम से अलसाण्डक बताया गया है और नौ गोले की मोटाई से हास्य ण्डक होता है । पुरुषाण्डक का मान छैं गोलों में आयात और पाच गोलों से विस्तृत होता है । वनिताण्डक नारियल के फल-सदृश आलेख्य होता है । उसका विस्तार चार गोलों से और लम्बाई पाच गोलो से होती है । शिशुओं का अण्डक चित्र-कर्म मे निश्चय ही करना चाहिये। हास्याण्डक भी उसी प्रकार अनिवार्य है। इसी प्रकार से आलस्याण्डक तथा रोदनाण्डक करना चाहिये । हास्याण्डक भी शास्त्रानुकूल विनिर्मेय है । देवाण्डक-प्रमाण आलस्य के समान बताया गया है । वह छै गोलों के विस्तार से और आठ गोलो की लम्बाई से सम्पन्न होता है । वृत्तायत समालेख्य दिव्याण्डक बताया गया है ॥४-१३॥

अब दिव्य और मानुष अण्डकों का लक्षण कहता हूं । आधे गोले से अधिक मानुषाण्डक के प्रमाण से उसे बनाना चाहिये । पाच गोलों से विस्तीर्ण और छै गोलों से आयत मुखाण्डक को मानुष-रूप बनाकर उसे पूर्ण बनाया जाता है। शिशुकाण्डक-प्रमाण से प्रमथों का मुखाण्डक होता है। राक्षसाण्डक-प्रमाण से यातुधानाण्डक होता है । देवों के मुख-सदृश दानवाण्डक बनाना चाहियें और

उसी के समान गन्धर्वों, नागो और यक्षो के अण्डक होते है। विद्याधरो का दिव्य-मानुष-अण्डक समझना चाहिये।१४—१८½॥

कोई लोग शास्त्र जानते हैं, कोई लोग कर्म करते हैं। जो इन दोनो चीजो (शास्त्रार्थ ज्ञान और कर्म कौशल) को करामलकवत् नही जानते हैं पुनः वे शास्त्रज्ञ होकर भी कर्म को नही जानते और कर्मज्ञ होते हुये शास्त्र को नही जानते और जो दोनो को जानते हैं वे ही श्रेष्ठ चित्रकार कहलाते हैं॥१८½-२०½॥

टि० इस अध्याय में कुछ विगलन प्रतीत होता है जैसा हमने मूल मे अपने परिमार्जित संस्करण मे निर्दिष्ट किया है।

चित्रकर्म-मानोत्पत्ति-लक्षण

चित्र-कर्म-मानोत्पत्तिलक्षण :— अब परमाणु आदि जो मान-गणना होती है उसका वर्णन करता हूं ॥१॥

परमाणु, रज, रोम, लिक्षा, यूका, यव, अंगुल क्रमशः अठगुणी वृद्धि से इस प्रकार से मान का अंगुल होता है—अर्थात ८ परमाणु का रज, ८ रज का रोम, ८ रोम की लिक्षा, ८ लिक्षा की यूका, ८ यूका का यव और ८ यव का अंगुल होता है। दो अंगुल वाला गोलक समझना चाहिये। अथवा उसको कला कहा जाता है। दो कलाओं अथवा दो गोलकों, किसी इन दोनों में से, उस प्रमाण एवं भाग तथा उसी प्रमाण से एवं आयाम से विस्तार का न तो कम न ज्यादा चित्र-निर्माण करना चाहिये ॥२ ४½॥

देवता आदि के शरीर, विस्तार से आठ भाग वाले होते हैं और उनका यह शरीर चित्र-शास्त्रियों को तीस भाग की लंबाई से बनाना चाहिये। असुरों का शरीर तो साढ़े सात भागों से विस्तृत और उन्तीस भाग से लंबा बनाना इष्ट बताया गया है। राक्षसों का शरीर सात भाग से विस्तृत और सत्ताईस भाग से आयत होता है और दिव्य-मानुष के शरीर तो शास्त्रानुकूल विहित हैं। छैः भाग में विस्तृत मनुष्यों का करना चाहिये और उनकी लंबाई साढ़े चौबीस भागों से बनाना चाहिये। यह मान हमने उत्तम पुरुष का बताया है। मध्यम पुरुष का तो विस्तार साढ़े पांच भाग का होता है और उसका आयाम तो २३ भागों का बताया गया है और कनिष्ठ शरीरों का विस्तार पांच भाग के प्रमाण का होता है और इस शरीर का आयाम बाईस भागों का प्रशस्त माना गया है। कुब्जों (कुबड़ों) के शरीर का विस्तार पांच भाग से और दैर्घ्य चौदह भागों से बनाना चाहिये। अन्य विकट-प्रमाण, जैसे वामनादि अर्थात् बौनों के भी शास्त्रा-नुसार विनिर्मेय हैं। किन्नरों का भी यही प्रमाण बताया गया है। प्रमथों के शरीर का विस्तार तो चार अंशों से बनाया गया है और लंबाई छैः अंशों से। यह अलग २ हमने देह के प्रमाण को भाग-सूत्र बताया। देवों का, असुरों का

और उसी प्रकार राक्षसों का, दिव्य-मानुषों का, मर्त्यों का तथा कुब्जों और वामनों, इन दोनों का भी और भूतों सहित किन्नरों का क्रमशः इसमें उदाहरण दिया गया ॥४३—१७३॥

टि॰ यहां पर मण्डक-वर्तन अथवा उसका विलेखन-क्रम आपतित सा प्रतीत होता है ।

अब मानोत्पत्ति का यथावत वर्णन करता हूं। देवों के तीन रूप होते हैं। मुरज, ...(?) तथा कुम्भक; दिव्य-मानुष का एक दिव्य-मानुष शरीर; असुरों के तीन रूप—चक्र, उत्तीर्णक और दुर्दर तथा राक्षसों के फिर दो—शकट और कूर्म। मनुष्यों के पांच रूप होते हैं जिनका क्रमशः वर्णन करता हूं :—

हंस, शशक, रूचक, मालव्य तथा भद्र—ये पांच पुरुष होते हुए ॥१७३-२१॥

कुब्जक दो प्रकार के—मेष तथा वृतक; वामन तीन प्रकार के—पिण्ड, आस्थान और पद्मक; प्रमथ भी तीन प्रकार के हैं—कूष्माण्ड कर्वट तथा तिर्यक; किन्नर भी तीन प्रकार के होते हैं—मयूर, कुर्बट और काश ॥२२-२३॥

स्त्रियां—बलाका, पौरुषी वृत्ता, दण्डका तथा ....? ये चित्र-शास्त्रियों के द्वारा सब पांच प्रकार की बताई गई हैं ॥२४॥

भद्र, मन्द, मृग और मिश्र—यह चार प्रकार का हाथी होता है और उत्पत्ति के हिसाब से यह तीन प्रकार के बताये गये हैं—पर्वताश्रय नद्याश्रय, ऊपराश्रय। पारस (फारस) से लगा कर उत्तर (देश वाची) तक रम्य घोड़े दो प्रकार के होते हैं। सिंह चार प्रकार के होते हैं—शिखराश्रय, बिलाश्रय, गुल्माश्रय और तृणाश्रय। व्याल सोलह प्रकार के होते है—हरिण, गृधक, शुक, कुक्कट, सिंह, शार्दूल, वृक, अजा, गंडकी, गज, क्रोड, अश्व, महिष, श्वान, मर्कट और खर ॥२५-३०॥

टि॰ अग्रार्ध (२८३—३०) पुनरुक्त एवं भृष्ट भी अतः अनुवादानर्पेक्ष्य।
विशेष :—इस मूलाध्याय का ३१-३८३ प्रतिमा-लक्षण-नामक अध्याय का प्रक्षिप्तांश है, अतः वह तत्रैव परिमार्जित संस्करण में प्रतिष्ठित किया गया है।

इस प्रकार सभी जातियों को दृष्टि मे रखकर यह सब मान-प्रमाण कहा गया। दिव्य आदि सभी जातियों का जो अखिल मानादि-कीर्तन किया, उसको स्फुट-रूप से समझ कर जो चित्रालेखन करता है उस के लिए सभी चित्रकार उस को अपना प्रधान मानते हैं तथा महान आदर करते हैं ॥३१॥

अध्याय ५५

रसदृष्टि-लक्षण

चित्र-रसः—अब रसों का और दृष्टियों का यहाँ पर इस वास्तु-शास्त्र में, लक्षण कहूँगा। क्योंकि चित्र में रस के आधीन ही भाव-व्यक्ति होती है। शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, प्रेय, भयानक, वीर, प्रत्याय (?) और वीभत्स तथा अद्भुत और शान्त—ये ग्यारह रस, चित्र-विशारदों के द्वारा बताये गये हैं। अब इन सब रसों का क्रमशः लक्षण कहा जाता है ॥१—३॥

शृंगारः—भ्रूकम्प-सहित तथा प्रेम-गुणान्वित शृंगार रस बताया गया है और इस रस में अपने प्रिय के प्रति मनोहर (ललित) चेष्टायें होती है ॥४॥

हास्यः—अपांग आदि को ललित एवं विकसित करने वाला तथा अधरों को स्फुरित करने वाला, मृदु लील-सहित जो रस होता है, वह हास्य-रस के नाम से पुकारा जाता है ॥५॥

करुणः—आँसुओं से कपोल-प्रदेश को क्लिन्न करने वाला, शोक से आँखों को संकुचित करने वाला और चित्त को संताप देने वाला करुण-रस कहलाता है ॥६॥

रौद्रः—जिस रस से ललाट-प्रदेश निर्माजित हो जाता है, आँखें लाल हो जाती है, अधरोष्ठ दाँतों से काटे जाते हैं, उसे रौद्र-रस कहते हैं ॥७॥

प्रेमा-रसः—अर्थ-लाभ, पुत्र-उत्पत्ति, प्रिय-जनों का समागम और दर्शन, जात-हर्ष से उत्पन्न होने वाला तथा शरीर को पुलकित करने वाला प्रेमा-रस कहा जाता है ॥८॥

भयानकः—शत्रु-दर्शन से उत्पन्न त्रास एवं सम्भ्रम से लोचनों को उद्भ्रान्त करने वाला और हृदय को संक्षुब्ध करने वाला भयानक रस कहलाता है ॥९॥

वीरः—धैर्य, पराक्रम एवं बल को उत्पन्न करने वाला—वह रस वीर के नाम से प्रसिद्ध होता है ॥१०॥

टि०:—यहाँ पर वीर के बाद अन्य दो रसों का लोप हो गया है। ग्रन्थ भ्रष्ट एवं गलित है।

अद्‌भुत-रसः दो तारकाओं को स्तिमित करने वाला, यह रस असम्भाव्य वस्तु को देखकर अद्‌भुत-रस की संज्ञा से प्रसिद्ध होता है ।।११।।

शान्त-रस – बिना विकारों के शान्त एवं प्रसन्न भ्रू नेत्र तथा वदन आदि से एवं विषय-वैराग्य से यह रस शान्ति-रस के नाम से प्रचलित होता है ।।१२।

इस प्रकार चित्र-संयोग में सलक्षण इन रसों का प्रतिपादन किया गया है। मानव-सम्बन्ध-पुरस्सर सब सत्वों अर्थात प्राणियों में इनको नियोजित करना चाहिये ।।१३।।

चित्र-रस-दृष्टियां: अब रस-दृष्टियों का वर्णन करता हूँ। ये अठारह बताई गई हैं :–

(१) ललिता (२) हृष्टा, (३) विकासिता, (४) विकृता, (५) भ्रुकुटि, (६) विभ्रमा, (७) संकुचिता, (८) ऊर्जिता (?) (९) ऊर्ध्वगता, (१० योगिनी, (११) दीना, (१२) दृप्ता, (१३) विह्वला, (१४) शंकिता, (१५) विदिहमा, (?), (१६) जिह्मा, (१७) मध्यस्था एवं, (१८) स्थिरा—ये अठारह दृष्टियां होती हैं। अब इनका क्रमशः लक्षण कहा जाता है ।।१४-१६।।

ललिताः—विकसित-मुखाब्ज, कटाक्ष-विक्षेप वाली शृंगार रस से उत्पन्न ललिता दृष्टि समझनी चाहिये ।।१७।।

हृष्टाः—प्रिय-दर्शन पर प्रसन्न और पूर्ववत रोमाञ्च करने वाली तथा अपांगों को विकसित करने वाली हृष्टा नाम की दृष्टि प्रसिद्ध होती है ।।१८।।

विकासिताः—नयन-प्रान्तों को विकसित करने वाली तथा अपांगों, नयनों एवं गण्ड-स्थलों को विकसित करने वाली क्रीडा-चापल्य-युत हास्य-रस में विकासिता दृष्टि होती है ।।१९।।

विकृताः—भय को व्यक्त करने वाली और जिस में तारकायें भ्रान्त होने लगती हैं, उस भयानक रस में इस दृष्टि को विकृता नाम से पुकारा जाता है।।२०।।

भ्रुकुटि :—दीप्त ऊर्ध्वतारका के रक्त वर्ण होने से मन्द-दर्शना तथा ऊर्ध्व-निविष्टा दृष्टि को भ्रुकुटि बताया गया है ।।२१।।

विभ्रमा :-सत्व-स्था, दृष्ट-लक्ष्मा, सुन्दर-तारका, सौम्या एवं उद्वेलिता इस दृष्टि को विभ्रमा नाम से बताई गई है ।।२२।

संकुचिता :-मन्मथ-मद से युक्त, स्पर्श-रस से उन्मीलित, दोनों अक्षि-पुटों वाली, सुरतानन्द से युक्त संकुचिता नाम की यह दृष्टि विख्यात होती है ।।२३।।

योगिनी :—निर्विकारा, कहीं पर नासिका के अग्र भाग को देखने वाली अर्थात् ध्यानावस्थित चित्त के तत्व में रममाणा योगिनी नाम की दृष्टि होती है ॥२४॥

दीनाः—अर्ध-स्रस्तोत्तर-पुटा अर्थात् ओष्ठादि-वदन अवनत से प्रतीत हो रहे हों, पुन: कुछ मन्द-तारका, मन्द-सञ्चारिणी, शोक मे आसुओं से युक्ता, दीना नाम की दृष्टि कही गई हैं ।२५॥

हृष्टाः—जिसकी तारकायें स्थिर हों और जिसकी दृष्टि स्थिर एवं विस्मित प्रतीत हो रही हों, वह उत्साह से उत्पन्न होने वाली हृष्टा नाम की दृष्टि बताई गई है ॥२६॥

विह्वला :—भ्रू-पुट तथा पक्ष्मों को म्लान करने वाली, शिथिला, मन्द-चारिणी तथा तारकाओं से आभासित वह विह्वला नाम की दृष्टि बताई गई हैं ॥२७॥

शंकिता :—कुछ चञ्चल, कुछ स्थिर, कुछ उठी हुई, कुछ टेढ़ी-मेढ़ी और चकित-तारा दृष्टि को शंकिता नाम से पुकारते हैं २८॥

जिह्मा :—जिसके मुखाङ्ग अर्धा पुट लम्बित हो रहे हो, दृष्टि टेढी तथा रुक्ष दिखाई पड़ रही हो, ऐसी निगूढ़ा और मूढ-तारा को जिह्मा दृष्टि कहते हैं ॥२९-३०॥

मध्यस्थाः—सरल-तारा, सरल-पुटा, प्रसन्ना, राग-रहिता, विषय-पराङ्मुखा ऐसी मध्यस्था दृष्टि कहलाती है ॥३१॥

स्थिरा :—सम-तारा, सम-पुटा तथा सम-भ्रू वाली, अविकारिणी और रागों से विहीन स्थिरा दृष्टि कहलाती है ॥३२॥

हस्त से अर्थ को सूचित करता हुआ तथा दृष्टि से प्रतिपादित करता हुआ सब अभिनय-दर्शन से सजीव सा जो प्रतीत हो अर्थात जो नाट्य में अनिवार्य एवं आवश्यक अंग है, वही चित्र में भी अनिवार्य है ॥३३-३४॥

इस प्रकार से यहा पर रसों का तथा दृष्टियो का संक्षेप से लक्षण कहा गया। लिखने वाला मनुष्य चित्र का यथावत् ज्ञान-सम्पादन करके कभी संशय को नहीं प्राप्त होता है ॥३५॥

षष्ठ पटल

चित्र एवं प्रतिमा—दोनों के सामान्य अङ्ग

१. प्रतिमा एवं चित्र के द्रव्य

२. प्रतिमा एवं चित्र में चित्र्य देवादिकों के रूप एवं प्रहरण आदि लाञ्छन

३. प्रतिमा एवं चित्र के दोष-गुण

४. प्रतिमा एवं चित्र की आदर्श आकृतियां (Models) एवं उनके मान

५. प्रतिमा एवं चित्र में मुद्रायें :—

(अ) शरीर-मुद्रायें

(ब) पाद-मुद्रायें

(स) हस्त मुद्रायें

प्रतिमा-लक्षण

अब प्रतिमाओं—चित्रों का लक्षण कहता हूं। उनके सात निर्माण-द्रव्य प्रकीर्तित किये गये हैं वे हैं सुवर्ण (सोना), रजत (चाँदी), ताम्र (तांबा), अश्मा (पाषाण-पत्थर), दारु (लकडी), लेप्य अर्थात मृत्तिका तथा अन्य लेप्य जैसे मार्तिक और ताण्डुल आदि तथा अलेख्य अर्थात चित्र। ये सब शक्यानुसार विहित एवं निर्माण्य बताये गये हैं।। पूजा-चित्रों में इस प्रकार से ये प्रतिमा-द्रव्य सात प्रकार के बताये गये हैं। सुवर्ण पुष्टि-प्रदायक माना गया है, रजत कीर्ति-वर्धन-कारी, ताम्र प्रजा-वृद्धि-कारक, शैलेय अर्थात पाषाण, भूज या वह कांस्य-द्रव्य आयुष्य-कारक और लेप्य तथा अलेख्य ये दोनों धन प्राप्ति-कारक कहे गये है॥ १—३॥

विद्वान ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय स्थपति को विधि-पूर्वक प्रतिमा-निर्माण तथा यह चित्र कर्म-प्रारम्भ करना चाहिये। वह हविष्य-नियताहारी तथा जप-होम-परायण और धरणी अर्थात् पृथ्वी पर सोने वाला होना चाहिये ॥४-५½॥

टि० पूर्वाध्याय के अन्तिम पृष्ठ पर जो प्रक्षेप बताया गया है वह यहा पर लाना प्रासंगिक माना गया है। अतः वह यहा पर संयोज्य है :—

"मुख का भाग से विधान है। ग्रीवा मुख से तीन भाग वाली बतायी गयी है। आयामानुरूप केशान्त पूर्ण मुख द्वादशांगुल विस्तारानुरूप परिकल्प्य है। दोनों भौहों का प्रमाण त्रिभाग से विहित है। नासिका भी त्रिभाग-परिकल्प्य है। उसी प्रकार ललाट का प्रमाण भी विहित है। ऊंचाई में तीन के बराबर मुख कहा गया है। दोनों आंखें दो अंगुल के प्रमाण मे होती हैं। उसका विस्तार आधा कहा गया है। अक्षि-तारका आख के तीन भाग से सुप्रतिष्ठित करणीय है। पुनः इन दोनो तारकाओं के मध्य मे ज्योति (आंख की ज्योति) तीन अंश से परिकल्प्य है। इसी प्रकार इन अखिल मुखांगो का प्रमाणानुरूप परिकल्पन विहित है ॥५½-१०½

पाच अक्ष के प्रमाण से ... (?) दोनों का मध्य बनाना चाहिये। नेत्रों और कानों का मध्य पाच अंगुल का होता है। ऊंचाई से दुगने

आयत वाले दोनो कान आख के समान समझने चाहियें। कर्ण-पाली तथा उसके अन्य उपाग भी शास्त्रानुकूल निर्मेय हैं। वह मीचे हुए धनुष की आकृति-वाली अरोम-प्रभवा समझनी चाहिये। इसी प्रमाण से इन का कर्ण-पृष्ठाश्रय भी होना चाहिये ॥१०३—१४॥

ऊर्ध्व-बंध से कर्ण-मूल-समाश्रित अधोबंध वह होता है। आधे २ से गोलक समझना चाहिये और पीछे से इसी प्रकार विधान है। निष्पाव के सदृश आकार वाली कर्ण-पिप्पली बनानी चाहिये। उसका आयाम एक अगुल का और विस्तार चार यवो का होना चाहिये। पिप्पली के बीच लाकार मध्य में ध्कार 'र' इसकी सज्ञा लकार दी गयी है, इसका आयाम आधे अंगुल का और विस्तार पूरे अगुल का होना चाहिये। बीच में जो लकार है उसका विस्तार चार यवों के निम्न से होना है। पिप्पली के मूल में चार यव के प्रमाण से कर्ण-छिद्र होता है। जो स्तुतिदा की संज्ञा पीयूषी गोलाकार बनायी गयी है, वह आधे अंगुल से आयत और दो यवो के विस्तार से बनायी जाती है। लकार और आवर्त (परदा) के मध्य में उसको पीयूषी के नाम से पुकारते हैं। वह दो अंगुल के आयाम वाली और डेढ अंगुल के विस्तार वाली होती है। कान की जो बाह्य रेखा होती है उसको भी आवर्त कहते है। वह छै अंगुल का प्रमाण वाला वक्र और वृत्तायत होता है। मूल का अंश आधे अंगुल का बनाना चाहिये और क्रमशः मध्य में दो यव का। फिर आगे एक यव के प्रमाण के विस्तार से बनाया जाता है। लकार और आवर्त के मध्य को उद्धान के नाम से पुकारा जाता है। ऊपर से गोलक से दो यव से युक्त कर्ण का विस्तार होता है। मध्य में दुगुना नाल और मूल में छै यवों से इन दोनो समुदायों के प्रमाण से आयामादि विहित है। इसी प्रकार अन्य भाग विहित हैं। पश्चिम नाल एक अंगुल के प्रमाण से बनाया जाता है तथा दो सुकोमल नाल दो कलाओं के आयत से बनाना चाहिए। कान के भाग का इस प्रकार सम्यक् वर्णन कर दिया गया। उसका प्रमाण तो कम और न अधिक होना चाहिये। तब उसका कौशल प्रशस्त माना जाता है, अन्यथा दूषित ॥५१-२१॥

चिबुक (ठोडी) अंगुल के आयाम से बनाया जाता है। उसके आधे से कन्धर बताया गया है, फिर उसके आधे से उत्तरोष्ठ होता है और बाकी आधे अंगुल की ऊंचाई से बनायी जाती है। ओठो के चतुर्थ भाग से दोनों नासा-पुट समझने चाहिये। उनके दोनों प्रान्त कन्वीर के समान सुन्दर बनाने

तारकान्त-सम ही स्तवकरणी कही गयी है। चार अंगुल के प्रमाण से आयात नासिका होती है। पुट के प्रान्त पर नासिका का अग्र-भाग दो अंगुल से विस्तृत होता है। आठ अंगुल से विस्तृत चार अंगुल मे आयत ललाट बताया गया है। चिबुक (ठोडी) से प्रारम्भ कर केशो के अन्त तक तथा गंड तक पूरे शिर का प्रमाण बत्तीस अंगुल का होता है। पुनः दोनो कानो के बीच का विस्तार-प्रमाण अठारह अंगुल होना है। चौबीस अंगुलो का परीणाह होता है। गर्दन ग्रीवा से वक्ष-स्थल, पुन वक्षःस्थल से नाभि होती है। नाभि से मेढ़, फिर दो जंघायें, फिर उरुओ के समान दो जघायें, दो घुटने चार अंगुल वाले होते हैं। चौदह अंगुल के आयाम प्रमाण से दोनो पैर (पाद) बताये गये हैं और उनका विस्तार छै अंगुल का होना चाहिये और ऊचाई चार अंगुल की। पाच अंगुल की मोटाई मे और तीन अंगुल की लम्बाई मे दोनो अंगूठे होते हैं। अंगूठे की लम्बाई के समान ही प्रदेशिनी (पहिली अंगुली) है। उसके सोलह भाग से हीन बीच की अंगुली, बीच की अंगुली के आठवे भाग से हीन अनामिका को समझना चाहिये। फिर उसके आठवें भाग से हीन कनिष्ठिका अंगुली समझनी चाहिये। विद्वान को पादकम एक अंगुल के प्रमाण से अंगूठे का नख बनाना चाहिये और अंगलियो के नखो को आठ अंशो के प्रमाण से बनाना चाहिये। अंगूठे की ऊचाई एक अगुल एव तीन यवो के प्रमाण से बनाना चाहिये। प्रदेशनी एक अगुल की ऊचाई मे हीन, शेष क्रमशः। जघा के मध्य मे अठारह अंगुल का परीणाह होता है और जानु के मध्य का परीणाह इक्कीस अंगुल का होता है। उसी के सातवें भाग को जानु-कपालक समझना चाहिये। दोनो ऊरुवो के मध्य का परीणाह बत्तीस अगुल का होना चाहिये। वृषण पर स्थित मेढ़ का परीणाह छै अगुल का होता है और कोष तो चार अगुल वाला तथा अठारह अगुल के विस्तार से कटि होती है ॥२२-३८॥

जहा तक स्त्री-प्रतिमाओ के निर्माण का विषय है, वहां उसके विशिष्ट (पुरुष-प्रतिमा-व्यतिरिक्त) अग शास्त्रानुकूल निर्मेय हैं। नाभि के मध्य मे छियालीस अंगुलो का परीणाह होता है। स्तनो का अन्तर बारह अगुल के प्रमाण से बताया गया है। दोनों स्तनों के ऊपर तो दोनो कक्ष-प्रान्त छै अंगुल के प्रमाण से बनाये जाते हैं। ऊंचाई से चौबीस अंगुलो से युक्त पृष्ठ-विस्तार होता है और वक्षस्थल का परीणाह पृष्ठ के साथ बताया गया है। जहां तक स्त्री-प्रतिमाओ की अंगुलियों के मान की बात है वह भी शास्त्रानुकूल है। बत्तीस अंगुलों के परीणाह से विस्तृत ग्रीवा बनानी चाहिये। छियालीस अंगुल के प्रमाण

से भुजा की लंबाई बतायी गयी है। बाहु के पहिले की पर्व अठारह अंगुल से और दूसरी पर्व तो सोलह अंगुल से बतायी गयी है । बाहु मध्य मे परीणाह १८ अंगुल का होता है और प्रबाहु का परीणाह बारह अंगुल से और तल भी बारह अंगुल के प्रमाण से बताया गया है । अंगुली-रहित, बुद्धिमानों के द्वारा उसे सप्तांगुल बताया गया है । पांच अंगुल से विस्तीर्ण लेखा-लक्षण से लक्षित पांच अंगुल के प्रमाण से मध्यमा अंगुली बनानी चाहिए। मध्म के पर्व के आधे से आगे हीन प्रदेशिनी अंगुली समझनी चाहिए और प्रदेशिनी के समान ही आयाम से अनामिका विहित है। फिर आधे पर्व के प्रमाण से हीन कनिष्ठिका बनानी चाहिए। पर्व के आधे प्रमाण से अंगुलियों के सब नाखून बनाने चाहियें। इनका परीणाह आयाम-मात्र बताया गया है। अंगूठे का दैर्घ्य चार अंगुलों का होता है। स्पष्ट, चारु अर्थात् सुन्दर यवाकित पञ्चांगुल इसका परीणाह विहित है। ऊंचाई के अनुकूल ही मान-पर्यन्त में कुछ हीन नख बताये गये हैं। अंगुष्ठ और प्रदेशिनी का अन्तर दो अंगुल का होना है ॥३६-५१॥

स्त्रियों का इसी प्रकार से स्तन, उरु, जघन अधिक होता है। तीन, चार, चार तीन, अथवा केवल चार अधिक होता है। ग्यारह, अथवा दस अथवा तेईस तेईस—यह सब स्त्रियों का कनिष्ठ मान बताया गया है और मध्य-मान ग्यारह अंश का होता है। आठ कला का मान उत्तम प्रमाण बताया गया है। उनके वक्षःस्थल का विस्तार अठारह अंगुल से करना चाहिए और कटि का विस्तार चौबीस अंगुल में करना चाहिये ॥५२-५५॥

प्रतिमाओं का यह संक्षेप प्रमाण बताया गया है ॥५६$\frac{1}{2}$॥

सकल देवों की पूजाओं मे क्रमशः यह प्रमाण निर्दिष्ट किया गया। अतः शिल्पियों को सावधानी से यथोचित द्रव्य-संयोग मे इन प्रतिमाओं का निर्माण करना चाहिये ॥५७॥

देवादि-रूप-प्रहरण-संयोग-लक्षण

अब देवताओं के आकार और अस्त्र-शस्त्र का वर्णन करता हूँ और उसी प्रकार दैत्यों के, यक्षों के, गन्धर्वों, नागों और राक्षसों के तथा विद्याधरों और पिशाचों के भी विवरण प्रस्तुत करता हूँ ॥१½॥

ब्रह्मा :-अग्नि की ज्वालाओं के सदृश, महा तेजस्वी बनाने चाहियें और स्थूलाग, श्वेत-पुष्प धारण किये हुए, श्वेत-वस्त्र पहने हुए और कृष्ण मृग-चर्म को उत्तरीय (ऊर्ध्व-वस्त्र) धोती के रूप मे धारण किए हुए सफेद कपडो की ड्रेस मे चार मुख वाले बनाने चाहियें। इनके दोनो वाम हस्तो मे दण्ड और कमण्डलु का न्यास करना चाहिए, उसी प्रकार उन्हें मौञ्जी मेखला और माला धारण किए हुए बनाना चाहिए, और दक्षिण हाथ मे संसार की वृद्धि करते हुए बनाना चाहिए। इस प्रकार बनाने पर संसार में सब जगह क्षेम होता है और ब्राह्मण लोग सब कामनाओं से बढते है, इसमें कोई शक नही। जब विरूपा, दीना कृशा, रौद्रा, कृशोदरी यदि ब्रह्मा जी की प्रतिमा बनाई जाय तो वह कल्याण-कारक नही होती है। रौद्र-मूर्ति, बनवाने वाले को मारती है और दीन-रूपा कारीगर को मारती है। कृशा मूर्ति बनवाने वाले को सदा विनाश प्रदान करती है और कृशोदरी तो दुर्भिक्ष लाती है और कुरूपा अनपत्यता को प्रदान करती है। इस लिये इन दोषों को छोड कर यह प्रतिमा ब्राह्म-प्रतिमा-निर्माण-कुशल शिल्पियों द्वारा सुन्दर बनानी चाहिये ॥१½-६॥

शिव :— प्रथम यौवन में स्थित, चन्द्राङ्कित-जटा-धारी श्रीमान्, संयमी, नीलकंठ, विचित्र-मुकुट, निशाकर-चन्द्र-सदृश तेजस्वी भगवान् शम्भु की प्रतिमा बनानी चाहिये। दो हाथों से, चार हाथो से अथवा आठ हाथो से युक्त वह मूर्ति बनायी जानी चाहिए। पट्टिश अस्त्र से व्यग्र-हस्त, सर्पो और मृग-चर्म से युक्त, सर्व-लक्षण-संपूर्ण तथा तीन नेत्रों से भूषित इस प्रकार के गुणों से युक्त जहां लोकेश्वर भगवान् शिव बनाये जाते हैं, वहा पर राजा और देश अर्थात् राष्ट्र की परम उन्नति होती है ॥१०-१३½॥

जब जगल मे अथवा श्मशान मे महेश्वर की प्रतिमा बनायी जाती है तो

वहा भी यह रूप कुछ भिन्न बनाना चाहिये—विशेषकर आकृति एवं हस्त-प्रयोग। ऐसा रूप बनाने पर बनवाने वाले का कल्याण होता है। अठारह बाहु वाले अथवा बीस बाहु वाले अथवा सात बाहु वाले अथवा कभी सहस्र बाहु वाले, रौद्र रूप धारण किये हुए, गणो से घिरे हुए, सिंह-चर्म को उत्तरीय-वस्त्र के रूप मे धारण किये, तीक्ष्ण दंष्ट्रा के समान आगे के दाँत वाले, शिरोमालाओं से विभूषित चन्द्र से अंकित मस्तक वाले, श्रीमान, पीनवक्षस्थल तथा भयंकर दर्शन वाले इस प्रकार श्मशान-स्थित भद्र-मूर्ति महेश्वर का निर्माण करना चाहिये। ॥१३३-१७३॥

दो भुजा वाले राजधानी मे और पत्तन (शहर) मे चतुर्भुज तथा श्मशान और जंगल के बीच मे बीस भुजाओं वाले महेश्वर की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिये ॥१७३-१८३।

यद्यपि भगवान भद्र (शिव) एक ही हैं, स्थान-भेद से वे भिन्न-भिन्न रूप वाले तथा रौद्र और सौम्य स्वभाव वाले विद्वानो के द्वारा निर्मित होते हैं। जिस प्रकार से भगवान् सूर्य उदय-काल मे सौम्य-दर्शन होते हुये भी मध्याह्न के समय प्रचण्ड हो जाते हैं, इसी प्रकार अरण्य मे स्थित ये भगवान् शंकर निरन्तर ही रौद्र हो जाते हैं। वहीं फिर सौम्य स्थान मे अवस्थित होने पर सौम्य हो जाते हैं। इन सब स्थानो को जानकर किम्पुरुष आदि प्रमथो के सहित लोक-शंकर का निर्माण करना चाहिये। इस प्रकार से त्रिपुर-शत्रु भगवान् शंकर का यह संस्थान सम्यक् प्रकार से वर्णन किया गया है ॥१८३-२२॥

कार्तिकेय:—अब इस समय कार्तिकेय भगवान् स्वामि-कार्तिकेय के संस्थान का वर्णन किया जाता है। तरुण-सूर्य-सदृश, रक्त-वस्त्र धारण किये हुये, अग्नि के समान तेजस्वी, बुद्ध बालाकृति धारण किये हुए, सुन्दर, मङ्गल-मूर्ति, प्रिय-दर्शन, प्रसन्न-वदन, श्रीमान, ओज और तेज से युक्त विशेषकर चित्र-विचित्र मुकुटो और मुक्ता-मणियो से विभूषित छैं मुख वाले अथवा एक मुख वाले रोचिष्मती-शक्ति अर्थात् अस्त्र को धारण किये हुये कार्तिकेय की प्रतिमा का संस्थान बनाया गया है। नगर मे बारह भुजाओं की मूर्ति बनानी चाहिये, खेटक मे छै भुजाओं की विहित है। कल्याण चाहने वालो को ग्राम मे दो भुजाओं वाली प्रतिमा की सन्निवेश करना चाहिये। शक्ति, शर, खड्ग, भुसुण्डी और मुद्गर—ये पाचो आयुध इनके दक्षिण हाथो मे दिखाने चाहिये। एक हाथ प्रसारित भी होना चाहिये। इस प्रकार से दूसरा छठा हाथ बताया गया है। धनुष, पताका,

घंटा खेट, और कुक्कुट (जो Improvised object-weapan बोध्य है)-ये पाच आयुध बायें हाथ मे बनाये गये है। तो छठा हाथ वहा पर संवर्धनकारी हस्त (हस्त-मुद्रा) वाला होना है। इस प्रकार से आयुधो से सम्पन्न, संग्राम-भूमि में स्थित बनाये जाते हैं। अन्य अवसर पर तो उन्हें क्रीडा और लीला से युक्त बनाना चाहिये। छाग (बकरा), कुक्कुट (मुर्गा) से युक्त तथा मयूर से युक्त मनोरम भगवान् स्कन्द का शत्रुओ पर विजय करने की इच्छा करने वालो को सदा नगरो मे बनाना चाहिये। खेटक मे तो षण्मुख, ज्वलन-प्रभ तथा तीक्ष्ण अंकुरो से युक्त और पुष्प-मालाओं से सुशोभित बनाना चाहिए। ग्राम मे भी कान्ति और द्युति से युक्त उन्हे दो भुजा वाला बनाना चाहिये। दक्षिण हाथ में तो शक्ति होती है और वाम-हस्त मे कुक्कुट। इस प्रकार से विचित्र-पक्ष बड़े महान तथा सुन्दर विनिर्मेय है। पुर मे खेटक में और ग्राम मे इस प्रकार शास्त्रज्ञ आचार्य, भगवान् मंगलकारी कार्तिकेय की मूर्ति का निर्माण करते हैं। अविरुद्ध कार्यों में खेट, ग्राम तथा उत्तम पुर मे कार्तिकेय का यह संस्थान प्रयत्न-पूर्वक बनवाना चाहिये ॥२३-३५॥

बलराम:-बलराम तो सुन्दर भुजाओ वाले तालकेतु धारण किये हुए महाद्युति, वन-माला-कुल-वक्षस्थल वाले, चन्द्र-सदृश-कान्ति वाले, हल और मुसल धारण करने वाले, महान् घमंडी चतुर्भुज, सौम्य-मुख, नीलाम्बर-वस्त्र-धारी, मुकुटो एवं अलंकारो मे तथा चन्दन से विभूषित रेवती-सहित बलदाऊ की मूर्ति का निर्माण करना चाहिय ॥३६-३८॥

विष्णु.—विष्णु वैदूर्य-मणि के सदृश पीताम्बर धारण किये हुए, लक्ष्मी के साथ, वाराह-रूप में, वामन-रूप मे अथवा भयानक नृसिंह-रूप में अथवा दाशरथि राम-रूप मे, वीर्यवान जामदग्नि के रूप म, दो भुजा वाले अथवा आठ भुजा वाले अथवा चार बाहु वाले अरिन्दम, शंख, चक्र, गदा को हाथ मे लिये हुये ओजस्वी कान्तिमान् नाना-रूप-धारी इस रूप में प्रतिमा में विभाव्य है। इस प्रकार से सुरो और असुरो से अभिनन्दित भगवान् विष्णु की प्रतिमा का सन्निवेश करना चाहिए ॥३९-४२½॥

इन्द्र:-देवाधीश इन्द्र, वज्र धारण किये हुये, सुन्दर हाथो वाले, बलवान किरीट-धारी गदा-सहित श्रीमान् श्वेताम्बर-धारी, श्रोणि-सूत्र से मण्डित, दिव्याभरणो से विभूषित, पुरोहित-सहित, राज-लक्ष्मी से युक्त, इन्द्र को बनवाना चाहिये ॥४२½-४४½॥

यम:—वैवस्वत यम-राज (धर्मराज) समझना चाहिये। तेज में सूर्य के सदृश, सुवर्ण-विभूषित सम्पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाले पीताम्बर-वस्त्र-धारी और शुभ-दर्शन, विचित्र मुकुट वाले तथा वरांगद-विभूषित बनाना चाहिये ॥४४½-४६½॥

ऋषि-गण.—तेज से सूर्य के सदृश बलवान एवं शुभ भरद्वाज और धन्वन्तरि बनाने चाहियें। दक्ष आदि आर्ष प्रजापति भी इसी प्रकार परिकल्प्य हैं ॥४६½-४७॥

अग्नि:—ज्वालाओं से युक्त, अग्नि की प्रतिमा बनानी चाहिये। उसकी वैसे तो कान्ति तो सौम्य ही होनी चाहिये ॥४८½॥

राक्षसादि.—ये रुद्र-रूप-धारी, रक्त-वस्त्र धारण करने वाले, काले, नाना आभूषणों एवं आयुधों से विभूषित सब राक्षस बनाने चाहियें ॥४८½-४९॥

लक्ष्मी—पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाली, शुभ्रा, बिम्बोष्ठी, चारु-हासिनी श्वेत-वस्त्र-धारिणी सुन्दरी, दिव्य अलंकारों से विभूषिता, कटि-देश पर निवेशित वाम-हस्त से सुशोभिता एवं पद्म लिये हुये दक्षिण हाथ से सुशोभिता एवं शुचि-स्मिता, प्रसन्न-वदना लक्ष्मी प्रथम यौवन में स्थिता बनानी चाहिये ॥५०-५२½॥

कौशिकी:—शूल, परिघ, पट्टिश, पादुका, ध्वजा आदि लक्ष्मों से लाञ्छित कौशिकी का निर्माण करना चाहिये। पुनः उसके हाथों में खेटक, लघु खड्ग, तथा सौवर्णी घण्टा होनी चाहिये। वह घोर-रूपिणी परिकल्प्य है। उसके वस्त्र पीत एवं कौशेय होने चाहियें तथा उसका वाहन भगवती दुर्गा के समान सिंह होना चाहिये ॥५२½-५४½॥

अष्ट दिग्पाल:—आठों दिग्पाल—शुक्लाम्बर-धारी, मुकुटों से सुशोभित एवं नाना रत्नों से मण्डित इन आठों दिग्पालों का निर्माण करना चाहिये॥५४½-५५½॥

अश्विनौ:—संसार के कल्याण-कारी दोनों अश्विनियों को एक ही समान बनाना चाहिये। वे शुक्ल माला और शुभ वस्त्र धारण किये हुये स्वर्ण कान्ति वाले निर्मेय हैं॥५५½-५६½॥

पिशाच एवं भूत-गण :—इनके दांत भयंकर तथा विचित्र होते हैं। इनके बाल मेचक-प्रभ प्रदर्श्य हैं। इनका वर्ण वैडूर्य-संकाश होना चाहिये इनकी मूछें हरी परिकल्प्य हैं। रंग रोहित एवं आकृति भयावह, लोचन लाल, रूप नाना-विध एवं भयंकर भी प्रदर्श्य हैं। इनके शिरों पर सर्पों का प्रदर्शन भी अनिवार्य है। इनके वस्त्र भी अनेक-वर्ण हो सकते हैं। इनके रूप भयंकर, कद छोटे भी ये

) पुरुष, असत्य-वादी, भयंकर आदि रूपों में निर्मेय हैं । साथ ही साथ भूतों की प्रतिमाओं में वैशिष्टय यह है कि वे भी बड़े भयंकर, उग्र-रूप तथा भीम-विक्रम विकृतानन, संघ-रूप में, यज्ञोपवीत धारण किये हुए, कवचों को लिये हुए तथा शाटिकाओं से शोभ्य ऐसे भूतों तथा उनके गणों को बनाना चाहिये ॥५६½-६०॥

अब जो सुर और असुर नहीं बताये गये हैं, उनको भी कार्यानुरूप बनाना चाहिये और जिस असुर और सुर का लिङ्ग हो, राक्षसों और यक्षों, गन्धर्वों और नागों का जो लिंग हो, विशेषज्ञ लोग उनका निर्माण करें । प्रायः पराक्रमी, क्रूरकर्मा दानव लोग होते हैं, उन्हें किरीट-धारी तथा विविध आयुधों से सुसज्जित बाहु वाले बनाना चाहियें । उनसे भी कुछ छोटे और गुणों से भी छोटे दैत्य लोग बनाने चाहियें । दैत्यों से छोटे मदोत्कट यक्ष लोगों का निर्माण करना चाहियें । उनमें हीन गन्धर्वों और गन्धर्वों से हीन पन्नगो और उनमे हीन नागो को बनाना चाहिए । राक्षस तथा विद्याधर लोग यक्षों से हीन देह-धारी बताये गये हैं। चित्र-विचित्र माला एवं वस्त्र धारण किये हुये तथा चित्र-विचित्र तलवारों और चमड़ों को लिये तथा नाना वेष धारण करने वाले भयानक घोर रूप भूत-संघ होते हैं । वे पिशाचों से भी अधिक मोटे और तेज से कठोर होते हैं ॥ ६१-६७ ॥

विशेष संकेत यह है कि न तो अधिक न कम प्रमाण, पुरुष वेष इन सुरासुर गणों की प्रतिमाओं में यह परिकल्पन आवश्यक है ॥६८½॥

टि० अन्तिम श्लोक अर्धमात्र एवं गलित है ।

पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण

हंस-प्रभृति पांच पुरुषों और दण्डिनी-प्रभृति पाचों स्त्रियों के देह-बन्धादिक का वर्णन करता हूं। हंस, शश, रुचक, भद्र, और मालव्य ये पाच पुरुष बताये गये हैं ॥१॥

हंसः—उनमें हंस-नामक पुरुष का मान बताया जाता है। हंस का आयाम ८८ अंगुलों का बताया गया है। अन्य चार पुरुषों का आयाम क्रमशः दो दो अंगुल की वृद्धि से समझना चाहिए। उसका ललाट ढाई अंगुल के प्रमाण में तथा नासिका और ग्रीवा तथा वक्ष-स्थल ग्यारह अंगुल के आयाम से होना है। इस प्रकार उदर, नाभि, और लिंग का अन्तर दश अंगुलों के प्रमाण का होना है। ऊरु बीस अंगुल और जंघा तीन अंगुल और जानु पांच अंगुल और दो अंगुल का शिर। केशान्त प्रमाण अपने मानानुसार सबसे अधिक होता है। उसी के बीस अंगुल के प्रमाण से वक्षस्थल का विस्तार होता है। हस के हाथों का विस्तार बारह अंगुल का होना है। दोनों प्रकोष्ठ दश अंगुल के प्रमाण से विहित है। अलग २ श्रोणि नितम्ब आदि प्रदेश मानानुसार विहित होते हैं॥२-८॥

शशः—हस के स्वभाव के विपरीत तथा अपने के अनुसार ही यह शश-रूप विहित है। तथैव उसके अंग निर्मेय हैं। शास्त्रानुकूल तीन अंगुल के प्रमाण से (?) नासिका और मुख होता है। ग्रीवा भी उसी प्रमाण वाली होती है, वक्ष-स्थल तो ग्यारह अंगुल के प्रमाण से होता है तथा उदर और नाभि और मेढ्र का अन्तर दश अंगुल होता है। दोनों ऊरू बीस मात्रा, शश-नामक पुरुष की बतायी गयी है और दोनों जानु बीस अंगुल की और दोनों जंघा बीस मात्रा की। दोनों गुल्फ तीन अंगुल के आयाम वाले और शिर भी उसी प्रमाण का होता है। इस प्रकार से इस शश-नामक पुरुष का आयाम ९० (नब्बे) अंगुल के प्रमाण से होता है। इस का वक्षःस्थल बाईस अंगुल के प्रमाण का बताया गया है। बाहु, प्रबाहु और पाणि, हस के समान शश के भी होते हैं। समयानुसार एवं स्वभावानुरूप वह कृशोदर अर्थात् दुबला बनाना चाहिये ऐसा विचक्षण विद्वानों ने बताया है ॥१४॥

रुचक—रुचक-नामक पुरुष का मुखायाम साढ़े दस अंगुल के प्रमाण से बताया गया है। इसकी ग्रीवा साढ़े तीन अंगुल के प्रमाण में बतायी गयी है। उसका वक्षस्थल ग्यारह अंगुल का और उसी प्रकार से उदर। नाभि और मेढ़ का अन्तर दस अंगुल का बताया गया है। ऊरू बीस अंगुल और जानु तीन अंगुल और उसकी दोनों जंघाओं का आयाम बीस अंगुल के प्रमाण से बताया गया है। उसके दोनों गुल्फ और शिर तीन अंगुल के प्रमाण के होते हैं। इस प्रकार से रुचक-नामक पुरुष ९२ अंगुल का बताया गया है। इसके वक्षस्थल का विस्तार बीस अंगुल का और इसकी दोनों भुजायें और प्रकोष्ठ दस अंगुल के प्रमाण से बताये गये हैं। इसके दोनों हाथ ग्यारह अंगुल के विस्तार वाले बताये गये हैं। इस प्रकार से पीन-स्कन्ध, पीन-बाहु, लीला-सहित गति वाला और चेष्टा वाला, बलवान और वृत्त-बाहु, सुन्दर आकृति वाला रुचक पुरुष होता है ॥१५—२१½॥

भद्र:—भद्र के मस्तक का आयाम तीन अंगुल से होता है।(?) ग्यारह अंगुल से और ग्रीवा साढ़े तीन अंगुल से। इस का वक्षस्थल और जठर पाद-सहित ग्यारह अंगुल का होता है। इसकी नाभि और इसके मेढ़ का अन्तर साढ़े दस अंगुल में समझना चाहिए। दोनों ऊरुओं का आयाम पाद-सहित बीस अंगुल का समझना चाहिए। दोनों जंघाओं का भी आयाम उसी प्रकार से, और जानु और गुल्फ त्रिमात्रिक होते हैं। इस प्रकार से भद्र का आयाम ६४ अंगुल का बताया गया है। वक्ष का आयाम २१ तथा दोनों बाहु ११ अंगुल विहित हैं ॥ २१½—२५ ॥

टि० —लेखक Scribe not author) के प्रमाद-वश इस अध्याय का यह दूसरे अध्याय में प्रक्षिप्त प्राप्त होता है, अतः इस परिमार्जित एवं वैज्ञानिक संस्करण में यथा-स्थान उसको (प्रक्षिप्तांश दे० स० सू० मूल अध्याय ७९. ८४½-९६) यहाँ पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण अध्याय (परि० सं० ५८. २६-३८) में लाया गया है। अतएव इसका अब यहाँ अनुवाद दिया जा रहा है।

इस भद्र-पुरुष का वक्ष-स्थान एवं श्रोणि अर्थात् नितम्ब पृथक् पृथक् परिकल्प्य हैं। उसके बाहु गोल एवं सुसंस्कृत निर्मेय हैं, अतएव वह वास्तव में भद्र (सौम्य) रूप बन जाता है। उसका मुख स्वभावतः गोल ही बनाना चाहिये ॥२६॥

मालव्य:—इस मालव्य नामक पाँचवें पुरुष का मूर्धा-प्रमाण अंगुल-त्रय बताया गया है। इसी प्रकार इसके ललाट, नासिका, मुख, ग्रीवा, वक्षः, नाभि, मेढ़ एवं ऊरु आदि के अंग भी शास्त्र-मानानुरूप परिकल्प्य हैं। दोनों ऊरु इसकी

मठाग्ह अगुल की हों, जघायें भी उसी प्रमाण की हों। अन्य अंग जैसे जानु आदि वे चार अगुल से विहित हैं। इस प्रकार इस मालव्य-पुरुष का आयाम ९६ अगुल का प्रमाण प्रतिपादित किया गया है। उसके वक्षः-स्थल का विस्तार वास्तव में २६ मात्राओ का होता है। बाहु एवं प्रबाहु इन दोनों का १६ मात्राओ से विहित है। पार्ष्णि दोनो द्वादश मात्रा के प्रमाण मे परिकल्प्य हैं। इस प्रकार इस मालव्य पुरुष की विशेषता यह है कि वह पीनास (पीन-स्कन्ध), दीर्घ-बाहु (आजानु-बाहु), विशालवक्षा एवं कृशोदर हो क्योंकि इस पुरुष-प्रमाण में महापुरुषों की प्रतिमा परिकल्पित की जाती है। इसके ऊरू, कटि, जंघा सभी गोल होने चाहिय। अतएव यह पुरुष पुरुषोत्तम माना गया है २७–३१½॥

हंसादि पाचो पुरुषो की अब सामान्य समीक्षा की जा रही है, जिसका सम्बन्ध विशेष कर मुखाकृति से है। हंस का टेढ़ा मुख तथा गण्ड-भाग भी कुछ पृथुल सा प्रतीयमान हो रहा हो। शश-नामक द्वितीय पुरुष का आनन कृश एव आयत सा प्रतीत हो रहा हो। विस्तार एव लम्बाई मे भद्र-पुरुष का आनन जैसा ऊपर बताया गया है, वह सुन्दर, सुडौल एवं गोल हो। मालव्य की आकृति तो पहले ही पुरुषोत्तम के रूप मे प्रकीर्तित की जा चुकी है, वैसी यहा पर भी निदिष्ट हैं॥३१½-३४॥

अब पञ्च-स्त्री-लक्षण प्रतिपादित किया जाता है। हंसादि के समान इनके नाम है: वृत्ता, पौरुषी, बालकी (बलाका), दण्डा----(?)

टि०:—परन्तु यहा पर तो केवल तीन ही भेद मिल रहे हैं अतः प्रक्षिप्तांश भी यह गलितांश है।

वृत्ताः—नारी मासल-शरीरा, मासल-ग्रीवा मासलायत-शाखा तथा गोल-मटोल बतायी गयी है ॥३५॥

पौरुषीः—नारी पृथु-वक्षा, कटी-ह्रस्वा, ह्रस्व-ग्रीवा, पृथूदरी पुरुष के काण्ड-तुल्या ऐसी पौरुषी यथानाम पुरुषाकृति से भासित होती है ॥३६॥

बलाका—(**बालकी**):—नारी अल्प-काया, अल्प-ग्रीवा, अल्प-शिरस्का, लघु-शाखा, कृशाङ्गी, अल्प-प्रज्ञा-सत्वा बतायी गयी है ॥३७॥

पुनः इस की परिभाषा मे स्त्री-लक्षण-विचक्षण विद्वानों ने यह भी बताया है कि पुरुष-संपर्क से यह कुमारावस्था मे जब प्राप्त-यौवना हो जाती हैं

तो वह दूसरी कोटि की वालकी या बलाका नारी के नाम से विख्यात होती है।
॥३८॥

इस प्रकार हंस आदि प्रधान पुरुषों का और स्त्रियों का यहा पर यथावत् लक्षण और मान का प्रतिपादन किया। जो इनको यथावत् जानता है वह राजाओं से मान प्राप्त करता है॥३९॥

दोष-गुण-निरूपण

अब अर्च्य चित्रों-मूर्तियों अर्थात् प्रतिमाओं आदि कर्मों में वर्ज्य (त्याज्य)—रूपों का वर्णन करता हूं, और यह वर्णन गो-ब्राह्मण-हितैषियों तथा शास्त्रज्ञों के अनुसार वर्णित किया गया है ॥१॥

दुष्ट-प्रतिमा :—अशास्त्रज्ञ शिल्पी के द्वारा दोष-युक्त निर्मित प्रतिमा सुन्दर होने पर भी ग्राह्य नहीं हो सकती ॥ २ ॥

प्रतिमा-दोष :— अश्लिष्ट-सन्धि, विभ्रान्ता, वक्रा, अवनता, अस्थिता, उन्नता, काकजंघा, प्रत्यंग-हीना, विकटा, मध्य में ग्रन्थिनता— इस प्रकार की देवता-प्रतिमा को बुद्धिमान पुरुष को कल्याण के लिए कभी नहीं बनवाना चाहिए ॥ ३-४ ॥

अश्लिष्ट-सन्धि वाली देवता-प्रतिमा से मरण, भ्रान्ता से स्थान-विभ्रम, वक्रा से कलह, नता से आयु-क्षय, अस्थिता से मनुष्यों का नित्य धन-क्षय निर्दिष्ट होता है। उन्नता से भय समझना चाहिए और हृद्-रोग। इसमें सशय नहीं। काक-जंघा देशान्तर-गमन और प्रत्यंग-हीना से गृह-स्वामी की नित्य अनपत्यता तथा विकटाकारा प्रतिमा से दारुण भय समझना चाहिये। अधोमुखा से शिर का रोग—इन दोषों से युक्त जो प्रतिमा हो उसको वर्ज्य कहा गया है ॥ ५-६½ ॥

इन दोषों के अतिरिक्त अन्य दोषों से युक्त प्रतिमा का अब वर्णन करता हूं। उद्बद्ध-पिण्डिता ? गृह-स्वामी को दुःख देती है, कुशिगता ? दुर्भिक्ष और कुब्जा प्रतिमा मनुष्यों को रोग देती है। पार्श्व-हीना प्रतिमा तो राज्य के लिए अशुभ-दर्शिनी होती है। जो प्रतिमा नाना काष्ठों से युक्त तथा लौह-पिण्डिता और सन्धियों से बंधी, हो वह अनर्थ और भय को देने वाली कही गई है। लौह से अथवा कदाचित् त्रपु से और उसी प्रकार से काष्ठ से प्रतिमा बनाना बताया गया है। पुष्टि की इच्छा रखने वाले को सन्धियां भी सुश्लिष्ट बनानी चाहिएं।

शास्त्र-प्रतिपादित विधान के अनुसार ताम्र, लौह से अथवा सोने और चांदी से बाधना चाहिए। इसलिए सब प्रयत्नों से शास्त्रज्ञ स्थपति को यथा-शास्त्र-प्रमाणानुसार सुविभक्ता प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए ॥६½-१७½॥

सुविभक्ता, यथाप्रतिपादित उन्नता, प्रसन्न-वदना, शुभा, निगूड-संधिकरणा, समाना, आयति वाली, सीधी इस प्रकार की रूपवती एवं प्रमाणों और गुणों से युक्त प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए। जहा तक पुरुष-प्रतिमाओं का सम्बन्ध है वे भी पूर्णांग, अविकलांग निर्मेय हैं ॥१७½-१८॥

संपूर्ण गुणो को समझ कर और संपूर्ण दोषो को ध्यान मे रख कर जो स्थपति यथाप्रतिपादित गुणो से कल्याण के लिए प्रतिमा का निर्माण करता है उस शिल्पी की और लोग शिष्यता स्वीकार कर उस बुद्धिमान शिल्पी की उपासना करते हैं और उसकी बार बार प्रशंसा करते हैं ॥१९॥

ऋज्वागतादि-स्थान-लक्षण

इस अध्याय में अब इस के बाद नौ स्थान-विधि-क्रम का वर्णन करता हूं। सपात एवं विपात से स्थानक प्रतिमाओं मे ये नौ वृत्तियां उपकल्पित हो जाती हैं। प्रतिमायें वास्तव मे मुद्राओं के द्वारा ही समस्त उपदेश एवं ज्ञान वितरण कर देती हैं। मुद्रायें तीन प्रकार की होती हैं—शरीर-मुद्रा, हस्त-मुद्रा एवं पाद-मुद्रा। इस अध्याय मे शरीर-मुद्राओं—नौ मुद्राओं का वर्णन किया जाता है।

सर्वप्रथम शरीर-मुद्रा ऋज्वागत है, पुनः अर्धर्ज्वागत, उसके बाद साचीकृत फिर अध्यर्धाक्ष—ये चारों शरीर-मुद्रायें ऊर्ध्वागत हैं। अब परावृत्त शरीर-मुद्राओं का कीर्तन करते हैं। उनमें भी ये ही परावृत्त-पदोत्तर ये चारों मुद्रायें बन जाती हैं: ऋज्वागत परावृत्त, अर्धर्ज्वागत परावृत्त, अध्यर्धाक्ष परावृत्त तथा साचीकृत परावृत्त। नवीं शरीर-मुद्रा, यतःपरावलम्वी है अतः इसे पार्श्वागत के नाम से पुकारते हैं क्योंकि वह भित्तिक-विग्रह है ॥१-४॥

स्थान-विधि वैसे तो मुख्यतः चतुर्धा है, पुनः परावृत्त-परिक्षेप से इनकी अष्टधा हुई, पुनः नवम पार्श्वागत के रूप में वर्णित किया गया है। अब इनके व्यन्तरों की संख्या इकतीस बनती है—

(I) ऋज्वागत तथा अर्धर्ज्वागत, इन दोनों के मध्य मे व्यन्तर चार बनते हैं;

(II) अर्धर्ज्वागत तथा साचीकृत इन दोनों के मध्य में तीन बनते हैं;

(III) अध्यर्धाक्ष और साचीकृत इन दोनों के मध्य मे केवल दो व्यन्तर बनते हैं;

(IV) पार्श्वागत का व्यन्तर केवल एक बनता है;

(V) ऋज्वागत के परावृत्त तथा पार्श्वागत इन दोनों के मध्य मे दस व्यन्तर बनते हैं;

(VI) इसी प्रकार अन्य शरीरावयवों को दृष्टि मे रखकर जैसे अर्धांग,

अर्धपुट, अर्धसाचीकृत-मुद्रा, स्वस्तिक-मुद्रा आदि इन व्यन्तरों से चित्र-शास्त्र-विशारदों ने व्यस्त-मार्ग से इनकी संख्या इक्तीस कही है। पुनश्च जिस प्रकार परावृत्त, उसी प्रकार व्यन्तर भी यथाक्रम विभाव्य हैं। वास्तव में भित्तिक में कोई वैचित्र्य नहीं परिकल्प्य है वह सब चित्राश्रित ही है ॥ ५-१३॥

दोनों पादों में सुप्रतिष्ठित वैतस्त्य के अन्तर की स्थापना करना चाहिये। हिक्का में दोनों पादों की निकट-भूमि पर लम्ब प्रतिष्ठित होने पर ऋज्वागत प्रमाण जैसा पहले निरूपित किया गया है और बताया गया है तदनन्तर अर्धर्ज्वागत का यह प्रमाण समझना चाहिये। ब्रह्मसूत्र को मुख का मध्यगामी बनाना चाहिये। नेत्र-रेखा-समरत्र से ही टेढ़े तल प्रमाण से मुख निर्मेय हैं। अपाग का, अक्षिकूट का और कान का क्षय विहित होना है; दूसरे स्थान पर कर्ण का मान आधे अंगुल से माना गया है। दूसरे अक्षि-सूत्र पर ब्रह्म-लेखा का विधान है, जो शास्त्रानुकूल निर्मेय है।

अक्षि का श्वेत भाग तीन यव के प्रमाण से और तारा पूर्व प्रतिपादित प्रमाण से निर्मेय है। उसका विस्तार और श्वेत भाग और करवीर भी पूर्वोक्त प्रमाण मे बनाना चाहिए। ब्रह्मसूत्र से एक अगुल के प्रमाण से करवीर होता है। उसका दूसरा अंग तो एक अगुल के प्रमाणमे सगम होता है। कर्ण और आंख का अन्तर एक कला और आधे अगुल के प्रमाण से बताया गया है। ब्रह्मसूत्र से एक अंगुल के प्रमाण से और कपोल से २ अगुल के प्रमाण से पुट होता है। पहले और दूसरे में मात्रा के आधे प्रमाणमे पुट होता है और शेष जैसा पहले बताया गया है वही कर्तव्य है। दो यव अधिक एक अगुल के प्रमाण से दूसरा अग होता हैं। पर भाग में अधर तो छै यव के प्रमाणसे बनाया जाता है। गण्ड भी यथो-चित परिकल्प्य है। ब्रह्मसूत्र से फिर हनु पर-भाग मे $1\frac{1}{2}$ अगुल के प्रमाण मे होता है और फिर मुख-लेखा एक अंगुल के प्रमाण से विहित है। अन्य अङ्गों के भी प्रमाण समझ बूझकर बनाना चाहिए। इन अंगोपागों के निर्माण मे सूत्र का विधान प्रमाण की दृष्टि से बहुत ही अनिवार्य है। कक्षाधर दूसरे भाग मे सूत्र मे पाच गोलो वाला और पूर्वभाग मे उसे छै गोलो के प्रमाण से समझना चाहिये। मध्य मे सूत्र से पीछे पार्श्व-लेखा का विधान है। चार कलाओं के प्रमाण से वक्ष-स्थल से मध्यम-सूत्र से कक्षा ६ भाग वाली होती है।

इसी प्रकार वक्ष-स्थल के अन्य अगो एवं उपागों जैसे स्तन आदि उनका भी प्रमाणानुरूप परिकल्पन विहित है। दूसरा हाथ कर्म (योग) के अनुसार [चाहिये]

उसी प्रकार से पूर्व-हस्त का भी यथोचित प्रकल्पन होता है। मापनादि-क्रिया भी वैसी ही दक्षिण हाथ में भी होती है। पर मध्य में बाहर के सूत्र से छै अंगुल के प्रमाण से रेखा होती है। पूर्व मध्य मे बाह्य-लेखा आठ मात्राओं के प्रमाण से होनी है। नाभि-देश के पर भाग मे यह बाह्य-लेखा सात मात्राओं की होनी है। कला-मात्र के प्रमाण से नाभि होती है। उसकी पहली ६ अंगुल के प्रमाण से होती है। पर भाग मे कटि ७ मात्रा की और १० मात्रा की पूर्व भाग में। हृदय-रेखा पर-भाग में मुख-मान के मध्य से विकल्प्य एवं निर्मेय है।

पर नलक की लेखा एक अंगुल के अन्तर मे होती है। उसी प्रकार पर भाग की लेखा पष्ठांश है। नल के द्वारा पर-पाद की भूमि-लेखा बनाई जाती है। तदनन्तर अंगुष्ठ ½ अंगुल से और उसके ऊपर पार्ष्णि उसके आधे प्रमाण मे। अगूठा का अग्र भाग ब्रह्म-सूत्र में पाच मात्राओं के प्रमाण से और तलवा टेढा पाच अंगुल के प्रमाण से बताया गया है।

अगूठा का अग्र-भाग तीन कलाओ के प्रमाण से; सब अंगुलिया अंगूठे से क्रमशः पर पर प्रमाणानुरूप विहित बनाई गयी हैं। इस प्रकार सन्निवेश एवं अवसाद से ये सब नौ अंगुल वाला प्रमाण होता है। जानु जैसे पहले बताई गई है वैसी होती है और सूत्र से चार अंगुल मे विहित है। इसका नलक भी उसी के समान और दोनो नलक तीन अंगुल के अन्तर पर। इसी प्रकार आगे के प्रमाण भी शास्त्र मे अनुमोदित भूमि-सूत्र से नीचे गया हुआ पहला अगूठा एक कला के प्रमाण से होता है; दूसरा अंगूठा और अंगुलिया ये सब यथोक्त प्रमाण से विहित बनाई गयी हैं।

इस प्रकार से कहे गये प्रमाण मे युक्ति से समझकर करना चाहिये। इस प्रकार अर्ध-ऋज्वागत नामक इस श्रेष्ठ स्थान का वर्णन किया गया ॥१४-४४½॥

साचीकृत-विशेषः - अब साचीकृत-स्थान का लक्षण कहता हूँ। स्थान-ज्ञान की सिद्धि के लिये पहले ब्रह्मसूत्र का विन्यास करना चाहिये। पर भाग मे ललाट, केश लेखा और कला होती है। पर भाग मे भ्रू-लेखा च यथाशास्त्र-प्रमाण विहित है, उसी प्रकार अन्य प्रमाण होते है। ज्योति के परभाग मे एक यव के प्रमाण से तारा दिखाई पडती है। तदनन्तर ज्योति यव-मात्र और फिर उससे दो यवों के प्रमाण से तारा होती है। श्वेत और करवीर तदनन्तर प्राक्कथित प्रमाण से कनीनिका निर्मेय है। नासिका का मूल एक यव के अन्तर से समझना चाहिये। ब्रह्म-सूत्र से पूर्वभाग मे दो ऊर्ध्व गोले होते हैं। वहा पर अपाङ्ग दो गोलक के प्रमाण के अन्तर मे समझना चाहिये। तब एक भाग के

प्रमाण से कर्ण का अभ्यन्तर और एक भाग के विस्तार से कर्ण होता है। दो यव से कम एक कला के प्रमाण से व्यावृत्ति से बढ़ाई गई आंख होती है। पूर्व के करवीर के साथ सफेदी तीन यव के प्रमाण से बताई गई है और दूसरी सफेदी, पांख, तारा का प्रस्तार पूर्व प्रमाण से प्रतिपादित की गयी है। कपाल-लेखा परतः एक कला होती है। ब्रह्म-सूत्र से दूसरे में नासिका का अग्रभाग सात यवों के प्रमाण से बताया गया है। पूर्वभाग में नासा-पुट एक यव अधिक एक अंगुल के प्रमाण से विहित है। पूर्व भाग मे उसके निकट गोजी बनाई जाती है। पर भाग वाला उत्तरोष्ठ अर्ध मात्रा के प्रमाण से बताया गया है। अधरोष्ठ तीन यव के प्रमाण मे। शेष मे उन दोनो का चाप-चय होता है। पाली के मध्य मे सूत्र होता है और पाली के परे चिवुक होता है। हनु-पर्यन्त रेखा-सूत्र से आधे अंगुल पर होनी है। हनु के दूसरे भाग का मध्यगामी सूत्र-परिमंडल कहलाता है। एक ही सूत्र के साथ दूसरी आख तक परिस्फुटा ठोडी के ऊपर मुख-पर्यन्ता लेखा बनानी चाहिये। इन लेखाओं से विचक्षण को पर भाग का निर्माण करना चाहिये। ग्रीवा आदि अन्य अंगोपांगो का भी प्रमाण शास्त्रानुरूप विहित है। पूर्वभाग में सूत्र से आधे अंगुल के प्रमाण से हिक्का सुप्रतिष्ठित होती है। बाह्य-लेखा उस सूत्र मे आठ अंगुल के प्रमाण से परभाग मे स्थित होती है। हिक्का-सूत्र से लेकर हृदय-भाग आने होता है। उसी मात्रा में अन्य अन्तर प्रदेश परिकल्प्य है। हिक्का-सूत्र मे पाच अंगुल प्रमाण वाले परभाग में स्तन होते हैं। रेखा का अन्त सूचन करने वाला मंडल डेड़ अंगुल के प्रमाण से बनाना चाहिये। उसके बाद बाहर का भाग एक मात्रा मे निर्दिष्ट करना चाहिये और हिक्का-सूत्र से लेकर स्तन-पर्यन्त यह छै अंगुल के विस्तार में प्रकल्प्य है। कक्षा के नीचे दो कलाओं के प्रमाण से बाह्यलेखा बनायी जाती है। भीतर की बाह्य-लेखा स्तन से पाच अंगुल के प्रमाण से बनाई जाती है और ब्रह्म-सूत्र से एकभाग से मध्यभाग मे अन्य अंग बनाया गया है। —(?) टेढ़ा विभाजित किया जाता है। पूर्वभाग में मध्य-प्रान्त सूत्र से दस अंगुल वाला होता है। ब्रह्म-सूत्र से नाभि-प्रदेश टेढ़ा होता है। चार यवों से अधिक चार अंगुल के प्रमाण से वह बनाया जाता है। पूर्वभाग में वह ग्यारह *अंगुल के प्रमाण से बताया गया है। मध्य से दूसरे के दोनों उरुओं का* अभ्यन्तराश्रित सूत्र जाता है और अपर भाग से पहले की एक कला से वह जाता है। जानु का अधोभाग आधी कला और तीन यव से बनता है। जंघा के मध्य से लेखा का प्रमाण नलक-प्रमवत होता है पुनः चार से सूत्र इष्ट होता

है। इसी प्रकार से बाहरी लेखायें बनायी जाती हैं। ब्रह्म-सूत्र से पाँच अंगुल के पर भाग में कटि-प्रदेश निवेश होता है। इसी प्रकार अन्य गोप्य स्थान मेढ़ आदि एवं ऊरु-मूल आदि सब विनिर्मेय हैं।

सूत्र के अपर भाग से उरू के मध्य में दो कलाओं के प्रमाण से रेखा बनायी जाती है और सूत्र से पूर्व उरू का मूल, पूर्व से एक कला के प्रमाण से होता है। पूर्व के जानु से दो कलाओं के प्रमाण से रेखा समझनी चाहिए। जानु डेढ़ अंगुल और एक यव के प्रमाण से और उसका पार्श्व आधे अंगुल में बनाया जाता है। सूत्र के द्वारा पर-पाद की मध्य रेखा विभाजित की जाती है। आदि-मध्य-अन्त—इन तीनों रेखाओं को साची-सूत्र में उदाहृत किया गया है। प्राक्-भाग से अमलक से पाच अंगुलो से प्रान्त होता है। परभाग स्थित उरू और जँघा इन दोनों का आधे अंगुल के प्रमाण से क्षय बनाना चाहिए। पराक्षि-मध्य-गामी सूत्र लम्ब-भूमि प्रतिष्ठित होने पर पर-पाद-तलान्त से पूर्वभाग से एक अंगुल से बनाया जाता है। ब्रह्म-सूत्र से पूर्वपाद का तल आठ अंगुल से होना है। दोनों तलों के नीचे सूक्ष्मा लेखा अठारह अंगुल के प्रमाण से बनायी जाती है। अंगुष्ठ-प्रान्त से प्रदेशिनी एक अंगुल से अधिक बनती है। पुनःअंगुष्ठ-मूलागम से अन्य अंगुलियां विहित हैं। यहाँ से जो लेखा बनती है उसे भूमिलेखा कहा गया है। सूत्र से आधे अंगुल से उसके ऊपर पर का पार्ष्णि विहित है। पूर्वपाद के अनुसार अंगुष्ठ से अंगुली का पात होता है। पुनः उप-प्रदेशिनी-मान से पर प्रदेशिनी बनायी जाती है। तदनन्तर अन्य सब अंगुलियां क्रमशः प्रकल्पित वहां होती हैं। इस प्रकार से इस साचीकृत-नामक स्थान का यथार्थ वर्णन किया गया ॥४४½-८२॥

अध्यर्धाक्ष-स्थान-मुद्रा-विशेष'—अध्यर्धाक्ष-स्थान का अब वर्णन करता हूं। ब्रह्मसूत्र को मुख में रखकर के यहा पर मान किया जाता है। केशान्त-लेखा सूत्र से यव-सहित एक मात्रा की होती है।

टि० स० सू० के इस मूलाध्याय में—स० सू० के ८१वें अध्याय (पंच-पुरुष-स्त्री-लक्षण) का अंश पक्षिप्त था अतः उसे परमार्जित कर यथास्थान तत्रैव न्यासित किया गया।

भ्रू-प्रदेश को दो यव मात्राओं से लिखे। कृशयबाङ्गुल वाली यहां भ्रू-लेखा विहित है। अक्षि, तारा आदि अर्ध-प्रमाण से विहित हैं। कपोल-रेखा पर भाग से यव-हीन एक अंगुल से बनती है सूत्र-पूर्वपटान्त अर्धांगुल इष्ट है। यव च

नासिकान्त एक अंगुल सूत्र से परे करना चाहिये। पुनः मूल में नासापुट आधा गोजी का सूत्र मध्यग विहित है। आधे यव की मात्रा से गोजी होती है और पर भाग का जो उत्तरोष्ठ होता है वह ब्रह्म-सूत्र से लगा कर दो यव के प्रमाण मे समझना चाहिए। पर मे तो नासिका के नीचे रेखा आधे आधे अंगुल से होनी चाहिए। अधरोष्ठ के परभाग मे प्रमाण यव बताया गया है। हनु तक लेखा के मध्य में सूत्र प्रतिष्ठित होता है। सूत्र से पहले करवीर का प्रमाण दो यव कम दो अंगुल का होता है और वह आधे यव के प्रमाण से दिखायी पड़ता है। तदनन्तर मफेदी डेढ यव के प्रमाण से बतायी गयी है। तारा तीन यव के प्रमाण से समझनी चाहिए। शेष पूर्वोक्त-प्रमाण से। कान के परदे के नीचे कर्ण-मध्य-भागीय दो अंगुल के प्रमाण मे कर्ण का विस्तार विहित है। कान के परदे से चार यव के प्रमाण मे शिरः-पृष्ठ-लेखा होनी है। यह समझकर जैसा बताया गया है वैसा करना चाहिए। कर्ण-सूत्र से बाहर एक अगुल के प्रमाण से ग्रीवा बनानी चाहिए। गल, ग्रीवा, हिक्का, प्रागङ्गुलोत्तर विहित है। हिक्का-सूत्र से ऊपर अंस-लेखा अर्थात् स्कन्ध-लेखा उसी प्रकार से एक अगुल के प्रमाण मे होती है। ब्रह्मसूत्र से अगुल सम्मित पर भाग मे अस अर्थात् कधा होता है। —(?) कक्षा—सूत्र से पहिले स्तन का प्रमाण केवल एक भाग मात्र से, कक्षा से तीन कलाओं तक पार्श्व-लेखा बनायी जाती है। आगे की भुजायें यथा-शास्त्र-प्रमाणनुरूप विहित है। प्रासाद-मध्य सूत्र ग्यारह अंगुल का होता है। सूत्र से तीन अंगुल के प्रमाण से परभाग-मध्य विहित है। पर भाग मे सूत्र से एक अगुल के प्रमाण से नाभि इष्ट होती है। नाभि की उदर-लेखा तो तीन अगुल समझनी चाहिए। दोनो नितम्ब (श्रोणी) का प्रदेश नाभि-प्रदेश मे विहित है। ब्रह्मसूत्र से पूर्व भाग मे तीन भाग वाली और पर मे तीन अंगुल वाली कटि अर्थात् कमर विहित है। ब्रह्म-सूत्राश्रित तर मे मेढ्र-स्थिति विहित है। पूर्वोक्त मध्य-रेखा-सूत्र के प्रत्यंगुल अन्तर में उसे बनाना चाहिये और उसी की मूल-रेखा सूत्र से पहिले दो अगुल के अन्तर पर बनायी जाती है। पर की दोनो उरुओं की मूल-रेखा-सूत्र से दो कलाओ के अन्तर पर होती है। अब जहां तक जानुओं का प्रश्न है वे भी इन्ही भाग-प्रमाण में विहित हैं। जानु के मध्य में गयी हुई लेखा बाह्य-लेखाश्रित होती है। आधे २ मात्रा की जानु होती है और उसकी अधोलेखा तो जो होती है वह सूत्र से पूर्व की ओर अंगुल के प्रमाण से बनायी जाती है और सूत्र से परे परागुष्ठ-मूल पादक मे एक अगुल

के प्रमाण से बनाया जाता है और मूल से अंगुष्ठ का अग्र-भाग साढे तीन अंगुलों का होता है। सूत्र से परे जंघा की लंबा चार अंगुल में होती है और पूर्व जंघा की लंबा तो दो अंगुल में होती है। पूर्व जानु एक कला के प्रमाण से और शेष यथोक्त प्रमाण से। परपाद के तल में —? जो ढेढा सुप्रतिष्ठित होता है —? वह डेढ कला के प्रमाण से बनता है। अथ च पाद की अंगुलियों का व्यास एवं प्रमाण भी शास्त्रानुकूल अनुमेय एवं निर्मेय है। जो परागुष्ठ मूल से उत्थित लव-सूत्र बनता है उसका सम्बन्ध अगुष्ठाश्रित है। पूर्व पार्ष्णि-तल के ऊपर तीन अगुल में बनाना चाहिए और पार्ष्णि के परपाद का पूर्व पाद तिरस्कृत होता है। इस प्रकार अध्यर्घाक्षि-नामक स्थान का यथा-शास्त्र इस प्रकार से आलखन करना चाहिए ॥८३-११३॥

पार्श्वागत स्थानक-मुद्रा-विशेष.—अब पार्श्वागत नामक पाचवें स्थान का वर्णन किया जाता है। व्यावर्तित मुख के अन्त मे ब्रह्मसूत्र का विधान किया जाता है। सूत्र से स्पृ ललाट की बायी रेखा को दिखाना चाहिए। सूत्र से नासिका-वंश दो अंशों के मान से विहित है, पुनः अपांग दो कलाओं से और सूत्र से कान भी दो कलाओं के अश से विनिर्मेय हैं। तदनन्तर इसका मध्यगत सूत्र इससे आधे से स्थापित करना चाहिए। एक अंगुल से चिबुक-सूत्र से हनुमध्य चार यव वाला होता है। डेढ अंगुल से नतग्रीवा बनाना चाहिये। एक अंगुल से तदनन्तर हिक्का और चार से ब्रह्मसूत्र से मस्तक तथा श्रवणपाली विहित है। ग्रीवा के अंगुल से ही मध्य सूत्र कहा जाता है। हिक्का के मध्य सूत्र में अंस-मूल दो कला वाले भाग मे होता है। आठ मात्रा मे पीठ और इसी प्रकार से हृदय-लेखा। स्तन-मडल फिर उसी से एक अगुल के प्रमाण से बनाया जाता है और पूर्व भाग में कक्षा-सूत्र से तीन भाग से और तीन मात्रा से अपर भाग में कक्षा बनाई जाती है। दोनों अन्तों का मध्य अगुल के प्रमाण से विद्वान् लोग बताते हैं। मध्य-सूत्र से पर्यन्त-मध्य दस अगुल से बनाया जाता है। मध्य-पृष्ठ चार से और नाभि—पृष्ठ पाच से, नाभि की अन्त रेखा नौ से और तीन कलाओं से कटि-पृष्ठ होता है तथा उदर की प्रान्त-लेखा दस अगुलों से समझनी चाहिए। आठ मात्राओं से स्फिक् का मध्य कहा जाता है। बस्ति-शीर्ष नौ से स्फिक्-अन्त और आठ अंगुलों के प्रमाण से विहित है। आठ से मेढ़ का मूल होता है और उरू का मध्य सात से विहित है। दोनों ऊरुओं का पाश्चात्य मूल भाग पाच अगुलों के प्रमाण से बनाया जाता है। पीछे से कर का मध्य

साढे चार अंगुलों और वही आगे से साढे पाच अंगुलो का बताया गया है। कर-मध्यांगुल मध्य-सूत्र मध्य में बनाया जाता है। जानु के भाग्रे में मध्य-सूत्र होता है। भाग और लेखा जानु से सूत्र के दोनो तरफ होनी हैं और जंघा मध्य में बतायी गयी है। छै अंगुल वाली जंघा और नलक के मध्य में सूत्र कहा गया है। दोनो पार्श्वों पर दो अंगुल के प्रमाण से नल बनाने चाहिएं। मध्य-सूत्र से चार अंगुल के प्रमाण से पार्ष्णि बनायी जाती है। पूर्वोक्त प्रमाण से अगुलियां और पादतल होता है। इस प्रकार से यह भित्तिक-नलक पार्श्वगत-नामक स्थान बताया गया है ॥१११½—१२६½॥

परावृत्त-स्थानक-मुद्रा-विशेषः—अब इसके उपरान्त परावृत्त स्थानों का वर्णन करता हूँ। *वहा पर पहले ऋज्वागत परावृत्त स्थान का वर्णन किया जाता है।* वहाँ पर दो अंगुल के प्रमाण से दो कर्ण अलग २ बनाने चाहिए तथा पार्ष्णि और पर्यन्त इन दोनो का मध्य भाग सात अगुल होता है। साढे तीन अगुल से दो पार्ष्णि अलग २ बनाने चाहिए। कनिष्ठा, अनामिका और मध्य में अगुलिया चार अंगुल दिखानी चाहिए। अगुंठ (अगूठा, अनामिका, मध्मा और कनिष्ठा बाह्यलेखा से सूत्रय हैं। यह परावृत्त स्थान होता है। शेष ऋज्वागत के समान आदेश किया गया। अध्यर्धाक्ष आदि जो स्थान उनमें होते हैं जिसका जो परावृत्त स्थान हो उसके अनुसार उसका वह स्थान बनाना चाहिए। जो जो प्रमुख स्थानक-मुद्रायें हैं उनकी दृश्यादृश्य सभी परावृत्त तथैव कल्प्य हैं, ये बताये हुए स्थान जीवों मे, द्विपदों मे और निर्जीवों भी तथा यान, आसन, गृह आदि में समझना चाहिए। वस्तुत मूलरूप ये नौ (९) ही स्थान हैं और जो बीस में विभक्त बताये गये हैं वे उनके भेदो को ही समझना चाहिए ॥१२६½—१३६½॥

ऋज्वागतदि जो स्थान दृष्टि-पद के पदिक बनते हैं उनके स्थानो का जो मान होता है वह यहा भी बताया जाता है। अठारह मे विस्तृत और उसके दुगुनी आयति से वह प्रमाण विहित है। और आयाम के अर्धदेश में इसका आगे का विस्तार आठ से विहित है। —(?) उसके मध्यगामी सूत्र में न्यसित की जाती है। विभिन्न अंगो एवं उपांगो का भी यथा-शास्त्र निर्माण है। स्तन का गर्भ गर्भसूत्र से विस्तार में छै अंगुल वाला होना है और छै अंगुलो से दोनो स्तनों का तिरछा विनिर्गम होना है। गर्भ से तिरछे पृष्ठ पक्ष दोनो स्फिज् भी दस अंगुल के प्रमाण से बनाये जाते है। पुनः पृष्ठ-वंश स्फिजागुलानुसार विहित है।

जो नवागुल विहित है और स्फिक् से सात अगुल परे होता है। कक्षा का मूल, आयाम और गर्भ मे दस अंगुल वाला होता है। आगे उसका निर्गम एक अंगुल मे और पीछे से सात अगुल से। गर्भसूत्र मे तदनन्तर निरुद्धा पादाश अठारह अंगुल वाला होता है। गर्भ से . . प्रदेश पाच अगुलो से बनाया जाता है। जठर-गर्भ दोनो पार्श्वों पर और सामने भी अंगुल से पेट का प्रदेश, पीठ पश्चात् सात अगुलो मे, साढे बारह अगुलो मे ऊरुओ का मूल बताया गया है। पाच अंगुल के प्रमाण मे इसका पहले का निर्गम और पीछे का निर्गम सात अगुल से। ऊरु-मूल के पीछे मे तो दोनो स्फिज् तीन अगुल के प्रमाण से निर्गत होते हैं। आगे तदनन्तर मेढ़ गर्भ सूत्र से छै अगुल का समझना चाहिए। टेढ़े सूत्र से जानु-पार्श्व साडे नौ अगुलो मे समझना चाहिये। और आयाम-सूत्र से जान्वन्त पीठ से आगे चार अगुल का होना चाहिये। गर्भ से टेढा इसका नल छै अगुल वाला और पृष्ठ भाग से वह नौ अगुल वाला होता है। सूत्रान्त से अगुल-पर्यन्त साडे छै अंगुलो मे यह नलक निर्मेय है। इसका विस्तार भी तथैव शास्त्रानुसार परिकल्प्य है। दैर्घ्य से यहा पर चौदह अंगुलो का पाद बताया गया। गर्भ से आगे छै अगुल वाला और पीछे से छै अगुल वाला होता है। जानुओ एवं अन्य प्रदेशो का अन्तर अगुल-मात्र है। इस प्रकार से ऋज्वागत, अर्धऋज्वागत मध्य सूत्र से बनाया गया है। इस प्रकार इन सब के शेष परावृत्तो एवं अन्तरो का भी प्रबन्धन तथैव विहित है ॥१३९३–१५५॥

ऋज्वागत, अर्धऋज्वागत, साचीकृत, अध्यर्धाक्ष एव पार्श्वगत नामक स्थानों का वर्णन किया गया। उनके चार परावृत्त और बीस अन्तर भी बताये गये ॥१५६॥

अथ वैष्णवादि-स्थान-लक्षण

अब इसके बाद अनेक अन्य चेष्टा-स्थानो का वर्णन किया जाता है जिनको समझ कर एवं उसी के अनुसार विधान कर चित्र-विशारद मोह को नही प्राप्त होते हैं ॥१॥

षड्-स्थान :—वैष्णव, समपाद तथा वैशाख और मण्डल, प्रत्यालीढ और आलीढ इन स्थानो का लक्षण करना चाहिए ॥२॥

वैष्णव-स्थान :—टि० इस तीसरे श्लोक का पूर्ण पाद गलित है। दोनो पादो का अन्तर ढाई ताल के प्रमाण से होता है। उन दोनो का एक समन्वित और दूसरा पक्ष-स्थित त्रिकोण होना है और कुछ जधा खिंची हुई दिखाई पडती है। इस प्रकार का यह वैष्णव स्थान बनता है और यहा पर भगवान् विष्णु अधिदेवना परिकल्पित किये गये है ॥३–५½॥

समपाद-स्थानः समपाद-नामक स्थान मे दोनो पाद समान होते है और वे ताल-मात्र प्रमाण के अन्तर पर स्थित होते है। साथ ही साथ स्वभाव से वे सुन्दर होते हैं और यहा पर अधिदेवना ब्रह्मा होते है ॥५½-६½॥

वैशाख-स्थान :—दोनो पादों का अन्तर साढे तीन ताल का होता है। पहला पाद अग्र तथा दूसरा पाद पक्ष-स्थित अंकित करना चाहिए। इस प्रकार से यह वैशाख-संज्ञा वाला स्थान होता है और इस स्थान की अधिदेवता भगवान् विशाख स्वामिकार्तिक होते हैं ॥६½-८½॥

मण्डल-स्थान :—इन्द्र-सम्बन्धी मंडल-नामक स्थान होता है और दोनो पाद चार ताल के अन्तर पर स्थित होते हैं। तिकोनी और पक्ष-स्थिति स कोट जानु के समान होती है ॥८½-९½॥

आलीढ :—पाच ताल के अन्तर पर स्थित दक्षिण पाद को फैलाकर आलीढ नामक स्थान वनाना चाहिए और वहा के देवता भगवान् रुद्र होते हैं ॥९½ १०½॥

प्रत्यालीढ :—दक्षिण पाद कुंचित करके वाम पाद को प्रसारित करना चाहिए। आलीढ के परिवर्तन से प्रत्यालीढ कहा जाता है ॥१०½-११½॥

टि० इन प्रमुख स्थानक पाद-मुद्राओ के अतिरिक्त अन्य स्थानक मुद्राओं

का भी कीर्तन किया जाता है। इन में तीन पाद-मुद्रायें विशेष कीर्त्य हैं। वहां पर पहली में दक्षिण तो बराबर, दूसरे में अर्थात् वाम में त्रिकोण तथा तीसरी मुद्रा में कटि समुन्नत वाम इस प्रकार यह पहली मुद्रा अवहित्थ के नाम से, दूसरी...?, तीसरी चक्रान्त के नाम से पुकारी गई है। समुन्नत कटि वाला वाम पाद जब प्रदर्श्य होता है तो उसकी संज्ञा अवहित्थ कही गई है। एक पाद बराबर स्थित तथा दूसरा अग्र-तल से युक्त कहलाता है तो उसकी संज्ञा... ? तीसरी चक्रान्त कही जाती है। ये तीन स्थान स्त्रियों के और कहीं कहीं पुरुषों के भी होते हैं ॥११½–१३॥

कटि के पार्श्व-भाग में दो हाथ, मुख, वक्षस्थल, ग्रीवा तथा शिर इन समस्त स्थानों में क्रियानुसार कार्य करना चाहिए। क्रियायें अनन्त हैं। उनका संपूर्ण रूप से वर्णन करना असम्भव है। इस लिए हम लोग यहां पर उनका दिङ्मात्र वर्णन करते हैं ॥१४–१५॥

प्रिय के निकट प्रसन्न स्त्री का अथवा प्रिया के निकट पुरुष की जैसी स्थिति अथवा संस्थान हो वह ऋजु-पूर्व ऋज्वागत-स्थान में होता है ।१६-१७½।

इन मुद्राओं में अवयव-विभाग भी होता है, उसका क्रमशः अब वर्णन करता हूं ॥१७॥

नासिका और अधर-पुटों में और अन्य नाना अंगों में जैसे सृक्कणी, नाभि आदि तथा पीछे ऊरु के मध्य से और उसी के समान पीछे के गुल्फ के अन्त में त्रिभंग-नामक स्थान में सूत्र की गति बतायी गयी है। इस त्रिभंग-नामक स्थान में एक ताल के अन्तर पर गति दिखानी चाहिए। छत्तीस अंगुल भागीय स्थान के मध्य में ऐसा निर्माण विहित है ॥१८-२०॥

त्रिविध-गतियां:—द्रुत, मध्य, विलम्बित—प्रभेद से तीन प्रकार का गमन होता है।

टि०—इन गमनादि त्रिविध गतियों का अनुवाद असंभव है, यतः पूरा का पूरा ग्रन्थ गलित एवं भ्रष्ट है।

इस प्रकार से इन सब गमन-स्थानों में संस्थान समझना चाहिए। अन्य सूत्रों की यथोचित स्थिति को विद्वान् लोग ठीक तरह से समझ कर करें ॥२१-३४॥

टि० इन मुद्राओं में दृष्टि एवं हस्तादि के विन्यासों का विवेचन अनिवार्य है।

दृष्टियों, हस्तों आदि के विनिवेश से इन चार स्थानो का छन्दानुकीर्तन होता है ॥३५॥

सूत्र-विन्यास-क्रिया:—और भी बहुत सी जो मनुष्यो की क्रियाये होती हैं वे अंकित करने योग्य होती हैं। उनका शिष्यो के ज्ञान के लिए तीन सूत्रों का पातन करना चाहिए। ब्रह्म-सूत्र-गत सूत्र मे और जो पार्श्व से सम्बन्धित वहा पर उन स्थानो मे ऊपर तीन सूत्र हैं वे पूर्णरूप से बोधव्य है। उनमें मध्य मे जो बनाया जाता है उसे ब्रह्मसूत्र कहते है। भित्ति के फिर अन्य भाग की अपेक्षा से पार्श्व मे स्थित जो सूत्र होता है वह मध्यगामी ब्रह्मसूत्र कहलाता है। जो दोनो पार्श्वों पर से मेय है उसकी भी सज्ञा पार्श्व-सूत्र ही है। प्रदेशावयवों की पूर्ण निष्पत्ति के लिये विधान-पूर्वक जो जो अभीप्सित कार्य सम्पादित करना है उसमे इन तीनो ऊर्ध्व-सूत्रों का विन्यास अनिवार्य है। इन के मान तिर्यङ्-मानानुसार ही वे ज्ञेय हैं ॥३६-४२॥

वैष्णव प्रभृति स्थानो का वर्णन ठीक तरह से किया गया। गमनादि तीनो गतियां भी बतायी गयी है। सूत्र की पातन-विधि भी यथावत प्रतिपादित की गयी है और इसके ज्ञान से स्थपति शिल्पियों मे श्रेष्ठ गिना जाता है ॥४३॥

अथ पताकादि-चतुष्षष्टि-हस्त-लक्षण

टि० शरीर-मुद्राओ एवं स्थानक-मुद्राओं के उपरान्त अब हस्त-मुद्राओं का वर्णन किया जा रहा है।

अब चौंसठ हस्तों के योगायोग-विभाग से लक्षण और विनियोग का वर्णन किया जाता है ॥१॥

१. पताक	९. कपित्थ	१७. चतुर
२. त्रिपताक	१०. खटकामुख	१८. भ्रमर
३. कर्तरीमुख	११. सूच्यास्य	१९. हंसास्य
४. अर्धचन्द्र	१२. पद्मकोष	२०. हंसपक्ष
५. अराल	१३. अहिशीर्ष	२१. संदंश
६. शुकतुण्ड	१४. मृगशीर्ष	२२. मुकुल
७. मुष्टि	१५ कागूल	२३. ऊर्णनाभ
८. शिखर	१६. कालपक्ष	२४. ताम्रचूड

यह चौबीस हस्तों की संख्या होती है और उनका लक्षण और कर्म बताया जाता है ॥२-५॥

पताक-हस्त—जिसकी प्रसारित अग्र-भाग-सहित अंगुलियां होती हैं और जिसका अगुष्ठ कुंचित होता है उसको पताक कहा गया है।

अब इसके विशेषों के सम्बन्ध में यह सूच्य है कि वक्षः स्थल से लगाकर शिर तक उत्क्षिप्त हस्त उठा हुआ और बायें से झुका हुआ और कुछ भृकुटियों को चढ़ाकर और कुछ आखें फाड़कर प्रहार का निर्देश करें। पुनः प्रतापन एवं उग्र रस का दर्शन कराता हुआ एवं अविकृत मुखाकृति से कुछ मस्तक पर हाथ रख कर पताका के समान स्फारित नेत्रों से एवं भृकुटियों को आकुञ्चित भौवों के द्वारा यह हस्त साक्षात् गर्व-प्रतिमा (मैं साक्षात् गर्व हूं) चित्र-शास्त्र विशारदो के द्वारा बताया गया है। जो वक्ष्यमाण अर्थ हैं उनमें उसको संयुन करे। दूसरा हाथ इसमे विहित है। इस हाथ को ऊपर उठाकर अंगुलियो को चलाता हुआ वर्षाधारा-निकर का दर्शन करावे तथा पुष्प-

वृष्टि का दृश्य उपस्थित करे। दोनों हाथ टेढ़े होवें। पुनः एक को स्वस्तिक-रूप प्रदान करे। पुनः उसकी विच्युति करे और पल्लवाकृति में दिखावे। इसी प्रकार अन्य सब अङ्गों एवं उपांगों में ये मुद्रायें प्रस्फोट्य है, इसमें सदैव अविकृत मुख दिखाना चाहिए। हस्त-नासों को मद्धम रूप संसवत प्रदर्शित करे। तलवों को अधोमुख कर के कुछ मस्तक नीचे झुका कर निविड से निविड, बिना विकार के मुख-रूपी कमल वक्षःस्थल के आगे तथा ऊपर परवृत्त होने पर मन की शक्ति को प्रयत्न-पूर्वक प्रदर्शन करना चाहिए। गुप्त वाम से गोप्य तथा कुछ विनत मस्तक होकर और कुछ बाईं भौं को आकुंचित कर के दिखाना चाहिए। पार्श्वस्थ पताका से दोनों पाणि-पद्मों को उससे युक्त करना चाहिये। अविकृत मुख से वायु का सा अभिनय करना चाहिए। अथच नाट्य-शास्त्र में इस हस्त की मुद्रा जिस प्रकार समुद्र-वेला वायु एवं लहरों से क्षोभ्य है, उसी प्रकार बुद्धिमान को इन दोनों हाथों से दिखाना चाहिए। पुर-स्थित वाम और दक्षिण हाथ से तो पहिला कुछ मर्पण करता हुआ और दूसरा कुछ शिर को हटाता हुआ ऐसा मनुष्य वग का प्रदर्शन करना हुआ और नित्य अविकृत मुख धारण करता हुआ प्रदर्श्य है। दोनों हाथों में से चलते हुए दूसरे हाथ से तो और तदनुसार विकृतानन होकर यह हस्त नाट्य में निपुण क्षोभ का अभिनय करे। कुछ भृकुटी को चढ़ा कर पताका से अभिनय करना चाहिए। पार्श्व में व्यवस्थित ऊपर चलती हुई अंगुली से बार बार गर्दन को लचा कर उत्साह कराना चाहिये। तिरछे विस्फारित नेत्रों से अभिनीत इस प्रकार दोनों पार्श्वों पर व्यवस्थित अंगुलि से बड़ा भारी अभिनय करना चाहिए। भ्रान्त एवं उत्तानित अविकारी मुख से पताक-नामक पाणि से ही रूपण करना चाहिए और इधर उधर चलते हुए हाथ से पुष्कर-ताडन दिखाना चाहिए। पुनः अन्य अंगों जैसे मुख आदि से भी नाना अभिनय-क्रियायें प्रदर्श्य है। विकृत मुख से नित्य पक्षोत्क्षेप-क्रिया करणीय है। पुनः उत्तानित एवं विधुत दूसरे हाथ से भी यह करणीय है। भृकुटि आदि नेत्र-प्रान्त भी महान भयंकर एवं वीर-गुणान्वित रस से प्रदर्श्य हैं। ऐसा मानो साक्षात् शैलेन्द्र—पर्वत-राज को उठा रहा हो। धीरे धीरे भ्रू-लतिका को कुछ समुत्क्षिप्त कर दिखाना चाहिए। परस्परासक्त एवं सम्मुख उसमें शैल-धारण दिखाना चाहिए। तदनन्तर बनावटी भृकुटी से दोनों पार्श्वों का अधोभाग प्रविष्ट कराकर उसी प्रकार शैल प्रोत्पाटन दिखाना चाहिए। शिर-प्रदेश में स्थित तथा दूर से उत्तानित ऊंची भौं से पर्वत की उद्धरण-क्रिया दिखानी चाहिए ॥६—३६॥

त्रिपताक-हस्त-मुद्रा:- पताक-हस्त मे जब अनामिका अंगुली टेढी होती है, तब उस हस्त को त्रिपताक समझना चाहिए और उसके कर्म का अब वर्णन किया जाता है। इस की विशेषता है कि उसमे अगुलिया-मध्या, कनिष्ठा आदि चल रही हो। कुछ नत-मस्तक से यह करना चाहिए और इस को ऊपर उठा कर विनत मस्तक से उसी प्रकार अवतरण-क्रिया करनी चाहिए। पास से प्रसर्पण करता हुआ इसी प्रकार से विसर्जन करना चाहिए। पुन: प्राङ्मुख होकर अथवा भृकुटी तान कर पार्श्वस्थित से धारण और नीचे झुके हुए से प्रवेश करना चाहिए। पार्श्वस्थ से धारण तथा अधोनति से प्रवेश करते हुए दोनो अगुलियो के उत्क्षेपण से तथा इसके तानने मे और अविकारी मुख से उन्नावन करना चाहिए और पार्श्व मे नत मस्तकों मे प्रणाम करना चाहिए। फैलाये ऊपर अगुलि उठा कर निदर्शन करना चाहिये ? हुये मुख के आगे विविध वचनो का निदर्शन एवं अनामिका आदि अंगुलियो से सूचन-पुरस्सर मागलिक पदार्थों का समालम्भ किया जाता है। पराङ्मुख तथा शिर-प्रदेश मे मर्षण करते हुये इस हाथ से शिर-सन्निवेश दिखाना चाहिए। और यह सब अविकारी मुख से दिखाना चाहिए। दोनो तरफ से केश के निकटवर्ती दोनो हाथो से साफा और मुकुट आदि प्राप्त करता है। यह दिखाना चाहिए। और कान और नाक का बद करना दिखाना चाहिए। निकट-स्थित पाणि बनावटी भौवो से तथा ऊपर स्थित दो अगुलो वाले उस हाथ से दोनो अगुलियो से अधोमुख दिखाना चाहिए। इसी हाथ के चलायमान दोनो अंगुलियो से पटपदो को दिखाना चाहिए और कभी २ दोनो हाथो से छोटे २ पक्षियो को दिखाना चाहिए और पवन-प्रभृतियो को भी और अन्य पदार्थों को भी दिखाना चाहिए। चलती हुई अगुलियो वाले अधोनत दोनो हाथो से अथवा अधोमुख से आगे सर्पण करता हुआ स्रोत दिखाना चाहिए। ऊपर स्थित सूत्र-सदृशाकार दूसरे हाथ से गंगा का स्रोत दिखाना चाहिए। सम्मुख प्रसर्पण करते हुए चलायमान एक हाथ मे वह विकृतानन विचक्षण को सर्प का अभिनय करना चाहिए। कनीनिका-देश-सर्पी अधोमुख दूसरी दोनों अंगुलियों से उस विनतानन व्यक्ति का अश्रु प्रमार्जन दिखाना चाहिए। नीचे २ सर्पण करती हुई भाल-देश तक आती हुई भृकुटी को धीरे धीरें लचाकर तिलक की रचना करनी चाहिए और फिर उस अनामिका से रोचना-क्रिया करनी चाहिए। यह क्रिया भाल-प्रदेश पर विशेष रूप से विहित है। और उसी से अलकों का प्रदर्शन करना चाहिये तथा उत्तानित त्रिपताक-हस्त से हास करना चाहिए। मुख के आगे टेढी २ दो अंगुलियो क चालन से और वक्षःस्थल के अग्र-भाग से दो अगुलियों

के चलाने से मयूर, सारिका, काक और कोकिल को दिखाना चाहिए । इसी प्रकार मानों पूरे तीनों लोकों का अभिनय प्रदर्श्य है ॥४० ६२॥

कर्तरीमुख-हस्तः–त्रिपताक हस्त में जब मध्यम अंगुली की पृष्ठावलोकनी तर्जनी होती है तब यह कर्तरीमुख नाम से पुकारा जाता है । झुके हुए, नमे हुए पैर से सञ्चरण प्रदर्श्य है तथा अन्य भंगिया भी अधोमुख से इसी भगी से रगण करना चाहिए । मस्तक-वर्ती उन्नत भ्रू-प्रदेश-संयुत उप से शृंग दिखाना चाहिए । ऊंची उठी हुई तथा तनी हुई भौं दिखाये । पुन कुछ नीचे झुके हुए उससे अधःपतन अथवा जाते हुए मरण दिखाना चाहिए । शक्ति विक्षेपण-रहित हस्त से, पुनः कुछ कुञ्चितभ्रू से शिर को झुकाते हुए चलते हुए अन्य भंगिया प्रदर्श्य एव अभिनेय हैं ॥६३–६६½॥

अर्धचन्द्र-हस्त-मुद्राः–जिसकी अगुलिया अंगूठे के साथ धनुष के समान खिची हुई होती हैं उस हाथ को अर्धचन्द्र कहा गया है । अब उसके कर्म का वर्णन किया जाता है । भौं को ऊंचा कर के एक हाथ मे शशि-लेखा का प्रदर्शन करना चाहिए मध्यमा से उपन्यस्त उसी प्रकार निर्घाटन करना चाहिए । मोटे तथा छोटे पौधे, शंख, कलश कंकण इन सब को सयुत हस्त से दिखाना चाहिए । रशना, कुंडल आदि के तथा तलराग के तद्देशवर्ती उससे कमर और जाघो का भी अभिनय दिखाना चाहिए । इसी से अनुगता दृष्टि अन्य अभिनयो मे भी प्रदर्श्य है ॥६६½–७३॥

अराल-हस्त-मुद्राः–पहली अंगुली धनुप के समान विनत बनानी चाहिए और अगूठा कुंचित होना चाहिए और शेष अंगुलिया अराल नामक हस्त में भिन्न एवं ऊर्ध्ववलित अर्थात् उठी हुई बतायी गयी हैं । आगे से फैलाये हुए तथा कुछ ऊपर उठे हुए इस हस्त से सत्त्व (बल), शौडीर्य (शौर्य), गाभीर्य, धर्म और कान्ति दिखाना चाहिए । और भी जो दिव्य पदार्थ है उनको भी अविकृतानन भौंहों को उठाये हुए उस नर्तक की इसी भाति से दिखाना चाहिए एक हाथ से आशीर्वाद दिखाना चाहिए । स्त्रीकेश-ग्रहण जो होता है और *अपने सर्वांग कर निर्वलन जो किया जाता है तथा उत्कर्षण भी यह जो सब किया* जाता है वह सब भी उठी हुई भ्रू-प्रदर्शन पुरस्सर करना चाहिए और प्रदक्षिण-गत हाथों से उसे दिखाना चाहिए । विवाह और सम्प्रयोग तथा बहुत से कौतुक अगुलों के आगे समायोग से बनाई गई स्वस्तिका वाले परिमण्डल से प्रादक्षिण्य दिखाना चाहिए तथा इसी के द्वारा परिमण्डल–सम्मान, महाजन

ग्रोर इस पृथ्वी पर जो निर्मित द्रव्य हो उन सबको दिखाना चाहिए। दान, वारण (निषेध), आह्वान अर्थात् आवाहन (बुलाना), वचन अर्थात् उपदेशादि इस असयुत एवं चलित हस्त से दिखाना चाहिए। तथा इसी हाथ से पसीने को हटाना और सूघना चाहिए। नृत्य-कोविदो के द्वारा उस प्रदेश मे प्रवृत्त हस्त से स्त्रियो के विषय मे भी वही हाथ प्रायः प्रयोग मे लाया जाता है। इन सब कर्मों को यह अराल-नामक हस्त त्रिपाक के समान करता है। मुख-स्थित इस हस्त से अभिनय उचित नहीं, यः मुद्रा पूर्वोक्त प्रदर्श्य है ।।७४-८५३।।

शुक-तुण्ड-हस्त-मुद्राः—अराल-नामक हस्त की जब अनामिका अंगुली टेढी होती है तब उस हाथ को शुक-तुण्ड समझना चाहिए और उसके कर्म का वर्णन अब किया जाता है। 'तुम इस तिरछे हस्त से अपने को मत दिखाना'—यह निर्देश है। पुन पुनः प्रसारित एवं सामने झुकते हुए आवाहन, तिरछे प्रसारण, पुनः विसर्जन आदि व्यावृत्त हस्त-मुद्रा मे दिखाना चाहिये। इस हस्त से फिर दृष्टि एवं भ्रू भी अनुगत प्रदर्श्य है ।।८५३—८६।।

मुष्टि हस्त-मुद्रा—जिस हाथ के तल-मध्य मे अंगुलिया अग्र-संस्थित होती है और अगूठा उनके ऊपर होता है उसको मुष्टि-नामक हस्त कहते हैं। यह भृकुटि चढाये हुए मुखो सहित इस हस्त द्वारा प्रहार और व्यायाम कराना चाहिए और निर्गम मे तो पार्श्व मे स्थित दोनो हाथो से बनाया जाता है ।।९०-९१।।

शिखर-हस्त-मुद्राः—छड़ी तथा तलवार के ग्रहण मे, स्तन-पीडन मे, गात्र-मर्दन मे, असयुत मुद्रा मे इस हस्त को करना चाहिए; पुन. इसी हाथ की मुष्टि के ऊपर जब अगूठा प्रयुक्त होता है तब इस हाथ को प्रयोग करने वालो को शिखर नाम से समझना चाहिए। कुश, रश्मि अर्थात डोरी तथा धनुष के ग्रहण मे इसे वाम बनाना चाहिए। जहां तक श्रोणि अर्थात् नितम्ब-प्रदेश के ग्रहण का विषय है वह दोनों हस्तों को व्यस्ते तक करना चाहिये शक्ति, तोमर आदि आयुधो के मोचन मे तो दक्षिण हाथ का प्रयोग किया जाता है; पाद और ओठ के रजन मे चलितागुष्ठक होता है। वालो के समुत्क्षेपण मे उसी प्रदेश मे स्थित होता है तथा इसकी दृष्टि और दोनों भ्रुवों को अनुगत बनाना चाहिय ।। ९२—९६ ।।

कपित्थ-हस्त-मुद्रा :—इसी शिखर-नामक हस्त की जब प्रदेशिनी नामक अगुली दो अंगूठो से निपीडित होती है तब उस हस्त को कपित्थ नाम से पुकारा

जाता है । इसी हाथ से विद्वान को चाप, तोमर, चक्र, असि (तलवार), शक्ति, वज्र, गदा आदि इन सब शस्त्रो के चलाने का अभिनय करना चाहिए। इस प्रकार इन आयुधो के विक्षेपावसर दृष्टियो एवं भ्रू-चालनों का भी सयोग अपेक्षित है ॥९७ ९९॥

खटकामुख हस्त-मुद्रा :—कनिष्ठा अगुली के सहित इस कपित्थ की अनामिका अंगुली उच्छिन्न एव वक्रा होती है तब यह हाथ खटकामुख समझना चाहिए। इसी नत हस्त से होत्र, हव्य और अन्न बनाया जाता है। दोनो हाथों से छत्र-ग्रहण तथा छत्राकर्षण द्रष्टव्य है। एक से आदर्श (शीशा) पकडना और पंखा चलाना, दूसरे से अवक्षेपण करना, उत्क्षेपण करना, फिर खण्डन करना, घूमते हुए इससे परिवेषण करना तथा बड़े दण्ड को ग्रहण करना, वस्त्रालम्बन करना, कुस, केश-कलाप आदि के पकडने मे तथा माला आदि के सग्रह मे दृष्टि एवं भौं सहित इस हस्त को विचक्षण के द्वारा प्रयोग करना चाहिए। ॥१००-१०४॥

सूचीमुख-हस्त-मुद्रा :—सूचीमुख खटक-सज्ञक हस्त मे जब तर्जनी-नामक अंगुली फैला दी जाती है तब उस हस्त को सूचीमुख के नाम से प्रयोग-शास्त्रियों को समझना चाहिए। इसकी प्रदेशिनी नामक अगुली का ही प्रायः व्यापार होगा। वह हस्त सम्मुख से कम्पित, उद्वेलित, लोललद् एव वाहित विभ्रमो से प्रदर्श्य है। भ्रू-का अभिनय, चालन, एव जृम्भन भी अपेक्ष्य है। धूप, दीप, पुष्प, माल्य, पल्लव आदि पुष्प-मञ्जरी प्रभृति भी प्रदर्श्य हैं। इस मे टेढ़ा गमन भी अभिनेय है। बालसर्पों को भी यहा दिखाना आवश्यक है । पुनः छोटे मयूरो, मडल और नयनो (जो ऊपर से चचल हो रहे हो) उनकी तारकाओं को भी दिखाना चाहिये। तथा नासिका की दण्ड-यष्टियो को दिखाना चाहिए; मुखासक्त, आगे विनत इससे दाढ़ी दिखाना चाहिए और टेढे मडल वाली उससे सब लोक दिखाना चाहिए। लंबे और बड़े दिवस में इसे उन्नत करना चाहिए। अपराह्न-वेला में भी को भ्रुकुटी और मुख के निकट उसको कुंचित, विजृम्भित करना चाहिए। नृत्य के तत्व को जानने वालों के द्वारा वाक्यार्थ के निरूपण में इस प्रकार की उस अंगुली का प्रयोग करना चाहिए, जिससे हाथ फैला हुआ हो, अगुलिया कप रही हो, विशेष कर गुस्से मे पुनः हाथ को उठा कर फैला कर यह अभिनय प्रदर्श्य है। कुंतल, अंगद, गण्ड एवं कुण्डलो के रूपण में तर्द्देश-वर्तिनी, उस अगुली को बार बार चलाना चाहिए। पुनः उसे ललाट मे सवृन एव उद्वृत्त रूपा 'मुझे इस प्रकार अभिनय मे लाओ'—इस

प्रकार अभिनय में लाये, इस प्रकार की हस्त-मुद्रा से फिर उसको फैलाकर, उठाकर दिखाना चाहिये। और उत्त-बोध-प्रदर्शन इस अंगुली से 'कौन है'—इस मुद्रा से तिरछे निकलती हुई तथा कंपती हुई प्रदर्श्य है। पुन. कान खुजाने में, शब्द सुनने में भी यही मुद्रा विहित है। हाथ की दो अंगुलियों को सम्मुख संयुक्त करके वियोग में विघटित और लड़ाई में स्वस्तिका के आकार वाली करना चाहिए। परस्पर-निपीडन में भी इनको ऊपर उठाते हुए एवं ऊर्ध्वाग्र चलिता प्रदर्श्य हैं। पुनः शाप भी तथा दोनो भौवें को भी हस्तानुगत अभिनेय हैं ॥१०१-१२२१/२॥

पद्मकोशक-हस्त-मुद्रा:—जिसकी अंगुलियां अंगूठे के सहित विरली और कुंचित होती है और ऊपर उठी हुई और अग्रभाग संयत यदि वे होती हैं तो ऐसा हस्त पद्म-संज्ञक कहलाता है। और उन हाथ के द्वारा भोजन अथवा वलित्व का ग्रहण-रूपण करना चाहिए। बीजपूरक-प्रभृति प्रधान फलों का तथा अन्य फलों का भी उन उन फलों के समान रूप बनाकर उस हाथ के समान रूप बनाकर उन हाथ के द्वारा ऊर्ध्वगति से रूपण करना चाहिए। मुंह फैलाकर स्त्री का कुच (स्तन) निरूपण करना चाहिए और दृष्टि और भौं को इस हाथ के अनुगत बनाना चाहिए ।।१२२१/२-१२५॥

सर्पशिर-हस्त-मुद्रा:—जिस हाथ की सब अंगुलियां अंगूठे के सहित संहत अर्थात् सटी होती हैं और जिसके तलवे निम्न होते हैं, उस हाथ को सर्प-शिर-नाम से पुकारा जाता है। सींचने और पानी देने में उसे उत्तानित करना चाहिए। सर्प की गति में तो फिर उसे अधोमुख विचलित करना चाहिए और इस सर्पशिर-नामक हस्त से आस्फोटन-क्रिया कही गयी है। फिर भौं चढ़ाकर इस प्रकार से टेढ़ा सिर करके सम्मुख अधोमुख से हाथी का कुम्भ-स्फालन दिखाना चाहिए और भ्रू-सहित दृष्टि को हस्त की अनुयायिनी बनाना चाहिए ॥१२६-१२०१/२॥

मृगशीर्षक-हस्त-मुद्रा:—अधोमुख तीनों अंगुलियों की जब समागति होती है तथा कनिष्ठा और अंगुष्ठ जब ऊपर होते हैं तब यह मृगशीर्षक के नाम से पुकारा जाता है। "यहां पर इस समय यह है—आज यहां पर है"—इस प्रकार इसका प्रयोग करना चाहिए। हस्त के आलम्बन में, अक्ष-पातन में, और स्वेदापनयन में टेढ़ी मुद्रा से उस में तत्प्रदेश-स्थित अधोमुख करना चाहिए। पुन: उसको क्षोभ-मुद्रा प्रदर्श्य है। इसकी अनुयायिनी दृष्टि तथा दोनों भौवों को भी वैसा ही करना चाहिए ॥१२०१/२-१३३॥

कांगुल-हस्त-मुद्रा :—त्रेताग्नि-संस्थिता मध्यमा एवं तर्जनी के सहित अंगुष्ठ प्रदर्श्य है। कांगूल में अनामिका नामक अंगुली टेढ़ी और कनिष्ठा ऊपर की ओर उस को उत्तानित करके करकघू-प्रभृति प्रकृतियों को दिखाना चाहिए और तरुण जो फल हो तथा और कोई जो कुछ छोटी बड़ी वस्तु हो, अंगुली नचाकर स्त्रियों के रोष-वचनों का तथा मुक्ता, मरकत आदि रत्नों के प्रदर्शन का इसी हाथ से प्रदर्शन विहित है। इसी हस्तानुगत भौंहों का दृष्टि-पुरस्सर अभिनय पूर्ववत् अनिवार्य है ॥१३४-१३७½॥

अलपद्म-हस्त मुद्रा :—जिसकी अगुलिया हथेली पर आवर्तिनी होती हैं और पास में पार्श्वगिता विकीर्ण होती हैं, उस हाथ को अलपद्म प्रकीर्तित किया गया है। प्रतिशोधन में यह हाथ सम्मुख टेढ़ा रखना चाहिए। "तुम किस की हो"—नहीं है—इस वाक्य के शून्य उत्तर मे बुद्धिमान के द्वारा अपने उपन्यसन तथा स्त्रियों के सन्देश में यह मुद्रा अभिनेय है। पुनः दृष्टि एवं दोनों भौंहे उसी प्रकार इस हस्त-मुद्रा को अनुगत प्रदर्श्य हैं ॥१३७½-१४०½॥

चतुर-हस्त मुद्रा :—जहां पर तीन अंगुलियां फैली हुई हों और कनिष्ठा ऊंची उठी हो और उन चारों के मध्य में अंगुष्ठ बैठा हो, उसको चतुर बताया गया है। विनय मे और नम में यह हाथ अभिनय-शास्त्री के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। नैपुण्य में शिर को उन्नत कर पुनः सत्व अर्थात बल मे ऊंची भौं कर के पुनः नियम में इस चतुर हस्त को उत्तान बनाना चाहिये, किन्तु कुटिला भ्रू को विनय के प्रति ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए। अधोमुख उस हाथ से बाल दिखाना चाहिए और इस बाल-प्रदर्शन मे भृकुटी मे टेढ़ा शिर बनाना चाहिए। पुनः उत्तानित हस्त से बलपूर्वक आतुर नर को दिखाना चाहिए। तिरछे फैलाकर फिर उत्तानित कर बाहर अविकृतास्य-मुद्रा से सत्य में तथा अनुमिति मे भी यह प्रदर्श्य है। इसी प्रकार से युक्त पथ्य मे, दाम मे और यम मे इसी प्रकार से हाथ को प्रयुक्त करना चाहिए। दो से अथवा एक से थोड़ा मंडलावस्थित उससे विचार करता हुआ अभिनय करना चाहिए; और इसी प्रकार लज्जित तथा निर्लज्जित मुद्रा करना चाहिए और वहा पर भौहों को नीचे करके अविकृत (अविकार्य) मुख दिखाना चाहिए। फिर मण्डलावस्थित वक्षस्थल पुरतः स्थित अधोमुख से वहां भी अविकृत मुख तथा अभ्युन्नत दोनों भौंहें प्रदर्श्य है और शिर बायें से नत प्रदर्श्य है। दोनों आंखों से मृग-कर्ण-प्रदर्शन करना चाहिए। विचक्षणों के द्वारा तद्देवर्ति दोनों हाथों से भ्रू-सहित क्षेपण प्रदर्श्य है। पुनः उत्तान-मुख-हस्त उससे तदनन्तर पत्राकार-प्रदर्शन करना चाहिए। इस चतुर-

चतुरक हस्त में भौं को थोड़ा सा नचा कर नीला, रति, स्मृति बुद्धि, मूर्छा, संगत, अनघ, गौर, माधुर्य, नाद, अशम, पुष्टि, सचिव, शीत, चातुर्य, मार्दव सुख, प्रश्न-वार्ता, वेश और युक्ति तथा दाक्षिण्य सेवन में, विभव और अविभव तथा कुछ सुरत, छादन, मृदु, गुण, अगुण, घर स्त्री, नाना-विध आश्रय वाले वर्ण—ये सभी चीजें इस चतुर-हस्त से यथोचित अभिनय के योग्य हैं। कहीं पर प्रभाव कहीं पर मृदुला तथा जिन २ अर्थ को जैसे जैसे प्रतीति हो बुद्धिमानों को उसी उसी प्रकार पूर्वोक्त हस्त से लोक में अभिनय करना चाहिए। उसी के अनुसार भ्रू और दृष्टि भी अभिनेय हैं। अर्थात् इस मुद्रा में सब करना चाहिए। मण्डलस्थ हस्त से पीत और रक्त दिखाना चाहिए। कुछ नतभ्रू शिर से और परिमंडलित उससे काला नीला दिखाना चाहिए और स्वाभाविक रूप उस चतुर-हस्त से कपोतादि वर्णों को दिखाना चाहिए ॥ १४०-१५६ ॥

भ्रमर-हस्त-मुद्रा :—मध्यमा और अंगुष्ठ सन्देशाकृति में और प्रदेशिनी टेढ़ी और ऊपर दोनों अगुलिया जहां पर प्रकीर्ण हों उसको भ्रमर नामक कर कहा गया है। उस हाथ से कुमुद, उत्पल और पद्म का ग्रहण-अभिनय करना चाहिए। कर्ण-देश पर उस हाथ को रख कर बनाना चाहिए। और उनके अभिनय में दृष्टि को और भौं को हस्त का अनुगामी करना चाहिए ॥ १६०-१६२ ॥

हंसवक्त्र-हस्त-मुद्रा :— हंसवक्त्र नामक इस हाथ को दोनों अंगुलियों अर्थात् तर्जनी तथा मध्यमा और अंगूठा भी त्रेताग्नि में स्थित सा प्रदर्शन विहित है। शेष दोनों अंगुलियां फैली हुई अभिनेय हैं। कुछ स्पन्द करते हुए अंगूठे वाले इस हाथ मे दोनों भौंहों को उठा कर निस्सार, अल्प और सूक्ष्म तथा मृदुल और लघु दिखाना चाहिए और इसके अभिनय में दृष्टि और भौं को हस्त का अनुगामी दिखाना चाहिए ॥ १६३-१६४½ ॥

हंसपक्ष-हस्त-मुद्रा :—पहली तीनों अंगुलियाँ फैली हुई और कनिष्ठा ऊपर उठी हुई तथा अंगूठा जिसमें कुंचित हो उस हाथ को हंसपक्ष बताया गया है। उस हाथ को उत्तानित कर बाहर टेढ़ा कर निवापाञ्जलि दिखाना चाहिए। उसी के द्वारा गण्ड के रूप का गण्ड-वर्तन और भोजन में तथा प्रतिग्रह अर्थात् दक्षिणा आदि की स्वीकृति में इसे उत्तान करना चाहिए और उसी प्रकार ब्राह्मणों के आचमन आदि पुण्य कार्यों में इसे करना चाहिए। दोनों के अन्तरावकाश के नीचे इसे स्वस्तिक-योगी बनना चाहिए। कुछ शिर को नीचे करके पार्श्व में

ही दोनों हाथों से स्तम्भ-दर्शन अभिनेय है। बाएं हाथ को फैलाकर एक से रोमांच करना चाहिए। स्त्रियों अर्थात् प्रियाओं के संवाहन में और अनुलेपन में तथा स्पर्श में साथ ही साथ विषाद में और विभ्रम में भी स्तनान्तरस्थ-रसास्वाद-पुरस्सर तद्वशवर्ती बनाना चाहिए। और उसे हनुधारण में अधस्तल प्रयोग करना चाहिए। इस हाथ की दृष्टि को अनुयायिनी और भौहों को भी अनुगता बनाना चाहिए ॥१६५½-१७२½॥

सन्दंश-हस्त-मुद्रा :—जब अराल-हस्त की तर्जनी और अंगुष्ठ का सन्दंश-संज्ञक इस हस्त में भी विहित होता है और जब उसका तल-मध्य आभुग्न हो जाता है तब वह हस्त सन्दंश बताया गया है। वह अग्र, मुख तथा पार्श्व इन तीनों भेदों में तीन प्रकार का होता है और उसको पुष्पावचय तथा पुष्प-ग्रथन में प्रयुक्त करना चाहिए तथा तृणों तथा पत्रों के ग्रहण में और साथ साथ केश-सूत्र आदि परिग्रह में प्रयुक्त करना चाहिए। शिल्प के एक-देश के ग्रहण में तो अग्रदंशक को स्थिर करना चाहिए। आकर्षण में तथा खींचने में भी और वृन्त से पुष्प को उखाड़ने में और साथ ही साथ शलाकादि-निरूपण में भी ऐसा ही करना चाहिए। रोष में तथा धिक्कार के वाक्य में बाहर के भाग से प्रतर्पण करते हुए इस हस्त-मुद्रा का यह अभिनय विहित है। इसी प्रकार और अभिनय प्रदर्श्य हैं। गुण-सूत्र के ग्रहण को तथा बाण के लक्ष्य-निरूपण, ध्यान और योग हृदय-प्रदेश पर इस हस्त को रख कर दिखाना चाहिए और कुछ अभिनय में तो हृदय के सम्मुख संयुत करना चाहिए। निन्दा, असूया, कोमल और दोषयुक्त वचनों में विवर्तिताग्र वाम हस्त कुछ शिथिल सा संप्रदर्श्य है। प्रवाल की रचना में, वर्तिका के ग्रहण में, नेत्र-रंजन में और आलेख्य में तथा आलक्तक-पीडन में भी इसी हस्त का प्रयोग करना चाहिए। तदनन्तर इसकी भ्रू और दृष्टि अनुगत करना चाहिए ॥१७२½-१८२½॥

मुकुल-हस्त-मुद्रा।—जिस हस्त की हंस-मुख के समान हस्त-मुद्रा ऊर्ध्वा होती है और जिसकी अंगुलियां समागताग्रसंहिता होती हैं, उस हस्त को मुकुल के नाम से पुकारा जाता है। यहां पर मुकुलों तथा कमलों आदि में इसे संयत बनाना चाहिए। सामने फैलाकर उत्तालित यह हस्त विट-चुम्बक होता है ॥१८२½-१८४½॥

ऊर्णनाभ-हस्त-मुद्रा :—पद्मकोष-नामक हस्त की अंगुलियां जब कुंचित होती हैं तब उस हस्त को ऊर्णनाभ समझना चाहिए और चोरी और केशग्रह

में इसे प्रयुक्त किया जाता है। चोरी और वेश-गृह में इस हाथ को अधोमुख करना चाहिए। शिर को खुजलाने मे मस्तक के प्रदेश मे बार बार चलता हुआ इसे तिर्यक् बनाना चाहिए और कुष्ठ की व्याधि के निरूपण में इसे टेढा बनाना चाहिए।. . . सिंह और व्याघ्रादि के अभिनय मे इसे अधोमुख करना चाहिए तथा इसको भ्रुकुटि और मुख से सयुक्त बनाना चाहिए। यहां पर भी दृष्टि और भ्रू का कर्म पहले के समान ही बनाया जाता है ॥१८४½-१८८½॥

ताम्रचूड-हस्त मुद्रा :—मध्यमा और अंगुष्ठ सन्दंश के समान जहा पर हो और प्रदेशिनी वक्रा हो तो दोनों अंगुलिया तलस्थ कर्तव्य हैं। मृग, बगाल आदि के डराने में तथा वाल-संधारण मे इस हाथ को भर्त्सना मे भृकुटी-युक्त बनाना चाहिए। सिंह एवं व्याघ्र आदि के योग मे विच्युत हो कर शब्द करता है। दृष्टि एव भ्रू इस हस्त की सदैव अनुग विहित हैं। दूसरों के द्वारा इसकी दस ी सज्ञा भी दी गयी है ॥१८८½-१९१½॥

अभी तक असंयुत चौबीस हस्तो का वर्णन किया गया। अब तेरह संयुत हस्तो के नाम और लक्षण का वर्णन किया जाता है :—अंजलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, खटक, वर्धमान, उत्सग, निषध, डोल पुष्पपुट, मकर, गजदन्तक, अवहित्थ और दूसरा वर्धमान —ये संयुत-संज्ञक तेरह हाथ वर्णित किए गये हैं ॥१९१½-१९५½॥

अञ्जलि-हस्त-मुद्रा :—दो पताक हस्तो के संश्लेष से अञ्जलि-नामक हस्त स्मृत किया गया है। वहा पर विद्वान को कुछ विनत शिर करना चाहिए। निकटवर्ती मुख से गुरु को नमस्कार करना चाहिए और वक्षस्थल पर स्थित मित्रों का और स्त्रियों का यथेच्छ विहित है ॥१९५½-१९७½॥

कपोत-हस्त-मुद्रा :—दोनों हाथों से परस्पर पार्श्व-संग्रह से कपोत नाम का हस्त होता है इसके कर्म का वर्णन अब किया जाएगा। शिरोनमन से एवं वक्षःस्थल पर हाथ रख कर उसी से गुरु-सम्भाषण करना चाहिए तथा उसी से शीत और भय प्रदर्शन करना चाहिए। विनयाभ्युपगम मे भी यही विहित है। अंगुलि से संघृष्यमाण मुक्त पाणि से "यह नही करना चाहिए, ऐसा ही करना चाहिए"—आदि अभिनेय हैं ॥१९७½-२००॥

कर्कट-हस्त-मुद्रा :—जिस हस्त की अंगुलियां अन्योन्याभ्यन्तर निःसृत होती हैं, उस को कर्कट समझना चाहिए और उसके कर्म का अब वर्णन किया जाता है। शिर को उठाकर तथा भौहों को नचाकर कामातुरो का

जृम्भण (जमुहाई लेना) तथा अंग-मर्दन इसी से दिखाना चाहिए ॥२०१-२०२॥

स्वस्तिक-हस्त-मुद्रा :—मणिबन्धन में विन्यस्त अराल दोनों हस्तों को स्त्रियों के लिये प्रयोजित होने हैं तो उसे स्वस्तिक बताया गया है। चारो तरफ ऊपर प्रदर्श्य एवं विस्तीर्ण रूप में वनों, मेघों, गगन आदि प्राकृतिक दृश्य अभिनेय हैं ॥२०३½-२०४॥

खटकावर्धमान-हस्त-मुद्रा :—खटक मे खटक न्यस्त खटकावर्धमानक-संज्ञक यह हस्त बताया जाता है। श्रृंगार आदि रसो के अर्थ मे इसे प्रयोग करना चाहिए तथा उसी प्रकार इस का परावृत-प्रभेद भी विहित है ॥२०४½-२०५॥

उत्संग-हस्त-मुद्रा:-दोनों अराल हस्त विपर्यस्त और ऊंचे उठे हुए वर्धमानक जब हो तो स्पर्श में एवं ग्रहण मे इसकी संज्ञा उत्सङ्ग बताई गयी है। उत्संग नाम वाले ये दोनो हाथ होते हैं। अब उनका कर्म बताया जाता है। उन दोनो का विशेष प्रहरण अथवा हरण मे विनियोग करना चाहिए और इन दोनो हाथों को स्त्रियो की ईर्षा के योग्य बनाना चाहिए। दायें अथवा बाये हाथ को कूर्पर के मध्य मे न्यास करना चाहिए ॥२०६-२०८।

निषध हस्त-मुद्रा :-यह लक्षण गलित एवं लुप्त है।

दोल-हस्त-मुद्रा: जहा दोनो पताक हस्तो के अभिनय मे कंधे प्रशिथिल, मुक्त तथा प्रलम्बित दिखाई पड रहे हो, एसे करण मे दोल की सज्ञा हुई ॥२०९॥

पुष्पपुट-हस्त-मुद्रा:—जो सर्पशिर-नामक हस्त बताया गया है उसका अंगुल ससक्त हो तथा जो दूसरा हाथ पार्श्व-संश्लिष्ट हस्त होता तो यह हस्त होता है। इसके काम विभिन्न प्रदर्शन, जलपान आदि है ॥२१०-२११॥

मकर-हस्त-मुद्रा :— जब दोनो पताक-हस्त के अंगूठा उठाकर अधोमुख ऊपर ऊपर विन्यसित होते हैं तब उस हाथ को मकर अथवा मकरध्वज कहते हैं ॥२१२॥

गजदन्त-हस्त-मुद्रा :—कूर्पर मे दोनो हाथ जब सर्पशीर्षक मंथित होते है तब उस हाथ को गजदन्त के नाम से समझना चाहिए ॥२१३॥

अवहित्थ-हस्त-मुद्रा :—शुक की चोंच के समान दोनो हाथो को बनाकर वक्षःस्थल पर रख करके फिर धीरे धीरे मुक्ताविद्धाभिनय से उसको अवहित्थ कहा जाता है। इस हाथ से उत्कण्ठा-प्रभृति का अभिनय करना चाहिए ॥२१४-२१५½॥

वर्धमान-हस्त-मुद्रा :—दोनों हाथ हंस पक्ष की मुद्रा मे जब हो और वे

एक दूसरे के पराङ्मुख भी हो तो इस को वर्धमान के नाम से पुकारा जाता है ॥२१५॥

टि० (१) इस मूलाध्याय में आगे के दो श्लोक (२१६-२१७) प्रक्षिप्त प्रतीत होते है अत: अनुवादानपेक्ष्य।

टि० (२) चतुर्विंशति (२४) संयुत हस्त-मुद्राओं एवं त्रयोदश (१३) असंयुत हस्त-मुद्राओं के वर्णन के उपरान्त अब एकोनत्रिंशद (२६) नृत्य-हस्त-मुद्राओं का वर्णन किया जाता है। इन नृत्य-हस्तों मे इस मूल में केवल अट्ठाईस नृत्य-हस्त प्राप्त हो रहे हैं, उनसे दहुतों के लक्षण भ्रष्ट हैं, गलित भी है तथा अव्यवस्थित भी हैं, अतः मुनि की दिशा से अर्थात् नाट्य-शास्त्र-प्रणेता भरत-मुनि के नाट्य-शास्त्र की दिशा से यत्र-तत्र आवश्यक व्यवस्था का भी प्रयत्न किया गया है।

ये ही संयुत-असंयुत दोनों हस्त-मुद्रायें नृत्य-हस्त-मुद्राओं में भी प्रयोग में लाई जा सकती हैं। चेष्टा, अग—जैसे हस्त से, उसी प्रकार सात्विक विकार को बक्ष, ओष्ठ, नासिका, पार्श्व, ऊरु, पाद, आदि गतियों एवं आक्षेप-विक्षेपों से जिस प्रकार की अनुकृति अभिव्यक्त हो सकती है, उसी प्रतीति से इनका अनुकरण इन मुद्राओं मे विहित है ॥२१८-२१६॥

नृत्त-हस्त :—अब इन नृत्त-हस्तो का वर्णन किया जाता है। पहले इनकी निम्न तालिका प्रस्तुत की जाती है :—

(१) चतुरस्र	(१०) उत्तानवञ्चित	(२०) ऊर्ध्व-मंडली
(२) उद्वृत्त	(१२) पल्लव-हस्त'	(२२) पार्श्व-मंडली
(३) स्वस्तिक	(१३) केश-बन्ध	(२२) उरो-मंडली
(४) विप्रकीर्णक	(१४) लता-कर	(२३) उर: पार्श्वार्धमंडल
(५) पद्म-कोश	(१५) करि-हस्त	(२४) मुष्टिक-स्वस्तिक
(६) अराल-खटकामुख	(१६) पक्ष-वंचित	(२५) नलिनी-पद्मकोषक
(७) आविद्ध-वक्त्र	(१७) पक्ष-प्रद्योतक	(२६) हस्तावलपल्लव-कोत्वण
(८) सूची-मुख	(१८) गरुड़-पक्षक	(२७) ललित
(९) रेचित	(१९) दड-पक्ष	(२८) वलित
(१०) अर्ध-रेचित।		

टि० :—सकेत २६ नृत-हस्तो का है परन्तु प्रदर्शित क्रम मे केवल २८ ही संख्या मिलती है ॥२२०-२२७॥

चतुरश्र :- जब वक्षःस्थल के सामने अष्टांगुल-प्रदेश में स्थित, सम्मुख-खटकामुख, पुनः समान कूर्पराग्र—ऐसी मुद्रा प्रतीत हो रही हो तो नृत्य-हस्त-विशारदों के द्वारा इस नृत्य-हस्त की संज्ञा चतुरश्र दी गई है ॥२२८-२२९½॥

टि० ।—यहा पर इस मूल में उद्वृत्त एव स्वस्तिक इन दोनो नृत्य-हस्त-मुद्राओं का लक्षण गलित है।

विप्रकीर्ण :—हंस-पक्ष की आस्या वाले दोनो हस्त जब व्यावृति एवं परिवर्तन से स्वस्तिक-आकृति में लाए जाते हैं, पुनः मणि-बन्धन में च्यावित अर्थात् हटा दिए जाते हैं, तो इस मुद्रा को नृत्याभिनय-कोविदों ने विप्रकीर्ण की संज्ञा दी है ॥२२९½—२३०॥

पद्मकोश :—वे ही दोनों हंस-पक्ष-हस्त जैसे विप्रकीर्ण उसी प्रकार इसमें व्यावर्तन-क्रिया का आश्रय लेकर, अल-पल्लवता की आकृति में परिवर्तित कर इन दोनों हस्तों को जब ऊर्ध्व-मुख किया जाता है तो इस की संज्ञा पद्मकोशक बनती है ॥२३१—२३२½॥

अराल-खटकामुख :—विवर्तन एवं परावर्तन इन दोनो प्रक्रियाओं में दक्षिण को अराल और वाम को खटकामुख में स्थित कर जब यह मुद्रा बनती है तो इसको अराल-खटकामुख-नृत्य-हस्त कहते है ॥२३२½-२३३॥

आविद्धवक्त्रक :—भुजाएं, कंधे और कूर्परों के साथ जब बाए और दाएं ये दोनों हाथ कुटिलावर्तन-क्रिया में अधोमुख-तल, आविद्ध, उद्धत एव विनत इन क्रियाओं से जो मुद्रा प्रतीत होती है वहा इस मुद्रा की आविद्ध-वक्त्रक-नृत्य-हस्त-मुद्रा-संज्ञा होती है। इसकी विशेषता यह भी है कि इस मुद्रा में गदा-वेष्टन-योग भी विहित है ॥२३४—२३५॥

सूची-मुख :—जब सर्प-शिर की मुद्रा में तलस्थ अंगुष्ठक वाले दोनों हाथ तिरछे स्थित हो कर और आगे प्रसारित करें जो आकृति प्रतीत होती है, उसमें इस नृत्य-हस्त की संज्ञा सूची-मुख से कीर्तित की गई है ॥२३६॥

रेचित :—मणिबंधन से विच्युति प्रदान कर सूचीमुख की ही आकृति इनको पहले देकर पुनः बाद में व्यावृत्ति और परिवृत्ति से हंसपक्ष की मुद्रा में लाकर कमल-वर्तिता करनी चाहिए, पुनः इनको द्रुत-भ्रम की गति में लाकर दोनों बगलों में धीरे धीरे रेचित करना चाहिए, तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा को विशारदों ने रेचित कहा है ॥२३७-२३९½॥

अर्द्धरेचित :—पूर्व-व्यावर्तित-क्रिया का आश्रय लेकर बाहु-वर्तना से चतुरश्र और परिवृत्ति इन दोनो मुद्राओं से जब दक्षिण हाथ चतुरश्र की मुद्रा

मे आ जाता है। पुनः वामा हाथ रेचित मुद्रा मे आ जाता है। तो विद्वानों ने इसे अर्द्धरेचित की संज्ञा दी है ॥२३९½-२४१½॥

उत्तान-वञ्चित —दोनो हाथो को चतुरस्र के समान व्यावृत्ति एवं परिवृत्ति से वर्तित कर पुन कूर्पर एवं अंस मे अंचित कर जब इस प्रक्रिया में ये दोनों हाथ त्रिपताकाकृति प्रतीत होने लगते हैं और कुछ ये दोनों हाथ त्र्यस्रस्थिति (तिकोनी) में आश्रित होते हैं तो इनकी संज्ञा उत्तानव ञ्चितनृत्य -हस्त हो जाती है ॥२४१½-२४२½॥

पल्लव-हस्त : इस मुद्रा मे या तो बाहु-वर्तन अथवा शीर्ष एवं बाहु दोनो के वर्तन से, इस क्रिया से अभ्यर्णागत दोनों हाथ जब पताका के समान निर्दिष्ट हो जाते हैं तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा की पल्लव-संज्ञा कही गयी है॥२४३½-२४४½॥

केश-बन्ध :—मस्तक पर दोनो हाथ जब उद्वेष्टित-वर्तना-गति एव सरणि मे सिर के दोनो बगलो पर जब पल्लव-संस्थानाकृति में दोनों हाथ दिखाई पड़ते हैं। तो इस नृत्य-हस्त की संज्ञा केश-बन्ध दी गई है ॥२४४½-२४५½॥

लता-हस्त :—... ... . ? जब ये दोनों हाथ अभिमुख निविष्ट हो जाते हैं तथा दोनों बगलो पर पल्लव-हस्त की आकृति मे दिखाई पड़ते हैं तो इस नृत्य-हस्त की मुद्रा की संज्ञा लता-हस्त दी गई है ॥२४५½-२४६½॥

करि-हस्त —इस करि-हस्त की विशेषता यह है कि व्यवर्तन से दक्षिण हस्त लता-हस्त के समान तथा वाम हस्त उन्नत विलोलित होकर त्रिपताक-हस्त की आकृति मे परिणत हो जाते हैं तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा की संज्ञा करि-हस्त दी गई है ॥२४६½-२४७½॥

पक्ष-वंचितक :—उद्वेष्टित वर्तना से जब दोनो हाथ त्रिपताक के समान अभिमुख घटित हो जाते हैं पुनः करि-हस्त सन्निविष्ट भी प्रतीत होने लगते हैं तो इस नृत्य-हस्त की संज्ञा पक्ष-वञ्चितक दी गई है ॥२४७½-२४८½॥

पक्ष-प्रद्योतक :—जब ये दोनो हाथ त्रिपताक हाथो के समान कटिशीर्ष सन्निविष्टाग्र दिखाई पड़ते हैं; पुनः विवर्तन एवं परावर्तन से यह पक्ष-प्रद्योतक मुद्रा बन जाती है ॥२४८½-२४९½॥

गरुड-पक्षक : -अधोमुख-तलाविद्ध ये दोनो हस्त प्रदर्श्य हैं, पुनः न ोन हस्त-मुद्राओ को त्रिपताकाकार-वैशिष्ट्य विहित है ॥२४९॥

दण्ड-पक्षक :—व्यावृत्ति एव परावर्तन मुद्रा से दोनो हाथों को फैलाकर दिखाना चाहिए ॥२५०॥

ऊर्ध्व-मण्डलिन :— इस नृत्य-मुद्रा में हाथों का ऊर्ध्वदेश-विवर्तन मे दर्शनीय होता है ॥२५१½॥

पार्श्वमण्डलिन :—इसकी विशेषता यथानाम पार्श्व-विन्यास विहित है। २५१॥

ऊरोमण्डलिन :—दोनों हाथो मे से एक तो उद्वेष्टित तथा दूसरा अपवेष्टित प्रदर्श्य है, पुनः वक्षःस्थल-स्थान से उन्हे भ्रमित प्रदर्श्य है ॥२५२॥

टि० यथा-निर्दिष्ट शेष नृत्य-हस्त-मुद्राओं — उरःपार्श्वार्धमण्डलिन, मुष्टिक-स्वस्तिक, नलिनी-पद्मकोषक, हस्तावलपल्लव-कोल्बण, ललित तथा वलित—इन छहो के लक्षण गलित हैं।

इति शुभम्

अनुवाद खण्ड

समाप्त

शब्दानुक्रमणी

अ

: अ :

: त :

टि० शेषांश पृ० ४ पर देखें।